प्रकाशक की ओर से

'जवाहरकिरणावली' का प्रकाशन इस युग के एक महान् ज्योतिर्धर, युगद्रष्टा, जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज की मौजूदगी मे ही आरम्भ कर दिया गया था। उस समय यह कल्पना भी नहीं की गई थी कि यह प्रकाशन इतना विशाल स्वरूप ग्रहण कर लेगा। मगर आरम्भ की तीन किरणें प्रकाशित होते ही समाज ने उन्हें प्रेम और श्रद्धा के साथ ग्रहण किया। पाठको ने और पूज्यश्री के भक्तो ने हमारे प्रयास की मुक्तकण्ठ से सराहना की। यह सब देखकर हमारा उत्साह बढ़ता चला गया। जब हमने समाज से सहयोग की माँग की तो वह भी मिला। हमारे अनेक मित्रो ने अनेक प्रकार से सहयोग दिया, जिसमें आर्थिक सहयोग भी सम्मिलित है और नैतिक सहयोग भी। इससे प्रेरणा पाकर हम प्रकाशन-कार्य में बराबर अग्रसर होते चले गये और यह लिखते हुए हमे हर्ष है कि कागज आदि सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ होने पर भी पिछले आठ वर्षों मे ही हम यह पच्चीसवी किरण प्रकाशित करने मे समर्थ हो सके हैं। इसके बाद की २६ वी और २७ वीं किरण प्रेस मे हैं और २८ वीं किरण सम्पादित होकर करीब-करीब तैयार है। इसका प्रकाशन भी शीघ्र ही हो जायगा। २६ वी और २७ वीं किरण उदाहरण-माला के द्वितीय एवं तृतीय भाग के रूप मे होगी और २८ वीं किरण महिला-समाज के लिए होगी। महिला वर्ग के सम्बन्ध

में पूज्य श्री ने समय-समय पर जो विचार प्रकट किये थे, उनका संकलन करके यह किरण तैयार की गई है, जो महिलाओं के जीवन विकास में बहुत ज्यादा सहायक होगी ।

पिछली किसी किरण की प्रस्तावना में मैंने ५१ किरणें प्रकाशित करने का अपना मनोरथ व्यक्त किया था। पूज्यश्री का व्याख्यान साहित्य इतना विशाल है कि ५१ बहुमूल्य और उपयोगी किरणें उसमें से सम्पादित होकर सहज ही प्रकाशित की जा सकती हैं। इसी प्रकार सहयोग मिलता रहा तो आशा है निकट भविष्य में ही अपना मनोरथ पूर्ण कर सकेंगे और स्वर्गीय पूज्य श्री के गुरुतर उपकार भार से कुछ हल्के हो सकेंगे।

उदाहरणमाला के तीनों भाग समाज के अग्रगण्य श्रीमान् सेठ इन्द्रचन्द्रजी साहब गेलड़ा की पुण्यश्लोका मातेश्वरी श्रीमती गणेशबाई की स्मृति में उनके द्वारा प्रदान की हुई रकम से प्रकाशित हो रहे हैं। श्री जवाहर विद्यापीठ के विशिष्ट उत्सव पर आपने ११११११) रु प्रदान किये थे, जिसमें ६०१०) रु० साहित्य प्रकाशन के निमित्त थे और ५१०१) रु० जवाहर स्मृति भवन के लिए। उस मूल रकम को कायम रखते हुए उससे नया-नया साहित्य प्रकाशित करने की हमारी नीति है जिससे कि इस रकम से अधिक से अधिक कार्य किया जा सके। इसी नीति के परिणाम स्वरूप पुस्तक का लागत मात्र मूल्य निर्धारित किया गया है।

श्रीमान् गेलड़ाजी अपने समाज के प्रसिद्ध दानी, साहित्य प्रेमी, शिक्षाप्रेमी और धर्मनिष्ठ महानुभाव हैं। मूल निवासी कुचेरा (मारवाड़) के हैं, परन्तु मद्रास में आपका व्यवसाय है

और प्रायः वहीं आप रहते हैं। दानशीलता का गुण आपको पितृ-परम्परा से प्राप्त हुआ है। आपके पिताजी श्री अमोलकचन्दजी सा० मद्रास के प्रसिद्ध व्यापारी थे। आपने मारवाड़ी औषधालय, कन्याशाला, गौशाला और छात्रालय तथा पाठशालाओं को हजारों की सहायता दी थी। आप मुख्य रूप से गुप्त दान ही दिया करते थे। ऐसे दानी सज्जन के उत्तराधिकारी सेठ इन्द्रचन्द्रजी साहब ने भी अब तक लाखों का दान दिया है। अपने पूज्य पिता श्री की स्मृति में ५५०००) रु० एक मुश्त दान देकर आपने मद्रास में हाई-स्कूल की नींव डाली। फिर छात्रालय आदि बनवाने के लिए भी हजारों की रकमें देते रहे हैं और समय-समय पर मद्रास की तथा बाहर की संस्थाओं को यथोचित दान देते ही रहते हैं। आपकी ही उदारता के फलस्वरूप कुचेरा में जिनेश्वर औषधालय चल रहा है, जहाँ रोगियों की भक्त सेवा की जाती है।

गेलड़ाजी का व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक है। उनका सौम्य मुख-मण्डल उनके हृदय की पावन सात्त्विकता का प्रतीक है। वे अजातशत्रु हैं। उनकी वाणी में अनूठा माधुर्य है और प्रकृति में अहिंसा एवं प्रेम की उज्ज्वलता है। पूज्यश्री के साहित्य के प्रति आपका प्रेम आदर्श है। श्रीहितेच्छु-श्रावक मण्डल रतलाम ने आपकी आर्थिक सहायता से ही श्रीभगवतीसूत्र के व्याख्यान प्रकाशित किये हैं। उदाहरणमाला के तीन भाग भी आपकी ही उदारता से प्रकाशित हो रहे हैं।

गेलड़ाजी का बृहत्-परिवार जिस प्रकार समाज-सेवा और शासन-प्रभावना में योग दे रहा है, वह वास्तव में समाज

के लिए आदर्श है। आपके ज्येष्ठ भ्राता सेठ हाराचन्दजी साहब तो समाज के स्तम्भों में से एक हैं। मद्रास में शिक्षा का जैन केन्द्र स्थापित करने में उन्होंने धन के साथ साथ तन और मन से जो परिश्रम किया है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। आजकल आप निवृत्तिमय धार्मिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं और आपके सुपुत्र श्रीभागचन्दजी समाज सेवा में योग दे रहे हैं।

अन्त में हमारी हार्दिक कामना है कि गेलडा परिवार अपनी सेवाओं से समाज को समृद्ध बनाता रहे।

पूर्ण विश्वास है कि पूज्य श्री के प्रवचनों में से संकलित किये हुए यह उदाहरण पाठकों के जीवन को उन्नत बनाने में समर्थ होंगे और प्रेमी पाठक इनका उचित आदर करेंगे।

निवेदक —
चम्पालाल बाठिया
मन्त्री—
श्री जवाहर साहित्य समिति

भी ना स र
आषाढ शुक्ला ८ सं २००८
(पूज्य श्री की निर्वाण तिथि)

मदीयम्

स्व० जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज, तत्कालीन युवाचार्य और वर्त्तमान आचार्य सदयहृदय पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज और पं० र० मुनि श्री श्रीमलजी महाराज उस समय भीनासर मे विराजमान थे। इन पंक्तियों के लेखक को पूज्य श्री के जीवनचरित-लेखन के सिलसिले मे लगभग एक मास तक भीनासर ठहरना पडा। उन दिनो आचार्यश्री, युवाचार्यश्री और मुनिश्री के समक्ष अकसर फाइलों मे पड़े पूज्यश्री के महत्त्वपूर्ण भावमय और क्रान्तिकारी प्रवचनो के उद्धार की चर्चा चलती रहती थी। समाज के उत्साहमूर्त्ति सेठ चम्पालालजी बांठिया इस चर्चा मे प्राण फूँक दिया करते और एक समर्थ श्रीमत की इतनी दिलचस्पी देख आशा होने लगती थी कि साहित्यिक योजना अवश्य मूर्त्त रूप धारण कर सकेगी। उन्हीं दिनो 'श्री जवाहरकिरणावली' का नाम–संस्कार किया गया और कार्य आरम्भ कर दिया गया।

पूज्यश्री के प्रवचनों मे, बीच-बीच मे आने वाले विविध उदाहरण महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है। पूज्यश्री प्रतिपाद्य विषय को उदाहरणो के द्वारा सजीव और सप्राण बना दिया करते थे। उदाहरणो का उपसंहार ऐसे सुन्दर ढग से किया करते थे कि उसका असर सीधा हृदय पर हुए बिना नहीं रहता था।

के लिए आदर्श है। आपके ज्येष्ठ भ्राता सेठ ताराचन्दजी साहब तो समाज के स्तम्भों में से एक हैं। मद्रास में शिक्षा का जैन केन्द्र स्थापित करने में उन्होंने धन के साथ साथ तन और मन से जो परिश्रम किया है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता! आजकल आप निवृत्तिमय धार्मिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं और आपके सुपुत्र श्रीभागचन्दजी समाज सेवा में योग दे रहे हैं।

अन्त में हमारी हार्दिक कामना है कि गेलड़ा परिवार अपनी सेवाओं से समाज को समृद्ध बनाता रहे।

पूर्ण विश्वास है कि पूज्य श्री के प्रवचनों में से संकलित किये हुए यह उदाहरण पाठकों के जीवन को उन्नत बनाने में समर्थ होंगे और प्रेमी पाठक इनका उचित आदर करेंगे।

	निवेदक —
भी ना स र	चम्पालाल बांठिया
आषाढ शुक्ला ८ सं २००८	मंत्री—
(पूज्य श्री की निर्वाण तिथि)	श्री जवाहर साहित्य समिति

अप्रकाशित साहित्य में, जो मेरे पास मौजूद नहीं है, बहुत से संग्रह करने योग्य उदाहरण मौजूद होंगे। अवसर मिला तो किसी समय उनको भी संकलित और प्रकाशित करने की भावना है।

श्री जवाहिर साहित्य में इन उदाहरणों का अपना एक अनूठा स्थान है। पूज्यश्री के गरिष्ठ-गम्भीर विचारों को जो पूरी तरह पचा नहीं सकते, ऐसे पाठको के लिए यह संग्रह बड़ा ही उपयोगी होगा। बालको मे स्वभाव से ही कथा-कहानी पढ़ने का शौक होता है। वे चाहे जैसी रद्दी-सद्दी कहानियों को भी बड़े चाव से पढ़ते है और कभी कभी उस पठन से बालको का भयंकर अहित होता है। अगर बालको के हाथ मे यह पुस्तकें दी जाएँगी तो वे हानिकारक कहानियो से बचेगे और अपने जीवन को संस्कारमय बना सकेंगे। इस प्रकार यह तीन किरणें साधारण योग्यता के पाठको और विशेषतः बालकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगी।

उदाहरणों का सम्पादन करते समय हमने यह ध्यान रक्खा है कि प्रत्येक उदाहरण से मिलने वाली शिक्षा का भी उसके साथ समावेश अवश्य हो जाय।

पहले पकाशित उदाहरणो को, जो बहुत विस्तृत थे, हमने संक्षिप्त कर दिया है, फिर भी कोई-कोई उदाहरण जिसमे संक्षेप की गुंजाइश न थी, कुछ विस्तृत रह गया है। किन्तु वह अरुचिकर नहीं होगा, ऐसी आशा है।

जवाहर-साहित्य के प्रकाशन मे बाँठियाजी का सहयोग बहुमूल्य है। उनका सहयोग न होता तो यह अनमोल साहित्य

भीनासर में पूज्यश्री के प्रवचनों की फाइलें सरसरी निगाह से देखते ही मेरे मन पर उदाहरणों की गहरी छाप लग गई। तभी यह भी निश्चय कर लिया गया कि इन उदाहरणों का संकलन और प्रकाशन हो जाना चाहिए। पर यह सोच कर कि एक बार सिलसिलेवार साहित्य के प्रकाशित हो जाने पर उदाहरणों का संकलन करना सुलभ हो जायगा, उस समय उस विचार को छोड़ दिया गया। अब उस विचार को कार्यान्वित करने का अवसर मिला है।

उदाहरणमाला तीन भागों में प्रकाशित हो रही है। यद्यपि सभी उदाहरण अपने आप में परिपूर्ण हैं। उनमें आपस में कोई सिलसिला नहीं है। अतएव उनके वर्गीकरण की कोई खास आवश्यकता नहीं थी, फिर भी पौराणिक, ऐतिहासिक और लौकिक उदाहरणों के रूप में तीन भागों में उनका वर्गीकरण करने की चेष्टा की गई है। पौराणिक भाग बहुत बड़ा हो जाने के भय से दूसरे ऐतिहासिक खंड में भी कुछ पौराणिक उदाहरण दिये गये हैं। खयाल है, यह वर्गीकरण पाठकों को रुचिकर और सुविधाजनक होगा।

भीनासर, रतलाम और राजकोट आदि से हिन्दी एवं गुजराती भाषा में प्रकाशित समग्र साहित्य में से यह उदाहरण संकलित किये गये हैं। साथ ही अब तक प्रकाश में न आये हुए भी बहुत से उदाहरण इस संकलन में समाविष्ट किये गये हैं। पं० मुनि श्री श्रीमलजी महाराज द्वारा करवाये हुए 'जवाहर-दृष्टान्तमाला' नामक एक हस्त लिखित संग्रह से भी मुझे काफी सहायता मिली है। हमने उदाहरणों को संग्रहीत करने में भर-सक प्रयत्न किया है, फिर भी मेरा विश्वास है कि अब भी

विषयानुक्रमणिका

क्रम	विषय			पृष्ठ
१	सेवामूर्ति मुनि नन्दिषेण	....	....	१—६
२	क्षमामूर्ति खधक मुनि	....	....	७—१५
३	विरल-विभूति	...	....	१६—३०
	(अ) श्री एवन्ताकुमार			
	(ब) श्री ध्रुवकुमार			३१—३६
४	विषधर-वशीकरण	....	....	३७—४४
५	कर्मदाह	.	....	४५—५२
६	अर्थ और अनर्थ	..	....	५३—५४
७	सम्राट् अनाथ	..	....	५५—६५
८	श्री प्रसन्नचन्द्र राजर्षि	....	..	६६—७१
९	माली अर्जुन	.	..	७२—८३
१०	तृष्णा	..	....	८४—८९
११	महारानी चेलना	...	....	९०—९४
१२	हृदय की स्वच्छता	.	....	९५—९६
१३	चर्चा	....	....	९७—९९
१४	भ० शान्तिनाथ	....	.	१००—११५
१५	चेडा-कोणिक युद्ध	....	....	११६—१२५
१६	इन्द्रिय—विजय	....	....	१२६—१३०
१७	भ० महावीर और सकडालपुत्र	..	....	१३१—१३४
१८	उत्तम क्षमा	....	.	१३५—१३७

फाइलों में ही दबा पड़ा रहता और कौन जानता है कि किस समय वह दीमक आदि का आहार बन जाता ? प्रस्तुत तीन किरणें उन्हीं के समधी श्री गेलड़ाजी के सहयोग से प्रकाशित हो रही है । समधी समधी मिलकर दुनियादारी के तो बहुत से काम किया करते हैं, मगर शासन प्रभावना और साहित्य-सेवा करने वाली समधियों की यह जुगल जोड़ी शायद पहली ही है । सचमुच आप दोनों ने सम धी (समान विचार, समान भावना वाले) शब्द को सार्थक बना दिया है ।

पाठक यह जानकर प्रसन्न होंगे कि बालकों के लिए जवाहर साहित्य की इस भेंट के पश्चात् शीघ्र ही नारी समाज को भी जवाहिर साहित्य की भेंट प्रदान की जा रही है ।

उदाहरणों का संग्रह करने में प० मुनिश्री नेमिचन्द्रजी म० से मुझे मूल्यवान् सहयोग मिला है । मैं उनका आभारी हूँ ।

श्री जैन गुरुकुल,
ब्यावर
१-७-५१

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

४५	नम्रता	.	..	२६२-२६४
४६	एकावधान	..	..	२६५-२६८
४७	विराट शक्ति	.	...	२०६-३१०
४८	गुरु-शिष्य	....	....	३११-३१३
४६	वशीकरण	..	....	३१४-३१७
५०	एक ही पत्नी	....	..	३१८-३१६
५१	दुर्योधन-अर्जुन	....	....	३२०-३२२
५२	सत्यवादी-युधिष्ठिर	....	....	३२३-३२८
५३	पाप का लेश	....	....	३२६-३३४
५४	अभिमानी योद्धा	....	....	३३५-३४१
५५	प्रायश्चित्त	....	....	३४२-३४६
५६	धीरज	....	....	३४७-३५६

१९	काला-महाकाली	११८-१५१
२०	नयन दान	१५२-१५४
२१	अहो सुखम्!	१५५-१५८
२२	अर्धाङ्गिनी विवाह सम्बन्ध	१५९-१६३
२३	स्वर्ग की चाह	१६४-१६८
२४	जैसी मति वैसी गति	१६९-१७३
२५	सत्य की महिमा	१७४-१८२
२६	सत्यवादी का प्रभाव	१८३-१९२
२७	पुरुषार्थ	१९३-१९९
२८	सच्चा मित्र	२००-२११
२९	यज्ञ	२१२-२१८
३०	श्रद्धा	२१९-२२१
३१	दृष्टि भेद	२२२-२२४
३२	अर्हन्नक की धर्मवीरता	२२५-२२६
३३	परमात्मा की विभूता	२२७-२३२
३४	भील-कन्या	२३३-२४९
३५	आत्म-बल	२५०-२५५
३६	शूकरी-इन्द्राणी	२५६-२५८
३७	मम्मन सेठ	२५९-२६४
३८	पूणिया श्रावक	२६५-२६६
३९	राजा जनक	२६७-२६९
४०	भरत और सुनार	२७०-२७४
४१	दिशा पूजन	२७५-२८०
४२	ज्ञान और क्रिया	२८१-२८४
४३	मर्त्यलोक और स्वर्गलोक	२८५-२८७
४४	मीठी बोली	२८८-२९१

उदाहरणमाला

सेवामूर्ति मुनि नन्दिषेण

[शास्त्र में जब मुनियों के लिए भी सेवा करने का विधान किया गया है तब तुम्हें कितना अधिक सेवाकार्य करना चाहिए, इस बात का विचार तुम स्वयं ही कर सकते हो। कितनेक लोगों को सामायिक-पौषध आदि धार्मिक क्रिया करने का तो खूब चाव होता है, परन्तु सेवाकार्य करने में अरुचि होती है। और अगर किसी रोगी की सेवा करने का अवसर आ जाता है तो उन्हें

बड़ी कठिनाई मालूम होती है। रोगी कपड़े में ही वै दस्त कर देता है और कभी कभी रास्ते में ही चक्कर खाकर गिर पड़ता है। ऐसे रोगी की सेवा करना कितना कठिन है ! फिर भी जो सेवा-भावी लोग रोगी की सेवा को परमात्मा की सेवा मान कर करते हैं, उनकी भावना कितनी ऊँची होगी ?

वास्तव में यह अखिल संसार सेवा के कारण ही टिक रहा है। जब संसार में सेवाभावना की कमी हो जाती है तभी उत्पात मचने लगता है। और जब सेवाभाव की वृद्धि होती है तब यह संसार स्वर्ग के समान बन जाता है। अतएव सेवाकार्य करने में तनिक भी उपेक्षा नहीं करना चाहिए और न छल कपट ही करना चाहिए। जो मनुष्य माता पिता अथवा अन्य किसी भी मनुष्य की सेवा करने में छल कपट करता हुआ भी अपने को सेवाभावी कहलवाता है वह वास्तव में सेवाभावी नहीं वरन ढोंगी है। सच्चा सेवक तो वही है जो सेवा करने में झूठ कपट का आश्रय नहीं लेता और सेवाकार्य के प्रति घृणाभाव भी प्रदर्शित नहीं करता। जहाँ घृणा है वहाँ सच्ची सेवा नहीं हो सकती।

मुनि के लिए किस सीमा तक सेवा करने का विधान किया गया है यह बताने के लिए एक जैन उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न करता हूँ —]

नंदिषेण नामक एक मुनि बहुत ही सेवाभावी थे। उनकी सेवा की प्रशंसा इन्द्रलोक तक जा पहुँची। इन्द्र ने देवसभा में नंदिषेण मुनि की सेवा की प्रशंसा करते हुए कहा—

राजकुमार होने पर भी नंदिसेन मुनि ऐसी सेवा करते हैं कि उन जैसी सेवा करना दूसरों के लिए बड़ा कठिन है।

इन्द्र के यह प्रशंसात्मक वचन सुनकर एक देव ने विचार किया– इन्द्र महाराज देवो के सामने एक मनुष्य की इतनी प्रशंसा क्यो करते है ? अच्छा, उस सेवाभावी मुनि की परीक्षा क्यो न की जाय ? आखिर नदिषेण मुनि मनुष्य है। मनुष्य की नाक मे दुर्गन्ध जाती है; अतएव दुर्गन्ध द्वारा उन्हे घबरा देना स्वाभाविक और सरल है। इस प्रकार विचार करके उस देव ने नंदिसेन मुनि की परीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

वह देव साधु का स्वांग बना कर जहाँ नंदिसेन मुनि ठहरे थे, वहाँ पास के एक जंगल मे जाकर पड़ा रहा। उस देव ने अपने शरीर को ऐसा रुग्ण बना लिया कि शरीर के छिद्रो मे से रक्त और मवाद बहने लगा। उस रक्त और पीव मे से असह्य दुर्गन्ध निकल रही थी। इस प्रकार रोगी साधु का भेष धारण करके उस देव ने नन्दिसेन मुनि के पास समाचार भेजा कि पास के जंगल मे एक साधु बहुत बीमार हालत मे पड़े है। उनकी सेवा करने वाला कोई नही है, अत: उन्हे बहुत अधिक कष्ट हो रहा है।

नदिसेन मुनि को जैसे ही यह समाचार मिले कि वे तुरन्त उन रोगी साधु की सेवा करने के लिए चल पड़े। मुनि मन ही मन विचारने लगे—'मेरा सौभाग्य है कि मुझे साधु-सेवा का ऐसा सुअवसर हाथ आया है।'

इस प्रकार विचार कर नंदिसेन मुनि रोगी साधु की सेवा करने के लिए जंगल मे पहुँचे। मुनि उस कपटी वेषधारी रोगी साधु की ओर ज्यो-ज्यो आगे जाने लगे त्यो-त्यो उन्हे अधिका-धिक दुर्गन्ध आने लगी। परन्तु नंदिषेण मुनि उस असह्य दुर्गन्ध से न घबरा कर रोगी साधु के समीप पहुँच गये। नदिषेण मुनि

को आते देख कर वह साधुवेषधारी देव क्रुद्ध होकर कहने लगा—'तुम क्यों इतनी देरी करके आये ? मुझे कितना कष्ट हो रहा है, इसका तुम्हें खयाल ही नहीं है ? सेवाभावी कहलाते हो और सेवा करने के समय इतना विलम्ब करते हो !' साधुरूपधारी देव इस प्रकार कह कर नंदिसेन को उपालभ देने लगा।

यद्यपि देव ने अपना शरीर घृणोत्पादक बनाया था और उसके शरीर से दुस्सह दुर्गन्ध फूट रही थी, फिर भी नंदिसेन मुनि दुर्गन्ध से न घबरा कर उसकी सेवा करने के लिए उसके पास गये। मगर पास पहुँचते ही वह देव नाराज होकर उपालभ देने लगा। उपालभ सुनकर नंदिसेन मुनि तनिक भी नाराज न हुए। उल्टे विलम्ब के लिए क्षमायाचना करने लगे। उन्होंने सेवा करने की आज्ञा देने की भी माँग की।

नंदिसेन की बात सुनकर देव ने कहा—देखते नहीं, मेरा शरीर कितना कृश दुर्बल और अस्वस्थ बन गया है। शरीर की सेवा करने के सिवाय और क्या आज्ञा तुम चाहते हो।

मुनि ने विचार किया—अगर मैं नगर में दवा लेने जाऊँगा तो बहुत देरी लगेगी। ऐसा विचार कर उन्होंने देव से कहा—अगर आप नगर मे चलें तो ?

देव—मेरे पैरों में चलने की शक्ति होती तो तुम्हारी सहायता की आवश्यकता ही क्या थी ?

मुनि—मेरे पैर भी तो आपके ही हैं। आप मेरे कंधे पर बैठ जाइए। मैं उठाकर नगर तक ले चलूंगा।

देव—मेरे हाथो मे भी तो शक्ति नही है। तुम्हारे कंधे पर चढ़ूं तो कैसे चढ़ूं ?

मुनि—तो क्या हानि है ? मै खुद ही अपने कंधे पर बिठला लूंगा।

सच्चा सेवक अपनी शक्ति को दूसरो की ही शक्ति मानता है और अपना तन मन पर की सेवा के लिए समर्पित कर देता है। सेवा का यह आदेश अगर जनसमाज के हृदय मे अंकित हो जाय तो यह समार स्वर्ग बन जाय।

नदिसेन मुनि ने उस देव को अपने कंधे पर चढ़ा लिया। देव ने नदिसेन मुनि को सेवा की प्रतिज्ञा से विचलित करने के लिए अपने शरीर मे से रक्त और पीव की धारा बहाई मगर नदिसेन मुनि अपनी सेवाभावना को स्थिर और दृढ़ करते हुए देव के दुर्गन्धमय शरीर को उठाकर नगर मे ले गये। देव के शरीर से निकलती दुर्गन्ध के कारण तथा देव की प्रेरणा से प्रेरित होकर नगरजन मुनि से कहने लगे–'आप ऐसे रोगी मनुष्य को नगर मे नही ले जा सकते। एक रोगी के पीछे अनेको को रोगी नही बनाना चाहिए।'

नागरिक जनो का विरोध देखकर मुनि की स्थिति कितनी बेढंगी हो गई होगी ? ऐसी विषम स्थिति मे मुनि के मन मे अनेक प्रकार के तर्क वितर्कों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु उन्होने खोटा तर्क वितर्क नही किया। वे समभावपूर्वक नागरिक लोगो की बात सुनते रहे। मुनि ने मन ही मन विचार किया–'मै नगरजनो को भी दुखी नही कर सकता और इस रोगी साधु की

सेवा का भी परित्याग नहीं कर सकता। हे प्रभो! ऐसी विकट स्थिति में क्या करूँ?'

नन्दिसेन मुनि इस प्रकार विचार कर रहे थे। इतने में साधु वेषधारी देव ने भी विचार किया-'ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी इन मुनि के हृदय में सेवा के प्रति उतना ही दृढ विश्वास है। वास्तव में इन मुनि की सेवाभावना अत्यन्त उच्च कोटि की है। इन्द्र महाराज ने इनकी सेवाभावना की जितनी प्रशसा की थी, वास्तव मे मुनि का सेवाभाव वैसी ही प्रशसा का पात्र है।' इस प्रकार विचार करके साधु वेषधारी देव, साधुवेष का त्याग करके अपने स्वाभाविक रूप में नीचे उतरा और मुनि के पैरों पर गिरकर कहने लगा-हे मुनिपुंगव! आपकी सेवाभावना की जैसी प्रशसा इन्द्र महाराज ने की थी, आप वैसे ही सेवा-मूर्ति हैं। आपने सेवा द्वारा देवों को भी जीत लिया है। सेवा करने वाला देवों को भी जीत लेता है। शास्त्र में भी कहा है —

देवा वि तं नमंसति जस्स धम्मे सया मणो।

अर्थात्—जिनका मन धर्म मे सदा अनुरक्त रहता है, उन्हें देवता भी नमस्कार करते हैं।

वैयावृत्य करने वाले व्यक्ति के आगे देव भी नतमस्तक हो जाते हैं तो साधारण लोग अगर सेवाभावी को नमस्कार करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? सेवाभावी व्यक्ति को मन मे किसी प्रकार का छल-कपट नहीं रखना चाहिए। जिनके मन मे विकार भाव नहीं होता, देव भी उनकी सेवा करते हैं। अतएव मन को पवित्र रक्खो।

क्षमामूर्ति खंधक मुनि

[क्रोध, मान, माया तथा लोभ—यह चार कषाय भवचक्र मे भ्रमण कराते हैं। अगर हम भवचक्र मे भ्रमण नहीं करना चाहते और आत्मा को शान्ति देना चाहते हैं तो क्षमा आदि साधनों द्वारा क्रोध आदि कषायो को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्षमा द्वारा क्रोध किस प्रकार जीता जा सकता है, यह बात युधिष्ठिर के जीवन से समझी जा सकती है। युधिष्ठिर की भांति 'कोपं मा कुरु' इस धर्मशिक्षा को तुम अपने हृदय में उतार कर सक्रिय रूप दोगे तो तुम भी धर्मात्मा बनकर आत्म-कल्याण साध सकोगे।

क्रोध आदि को जीतने का मार्ग तो बतलाया परन्तु क्रोध आदि के उत्पन्न होने पर किस प्रकार सहनशीलता और क्षमा धारण करना चाहिए, वह बात खधक मुनि के उदाहरण द्वारा समझाता हूं। सहनशीलता सीखने के लिए खंधक मुनि की सहन-

शीलता अपने लिये आदर्श है। इस आदर्श का अनुसरण करने म ही अपना कल्याण है।]

खंधक मुनि गृहस्थावस्था म राजकुमार थे। व राजकाज करने म निपुण थे। उनके राज्यसचालन से प्रजा सतुष्ट और सुखी थी। एक बार उ हें किसी विद्वान मुनि का उपदेश सुनने का अवसर मिल गया। मुनिवर के उपदेश का प्रभाव उनक जीवन पर पडा। उन्होंने विचार किया—मैं अपनी धीरता और वीरता का उपयोग केवल दूसरा क ही लिये करता हूँ। यह योग्य नहीं है। मुझे अपन इन गुणों का उपयोग अपनी आत्मा के लिय भी करना चाहिए। इस प्रकार विचार कर उन्होंने अपने माता पिता से अनुरोध किया—'मैं आत्मा का श्रेयस् करना चाहता हूँ, अतएव ऐसा करने की आज्ञा दीजिए।' माता पिता न कहा—'पुत्र! तू आत्मा का श्रेयस् करना चाहता है यह अच्छी बात है। प्रसन्नतापूर्वक ऐसा कर।' खधकजी बोल—'ससार म रहकर आत्मश्रेयस साधना मुझे कठिन प्रतीत होता है, अतएव मैं ससार का त्याग करके आत्म कल्याण करने की इच्छा करता हूँ।' पुत्र का यह कथन सुनकर उनके माता पिता दुखित होकर कहने लगे—'बेटा! ससार का त्याग थोडे ही हो सकता है।' खधकजी बोले—'ऐसा है तो आप यह कहिए कि आत्मकल्याण न साध। अथवा यह कहिए कि ससार का त्याग करके आत्मकल्याण नहीं किया जा सकता।' खधकजी का यह कथन सुनकर माता पिता उनका निश्चय और सदाशय समझ गए और उन्होंने ससार त्याग करके आत्मकल्याण करने की आज्ञा दे दी। साथ ही यह कहा—'बेटा! तू क्षत्रियपुत्र है। अतएव सिंह की भाँति ससार का त्याग करना और सिंह की भाँति ही सयम का पालन करना।' खधकजी ने माता पिता की शिक्षा

शिरोधार्य करते हुए कहा—आपका कथन समुचित है। मै आपके आदेशानुसार संयम-पालन मे सिंहवृत्ति धारण करने का अभ्यास करूँगा और प्राणपन से संयम का पालन करूँगा।

खंधकजी ने उत्साह और वैराग्य के साथ संयम स्वीकार किया। पिता ने विचार किया—'खंधक ने आज तक किसी प्रकार का कष्ट सहन नहीं किया है। अतएव मुझे ऐसी व्यवस्था कर देनी चाहिए कि उसे किसी प्रकार का उपद्रव न सतावे।' इस प्रकार विचार करके पिता ने पुत्रमोह से प्रेरित होकर पाँच सौ सैनिकों की व्यवस्था कर दी। ऐसा प्रबन्ध किया गया कि खंधकजी को इस बात का पता न लगे मगर उनकी बराबर रक्षा होती रहे। सैनिक गुप्त रूप से खंधक मुनि के साथ रहने लगे। खंधक मुनि को इन रक्षक सैनिको का पता नहीं था। वह तो यही मानते थे कि मेरी रक्षा करने वाला मेरा आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं है। इस प्रकार खंधक मुनि तपश्चरण करके आत्मकल्याण करने लगे और आत्मा को भावित करते हुए ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

विहार करते-करते वे अपनी संसारावस्था की बहिन के राज्य मे पधारे। उनके पीछे गुप्त रूप से चले आने वाले सैनिक विचारने लगे-अब खंधकजी अपनी बहिन के राज्य मे आ पहुँचे हैं। अब किसी प्रकार के उपद्रव की संभावना नहीं है। इस प्रकार निश्चिन्त होकर सैनिक अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे कार्यों मे लग गए। इधर खंधक मुनि आत्मा और शरीर का भेद विज्ञान हो जाने के कारण तपश्चरण द्वारा शरीर को सुखा कर आत्मा को बलवान् बनाने मे लगे हैं।

एक बार खंधक मुनि भिक्षाचरी करने के लिए राजमहल के पास से निकले। उस समय राजा और रानी राजमहल की अटारी

पर बैठकर नगर निरीक्षण करने के साथ ही साथ मनोविनोद कर रहे थे। रानी की दृष्टि अकस्मात मुनि के ऊपर पड़ गई। मुनि को देखते ही रानी विचारने लगी—मेरा भाई भी इन्हीं मुनि की तरह भ्रमण करता होगा। इस तरह विचारमग्न होने के कारण रानी क्षण भर के लिए मनोविनोद और वाणीविलास को भूल गई। राजा ने देखा—साधु को देखकर मुझे भूल गई है और दूसरे ही विचारों में डूब गई है। यह साधु शरीर से तो कृश है पर ललाट इसका तेजस्वी है। इस मुंडित साधु के प्रति रानी का प्रेमभाव तो नहीं होगा? इस विषय में दूसरों की सलाह लेना भी अनुचित है। अतएव किसी और से पूछने की अपेक्षा इस साधु को समाप्त कर देना ही ठीक है। इस प्रकार विचार कर राजा ने नौकर (चाण्डाल) को बुलाकर आज्ञा दी—उस साधु को वधभूमि पर ले जाओ और मार कर उसकी खाल उतार लाओ।

राजा की यह कठोर आज्ञा सुनकर चाण्डाल काँप उठा। वह मन ही मन विचार करने लगा—आज मुझे कितना जघन्य काम सौंपा गया है! मैं चाकर हूँ अतएव यह काम किये विना छुटकारा नहीं। अगर मैं राजा की आज्ञा का उल्लंघन करता हूँ तो मैं उनका कोप भाजन बनूँगा और शायद मुझे प्राणदण्ड दिया जायगा। इस प्रकार विचार कर वह स्कंधक मुनि के पास आया और उन्हें पकड़ने लगा। मुनि ने पूछा—मुझे किस कारण पकड़ा जा रहा है? चांडाल ने कहा—'राजा ने पकड़ने की आज्ञा दी है। अतएव चुपचाप मेरे पीछे चले आओ।' मुनि ने पूछा—'चलना कहाँ है?'

चांडाल—श्मशानभूमि में।

मुनि—किसलिए?

चांडाल—राजा की आज्ञा के अनुसार वहाँ तुम्हारा वध किया जायगा और तुम्हारे शरीर की खाल उतारी जायगी।

यह हृदयविदारक वचन सुनकर मुनि को आघात पहुँचना स्वाभाविक है। परन्तु खंधक मुनि को शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान था। अतएव वह विचारने लगे—यह शरीर नश्वर है। किसी न किसी दिन जीर्ण-शीर्ण हो जायगा। ऐसी स्थिति मे अगर आज ही यह नष्ट होता है तो इसमें मुझे दुःख मानने की क्या आवश्यकता है? मेरा आत्मा तो अजर-अमर है। उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। इस प्रकार विचार करके और धैर्य धारण करके खंधक मुनि चुपचाप नौकर के पीछे-पीछे चलने लगे। जब दोनो वधस्थल पर पहुँचे तो मुनि ने चाण्डाल से कहा—भाई! मेरे शरीर मे रक्त नहीं है, इस कारण चमड़ी हाड़ो के साथ चिपट गई है। तो खाल उधेड़ने के लिए कोई साधन साथ मे लाए हो या नहीं? अगर कोई साधन नही लाये हो तो तुम्हे बहुत कष्ट होगा।' मुनि का यह मार्मिक कथन सुनकर वह लज्जित हो गया। वह मन मे विचार करने लगा—'कितना पापी हूँ मै! मुझे अपने इन पापी हाथो से एक महात्मा के शरीर की खाल उतारनी पड़ेगी।' वह नम्र भाव से मुनि से कहने लगा—आप महात्मा है। आपके हृदय मे मुझ जैसे पापात्मा के प्रति भी करुणा है। परन्तु इस समय मै निरुपाय हूँ। मुझे अनिच्छा से और दुखित मन से भी आपके वध का पाप करना पड़ेगा।

वधस्थल पर ले जाकर चांडाल ने दुःखी हृदय से मुनि का वध किया और उनके शरीर की खाल उतार ली। परन्तु वह शान्त-मूर्ति मुनिराज परमात्मा के ध्यान से तनिक भी विचलित नहीं हुए।

शरीरनाश के समय उन्होंने अपनी आत्मा का परमात्मा के साथ ऐसा अनुसंधान किया कि परमात्मा का ध्यान करते हुए उन्हें मृत्यु का दुःख मालूम ही नहीं हुआ। मुनि के मन में किसी के प्रति न क्रोधभाव उत्पन्न हुआ और न वैरभाव ही उत्पन्न हुआ। उस समय खंधक मुनि क्षमा की साक्षात् मूर्ति बन गये। क्षमाशीलता का इससे ऊँचा आदर्श और क्या हो सकता है? क्षमाशील रहना तो साधु का धर्म है। समर्थ साधु ही ऐसा वधपरीषह सह सकते हैं। क्षमाशील साधु कैसे होते हैं, इस संबंध में शास्त्र में कहा है —

> हओ न संजले भिक्खू मणं पि न पओसए।
> तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खू धम्मं समायरे ॥

अर्थात्—कोई प्राणों का हरण करे तो भी भिक्षु उस पर क्रोध न करे, यहाँ तक कि मन में भी द्वेष न लावे। बल्कि तितिक्षा (सहनशीलता क्षमा) को उत्तम गुण समझकर क्षमाशील साधु क्षमाधर्म का ही पालन करे।

खंधक मुनि ने दस प्रकार के साधु धर्मों में प्रथम और प्रधान क्षमाधर्म को सर्वोत्कृष्ट समझकर प्राण अर्पण कर दिये और जगत् के समक्ष क्षमा का अनूठा आदर्श उपस्थित करने के साथ अपने जीवन को धन्य बना लिया। खंधक मुनि ने प्राण त्याग करते समय ऐसी उच्च भावना भाई थी कि —

> चाहत जीव सबै जग जीवन, देह समान नहीं कछु प्यारो।
> खंधकवत मुनीश्वर को, उपसर्ग हुए तन नाशन हारो ॥
> तो चितवे हम आतमराम, अखंड अबाधित ज्ञान भंडारो।
> देह विनाशिक सो हम तो नहीं, शुद्ध चिदानन्द रूप हमारो ॥

खंधक मुनि ने इस प्रकार की उच्च भावना भाते हुए केवल-ज्ञान प्राप्त किया। जिस उद्देश्य के लिए उन्होने संसार त्याग किया था, वह आत्म-श्रेय-साधन का उद्देश्य सिद्ध करके मोक्ष प्राप्त किया। इस प्रकार खंधक मुनि सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त हो गए।

वह नौकर, जिसने मुनि का वध किया था, मुनि की खाल लेकर राजा के सामने उपस्थित हुआ। राजा ने मुनि की खाल उतार लाने की आज्ञा तो अवश्य दी थी, परन्तु जब मुनि के शरीर की खाल उसकी दृष्टि के सामने आई तो उसे देखकर वह एक बार काँप उठा। कहने लगा—हाय ! मैंने यह कैसा कुकृत्य किया कि एक महात्मा के शरीर की खाल उतरवा ली ! नौकर ने महात्मा की धीरता, वीरता और क्षमा की सब बात कही। नौकर की बाते सुनकर राजा पश्चात्ताप करने लगा। उसे इतना संताप हुआ कि आँखो मे आँसुओ की धारा बहने लगी। जब रानी को विदित हुआ कि किसी मनुष्य की खाल उतरवाई गई है और रानी ने उसे आकर प्रत्यक्ष देखा तो वह भी रुदन करने लगी।

इसी बीच एक चील राजा के महल पर उड़ती-उड़ती आई। उसने रक्त से रंजित मुनि की मुखवस्त्रिका या दूसरा कोई वस्त्र उठा लिया था। मगर उस चीज में उसे कोई स्वाद नहीं आया। अतएव उसने वह वस्त्र राजा के महल पर ही छोड़ दिया और वह उड़ गई। खून से लथपथ वह वस्त्र रानी को नजर आ गया। रानी ने उसी समय वह वस्त्र मँगवा कर देखा तो जान पड़ा कि यह वस्त्र किसी मुनि का मालूम होता है। रानी, राजा के पास गई और कहने लगी—महाराज ! आपके राज्य मे किसी मुनि का घात हुआ है। यह वस्त्र उन्हीं मुनि का मालूम होता है। रानी ने यह भी कहा—उन मुनि ने ऐसा क्या अपराध किया था कि आपने

प्राणदण्ड दिया ? रानी के प्रश्न के उत्तर म राजा ने अथ
तं तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा का कथन सुनकर
के दु ख का पार न रहा।

रानी ने कहा—मुनि को प्राणदण्ड देने से पहले जाँच तो
लेते कि मैंने मुनि की ओर किसलिए देखा ! आपने यह
य करके घोर अनर्थ किया है। मुनि को देखकर मेरे मन में
र आया कि मेरा भाई भी इन मुनि की तरह ही घर घर
ा के लिए भटकता होगा ! आपने मेरी दृष्टि में विकार देखा,
वास्तव मे मेरी दृष्टि में अथवा मुनि की दृष्टि मे किसी
र का विकार नहीं था।

राजा ने खोज कराई तो मालूम हुआ कि वह मुनि रानी
ारावस्था के भाई ही थे। यह जानकर राजा को भी बहुत
त्ताप हुआ।

रानी ने कहा—अब पश्चात्ताप करने से मुनि फिर जीवित
के नहीं। अतएव, पश्चात्ताप करना छोड़ो और इन मुनि के
ं का अनुसरण करो। इसीमें अपना कल्याण है। आखिर
ा-रानी दोनों ने सयममार्ग ग्रहण करके आत्मकल्याण किया।

कहने का आशय यह है कि मुनि के मन म जो क्षमा
ी है, उसका प्रभाव दूसरे पर भी पडता है। राजा कितना
ोरहृदय था कि मुनि का किसी प्रकार का अपराध न होने पर
उसने मुनि क शरीर की चमड़ी उधेड़ लेने की आज्ञा दे दी।
न्तु मुनि की अनुपम क्षमा का वृत्तान्त सुनकर उस कठोरहृदय
ा का हृदय भी परिवर्तित हो गया। इस प्रकार खधक मुनि ने

क्षमा का आदर्श उपस्थित करके स्व-पर-कल्याण साधन किया। इस प्रकार की क्षमा धारण करने वाले ही वास्तव में महान् हैं। क्षमा इस लोक का भी बल है और परलोक का भी बल है। संसार मे उन्हीं पुरुषो का जीवन धन्य बन जाता है, जो स्वयं क्षमाशील बन कर दूसरों को भी क्षमाशील बनाते हैं।

तुम क्षमाशील बनकर आत्मा का कल्याण साधो। इसीमें तुम्हारा कल्याण है।

विरल-विभूति

श्री एवन्ताकुमार

(१)

गौतम स्वामी नीची नजर किये हुए गज गति से भिक्षा क लिए पधारे। जिनके सामने सर्वार्थसिद्ध विमान के अहमिन्द्र देव भी तुच्छ हैं, ऐसे सुन्दर गौतम स्वामी भिक्षा के लिये उसी ओर से निकले, जहाँ एवन्ताकुमार बालकों के साथ खेल रहे थे। वे खेल के स्थल के समीप होकर निकले। गौतम स्वामी पर एवन्ता कुमार की दृष्टि पडी। एवन्ताकुमार उन्हे देख कर सोचने लगा— इनका रूप कितना सुन्दर है! इनमें कैसी ज्योति देदीप्यमान हो रही है! मुख पर कितनी उज्ज्वलता है! मुख इतना सौम्य है कि मानो अमृत टपकता है। ऐसे तेजस्वी पुरुष को किस चीज की कमी है?

इस प्रकार सोच विचार के पश्चात् एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी से ही उनके घर घर फिरने का कारण पूछना उचित समझा।

खेल छोड़ना बालकों को बड़ा अप्रिय मालूम होता है, फिर भी एवन्ताकुमार गौतम स्वामी की ओर इतना अधिक आकृष्ट हुआ कि उसने खेलना छोड़ दिया। खेल छोड़ने में गौतम स्वामी की महिमा कारण है या एवन्ताकुमार की महिमा कारण है, यह कौन जाने ? लेकिन एवन्ताकुमार ने खेलना छोड़ दिया।

गौतम स्वामी की अद्भुत तेजस्विता देख कर साधारण आदमी को कुछ पूछने में भी झिझक होती, मगर एवन्ताकुमार क्षत्रियपुत्र था। वह अपने मन में उठी हुई जिज्ञासा का निवारण करने के लिए किसी से भयभीत होने वाला नहीं था। और गौतम स्वामी में कैसा आकर्षण था कि उन्होंने एवन्ताकुमार को अपनी ओर उसी तरह खींच लिया, जिस तरह चुम्बक लोहे को खींच लेता है। बच्चे के लिए खेल उतना आकर्षक है जितना कृपण के लिए मूल्यवान् खजाना भी शायद न हो। मगर गौतम स्वामी के आकर्षण से एवन्ताकुमार खिंच आये। वे अपने साथियों को खेलता छोड़कर गौतम स्वामी के पास आये और उनसे कहने लगे—भगवन् ! आप कौन हैं ? और किस प्रयोजन से इधर-उधर फिर रहे हैं ?

एवन्ताकुमार का यह भावपूर्ण आर्द्र प्रश्न सुनकर गौतम स्वामी ने न मालूम किस दृष्टि से उसे देखा होगा !

एवन्ताकुमार के प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी कहने लगे—हम श्रमण निर्ग्रन्थ है। सचित्त, क्रीत, औद्देशिक और सदोष आहार नहीं लेते, और हमें भिक्षा की आवश्यकता है, इसलिए हम भिक्षा की तलाश में घर-घर जाते है।

एवन्ताकुमार बोले—जिनका तेज इतना उग्र है, जिनके तेज के आगे देवों का भी तेज फीका पड़ जाता है, उन्हें भिक्षा माँगनी पड़ती है और वह भी घर घर से ! चलो भगवन् ! मेरे घर चलो। मैं तुम्हें भिक्षा दूंगा।

इतना कह कर और उत्तर की प्रतीक्षा न करके एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी की उंगली पकड़ ली।

गौतम स्वामी को एवन्ताकुमार से अपनी उंगली छुड़ा लेनी चाहिए थी या नहीं ? उंगली न छुड़ाने पर कदाचित् श्रावक निन्दा करने लगते कि यह भी साधु की कोई रीति है ? मगर वहाँ कौन किसके लिये एतराज करता ? एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी की उंगली क्या पकड़ी मानो कल्पवृक्ष में फल लग गया था। एवन्ताकुमार की वीरता, धीरता और होनहारता देखकर गौतम स्वामी भी उनसे उंगली न छुड़ा सके। कहावत है —

होनहार बिरवान के होत चीकने पात।

उस होनहार बालक से गौतम स्वामी अपना हाथ न छुड़ा सके। गौतम स्वामी की उंगली पकड़ एवन्ताकुमार उन्हें भिक्षा देने के लिए घर पर अपने घर ले गये। गौतम स्वामी बालक की भावुकता पर मुग्ध हो गये और उसकी अवज्ञा न कर सके। वे बालक के साथ ही साथ खिंचे चले गये।

उधर श्रीदेवी एवन्ताकुमार की प्रतीक्षा में थी। सोच रही थी-वह कहाँ चला गया और अब तक भोजन करने भी नहीं आया। इसी समय गौतम स्वामी की उंगली पकड़े एवन्ताकुमार आता दिखाई दिया। श्रीदेवी को अतिशय प्रसन्नता हुई।

एवन्ताकुमार की माँ कहने लगी—लाल! मैं तेरी राह देख रही थी कि तू आवे और भोजन करे। लेकिन तू पुण्य की निधि है, जो खेल छोड़कर इस जहाज को ले आया। नहीं तो यह जहाज कहाँ नसीब होता है!

गौतम स्वामी को देख कर श्रीदेवी को कितना हर्ष हुआ होगा, यह बताना बृहस्पति के लिए भी शायद सम्भव नहीं है। जब बृहस्पति की जिह्वा भी यह नहीं बता सकती, तो मैं क्या कह सकता हूँ?

श्रीदेवी ने एवन्ताकुमार से कहा—बेटा! यह जहाज यहाँ कब आता? कौन जानता था कि यह भव-सागर का जहाज आज इधर आ जायगा? तेरी ही बदौलत आज इस लोकोत्तर जहाज का आगमन हुआ है।

माता की यह बातें सुनकर एवन्ताकुमार को इतनी अधिक प्रसन्नता हो रही थी, मानो किसी सेनापति ने किसी दुर्भेद्य दुर्ग को जीत लिया हो। माता की प्रसन्नता देख कर उसे अपने कार्य का गौरव मालूम हुआ। बालक को उस समय अत्यन्त प्रसन्नता होती है, जब माँ उसके किसी कार्य से प्रसन्न होती है।

एवन्ताकुमार ने गौतम स्वामी के तीन बार प्रदक्षिणा देकर उनसे प्रार्थना की—भगवन्! यह आहार-पानी निर्दोष है, इसे ग्रहण कीजिए। वैसे तो वह राजा का घर था, परन्तु गौतम स्वामी को जितने आहार-पानी की आवश्यकता थी, उतना उन्होंने ले लिया। आहार-पानी ग्रहण करने के पश्चात् जब गौतम स्वामी लौटने लगे, तो एवन्ताकुमार ने उनसे पूछा—'प्रभो! आप कहाँ रहते हैं?'

गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—'हे बालक, मैं भगवान् महावीर स्वामी का शिष्य हूँ और उन्हीं के पास रहता हूँ। भगवान् इस समय नगर के बाहर बगीचे म ठहरे हैं।'

गौतम स्वामी ने यह नहीं कहा कि मैं बाग म ठहरा हूँ। उन्होंने अपने को भगवान् के पास रहने वाला प्रकट किया। इस प्रकार वे प्रत्येक कार्य मे अपने गुरु को ही प्रधानता देते थे। गुरु को कभी भूलते नहीं थे। वास्तव म अपने गुरु को भूल जाने वाला शिष्य अभागा है।

गौतम स्वामी का उत्तर सुनकर एवन्ताकुमार उनसे कहने लगे—मैं जिन्हे देखकर आश्चर्य करता हूँ, वह भी शिष्य हैं! उनके भी गुरु हैं! शिष्य ऐसे हैं तो गुरु न जाने कैसे होंगे? भगवन्! मैं आपके साथ चल कर भगवान् महावीर के दर्शन करना चाहता हूँ।'

एवन्ताकुमार की भावना म और उसके उत्साह मे इतना बल था कि न तो गौतम स्वामी ही उसे मना कर सके, न उसकी माता श्रीदेवी को ही ऐसा करने का साहस हुआ। बल्कि श्रीदेवी को यह विचार कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि बालक को गौतम स्वामी इतने प्रिय लगे।

> लारे लारे चाल्यो बालक मेट्यो भाग सुभाग।
> भगवन्ता री वाणी सुनने मन आयो वैराग॥ रे एवन्ता०॥

एवन्ताकुमार गौतम स्वामी के साथ साथ भगवान् महावीर के पास आये। भगवान् को देखकर एवन्ताकुमार के हर्ष का

पार न रहा। जैसे बहुत दिनों के प्यासे चातक को वर्षा की बूँद मिलने से आनन्द होता है, बहुत दिनों से बिछुड़ी माता को पाकर बालक के हर्ष की सीमा नहीं रहती, चिरकाल तक परदेश में रह कर घर आने वाला घर पर नजर पड़ते ही प्रसन्न होता है, उसी प्रकार भगवान् को देखकर एवंताकुमार को असीम आनंद हुआ।

भगवान् ने उपदेश की अमृत-धारा बरसाई, जिसे सुनकर एवन्ताकुमार की आत्मज्योति जगी। उसने भगवान् से प्रार्थना की—'प्रभो! मैं माता-पिता से आज्ञा लेकर आपके निकट दीक्षा लूँगा।' भगवान् ने संक्षिप्त उत्तर दिया—'तुम्हें जिस तरह सुख हो, वैसा करो।'

एवन्ताकुमार लौट कर अपनी माता के पास आया। माता को प्रणाम किया। माता ने कहा—'बहुत देर लगाई बेटा! आज तुम्हें भोजन करने की भी सुध न रही! कब से मैं तुम्हारी राह देख रही हूँ।'

एवन्ताकुमार—माँ! आज मैंने वह अमृत पिया कि बस, कह नहीं सकता। उसका वर्णन करना असम्भव है। मैं गौतम स्वामी के साथ भगवान् महावीर के पास गया था। वहाँ जाकर भगवान् की वाणी सुनी। अत्यन्त आनन्द हुआ। अब तुम मुझे आज्ञा दे दो तो मैं भगवान् के निकट दीक्षा ले लूँ।

तू कांई जाणे साधपणा में बाल अवस्था थारी।
उत्तर दीधो ऐसो कुंवरजी मात कहे बलिहारी ।।रे एवन्ता० ।।

दीक्षा की बात सुनकर औरों की माता तो मोह-ममता के आवेग में रोई होगी, पर एवन्ता की माता को हंसी आ गई।

वह कहने लगी—'लाल ! संयम कोई खेल थोड़े ही है ! तू क्या जाने संयम क्या है और संयम का मार्ग कितना कठोर है ! अभी तेरा नेकर-कूर नहीं छूटा, दूध के दाँत भी नहीं गिरे हैं। फिर भी तू संयम लेने की बात कह कर मुझे आश्चर्य में डालता है।'

माता की इस बात के उत्तर में एवन्ताकुमार ने कहा—

माता ! मैं जिसे जानता हूँ उसे नहीं जानता और जिसे नहीं जानता उसे जानता हूँ।

यों एवन्ताकुमार का यह उत्तर आश्चर्य में डालने वाला है, लेकिन यही तो स्याद्वाद है। विसंगत प्रतीत होने वाले कथन को संगत बनाना स्याद्वाद का प्रयोजन है। एवन्ताकुमार के इस उत्तर में सभी तत्त्व आ गया है।

एवन्ताकुमार की माता ने यह टेढ़ा-मेढ़ा सा उत्तर सुन कर पूछा—'ऐसी क्या बात है जिसे जानता हुआ भी नहीं जानता, और नहीं जानता हुआ भी जानता है ?'

कुमार ने कहा—'माता ! लोगों की आँखों पर पर्दा पड़ा हुआ है। मेरी आखों पर भी पड़ा हुआ था, मगर आज भगवान् की कृपा से वह उठ गया। अब मुझे प्रकाश दिखाई दे रहा है। माँ ! यह कौन नहीं जानता कि संसार में जितने भी जीव जन्मे हैं, वह सब मरेंगे ? यह बात सभी जानते हैं और मैं भी जानता हूँ कि जो जन्मा है, वह मरेगा। जिसका उदय हुआ है वह अस्त भी होगा। जो फूला है वह कुम्हलाएगा ही। मैं यह जानता हूँ, मगर यह नहीं जानता कि यह किस घड़ी और किस पल में होगा ! इसी को कहते हैं—जानते हुए भी न जानना।'

इस कथन में बड़ा रहस्य भरा हुआ है। उपनिषद् में कहा है—

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्।

सोने के ढक्कन से जिस सत्य का मुंह ढंका हुआ है, एवन्ताकुमार उस सत्य का मुंह खोल रहा है! आप यह तो जानते हैं कि मरना है, मगर यह नहीं जानते कि कब मरना है? फिर मरण को क्यों भूले हुए हैं? अगर भूले नहीं हो तो ढील क्यों कर रहे हो? याद-रख कर आत्मा का कल्याण क्यो नहीं करते? ससार के लोग यह झूठ ही कहते हैं कि हमे मरने का ज्ञान है। जिसे मृत्यु का स्मरण हो, वह बुरे काम क्यो करेगा? वह अन्याय, अत्याचार और पाप कैसे कर सकता है? लोग यह सब करते हैं, इससे जान पड़ता है कि वे मरना नही जानते। महाराज चतुरसिंहजी ने एक पद कहा है:—

या मनखाँ मोटी बात मरणो जाणणो।
मरणो मरणो सारा केवे, मरे सभी नर-नारी रे।
मरवा पेली जो मर जावे तो बलिहारी रे॥ मरणो०॥
जीवा सूं सगलो जग राजी मरणो कोइय न चावे रे।
राजा रंक सभी ने सरखो तो पण आवे रे॥ मरणो०॥
दूजा भूप डरप ने म्लेच्छां कीदी तावेदारी रे।
वीर प्रताप जाण ने मरणो टेक न हारी रे॥ मरणो०॥
मरवा ने वनवीर विसरियो धाप याद कर लीनो रे।
चूंखाया रे साटे जायो जातो कीनो रे॥ मरणो०॥

गुरु गोविन्द रो ब्राह्मण भूल्यो बालक दोय चिणाया रे।
भामासाह धन्या ने धन दे पाछा लाया रे ॥ मरणो० ॥
मरवा ने जो जाण बीसू पाप कर्म नहीं होवे रे।
सुख दुःख रा परवा नहीं राखे प्रभु ने सेवे रे ॥ मरणो० ॥
मरने ज्वाब राम ने देणा या जीरे मन लागी रे।
चतुर चरण वाणी रा सेवे वो बड़भागी रे ॥ मरणो० ॥

सच है, जो मरना जानते होंगे, वह बुरे काम कदापि नहीं करेंगे। इस जगह बुरे काम का मतलब दारू पीना, मास खाना परस्त्रीगमन करना, जुआ खेलना, चोरी करना और विश्वास घात करना आदि समझना चाहिए। मृत्यु को जानने वाला कम से कम इन पापों से अवश्य बचेगा।

कई लोगों में कुलपरम्परा से दारू मास का अटकाव होता है। उनके यहाँ इन घृणित चीजों का व्यवहार करने वाला जाति से बाहर कर दिया जाता है। अगर जाति के बड़े बड़े समझे जाने वाले लोग ही इनका सेवन करने लगे, तो बेचारे छोटे क्या कर सकते हैं? उन छोटों की जबान बन्द कर दी जाती है। क्या ऐसे बड़े बड़े मरना जानते हैं? मरना जानते होते तो यह पाप क्यों करते? शराब पीना तो मुसलमानों में भी हराम माना जाता है। कुरान की आज्ञा का पालन करने वाले मुसलमान उस जमीन को भी खोद फेंकते हैं, जहाँ शराब का छींटा गिर पड़ा हो। लेकिन उनमें भी जो लोग मरना भूले हैं, वे शराब पीते हैं।

शराब को बहुतेरे लोग 'लाल शर्बत' कह कर पी जाते हैं। मगर नाम बदल देने से वस्तु नहीं बदल जाती।

आज कल मांसभक्षण का और उसमें भी अंडा खाने का प्रचार बढ़ता चला जाता है। यहाँ तक कि हिन्दू समाज के नेता समझे जाने वाले कतिपय लोग हिन्दुओं को मांसभक्षण करने का खुला उपदेश देने मे संकोच नहीं करते। बहुत से लोग अडे को मांस के अन्तर्गत ही नही समझते। मैने कहीं पढ़ा था कि गांधीजी ने जब विलायत जाने का निश्चय किया, तब उनकी माता ने उन्हे बहुत रोका। गांधीजी की माता के संस्कार उत्तम थे। वह साधुमार्गी जैन मुनियो के सम्पर्क में थी। उन्होने गाँधीजी से कहा—'विलायत जाने वाले वहाँ भ्रष्ट हो जाने हैं, इसलिए मैं तुझे नहीं जाने दूंगी।' जब गाँधीजी ने बहुत कुछ कहा-सुना तो उनकी माता एक शर्त पर उन्हे जाने देने के लिए सहमत हुई। माता ने कहा—अगर तुम मेरे गुरु के पास चल कर मदिरा, मांस और परस्त्री का त्याग कर दो तो मै जाने दे सकती हूँ अन्यथा नहीं।

विलायत मे परस्त्रीसेवन ऐसी साधारण बात है कि मानो पाप मे उसकी गिनती ही नही है। सुनते हैं, अमेरिका मे ६५ प्रतिशत तलाक होते है और विवाहो की अपेक्षा तलाको की संख्या बढ़ने की तैयारी है। फ्रांस मे इतना व्यभिचार है कि घर वाला पुरुष अपने घर मे किसी दूसरे पुरुष को आया जानता है तो वह बाहर से ही लौट जाता है। वह घर मे प्रवेश नहीं कर सकता। मित्रो! भारतवर्ष इस दिशा मे अब भी अत्यन्त सौभाग्यशाली है। भारतीयो मे इस दृष्टि से काफी मनुष्यता मौजूद हैं। यहाँ पशुता का यह नग्न ताण्डव नही है। भारतीय लोग इस प्रकार के दुराचार को घृणा की दृष्टि से देखते है।

आखिरकार गाधीजी अपनी माता के गुरु के निकट प्रतिज्ञाबद्ध होकर विलायत गये। वहाँ जब वह बीमार हो गये, तो डाक्टरों ने दारू पीने की सलाह दी। गाधीजी ने कहा—मैं दारू पीने का त्याग कर चुका हूँ।

डाक्टरों ने कहा—अच्छा, अडा खाने में तो कुछ हर्ज नहीं है? उन्होंने युक्तियों से साबित करने का चेष्टा की कि अडा, मास मे सम्मिलित नहीं है। मगर गाधीजी कोई सामान्य पुरुष नहीं थे। उन्होंने कहा—अडा, मास में शामिल हो अथवा न हो, मगर मेरी माता उसे मास में ही गिनती हैं और मैंने अपनी माता की समझ के अनुसार ही प्रतिज्ञा ग्रहण की है। ऐसी हालत में मैं आपकी बात न मानकर अपनी माता की बात मानना उचित समझता हूँ। मैं किसी भी दशा में अडा नहीं खा सकता।

गाँधीजी अपनी बात पर डटे रहे। बीमारी की हालत में, डाक्टरों का आग्रह अस्वीकार करके भी उन्होंने अडा नहीं खाया। गाँधीजी ने बीमारी म कष्ट पाना मजूर किया, पर धर्म से डिगना स्वीकार नहीं किया। कष्ट पाये बिना धर्म का पालन होता भी तो नहीं है! गाँधीजी ने प्रतिज्ञा न की होती और प्रतिज्ञा पर अचल न रहे होते तो कौन कह सकता है कि आज वह "महात्मा गाधी" कहलाने के अधिकारी होते या नहीं? जिस मनुष्य में उच्च चरित्र का अभाव है वह भी कोई मनुष्य है?

अडा और मछली का तेल (कॉड लीवर ऑयल) जैसे घृणित पदार्थों ने धर्म के सस्कार नष्ट कर दिये हैं।

इन सब पापमय वस्तुओं का सेवन लोग किस लिए करते हैं? दीर्घ जीवन के लिये! बहुत समय तक मृत्यु से बचे रहने के

लिए इन वस्तुओं का व्यवहार किया जाता है, मगर दुनियां कितनी अंधी है कि आँखों दिखाई देने वाले फल को भी वह नहीं देखती। ज्यों-ज्यो इनका प्रचार बढ़ता जाता है, त्यो-त्यो रोग बढ़ते जा रहे हैं, नई-नई आश्चर्यजनक बीमारियाँ डाकिनो की तरह पैदा हो रही हैं, उम्र का औसत घताट जा रहा है, शरीर की निर्बलता बढ़ती जाती है, इन्द्रियो की शक्ति दिनो-दिन क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है, देखते-देखते चटपट मौत आ घेरती है, फिर भी अंधी दुनियां को होश नहीं आता! क्या प्राचीन काल मे ऐसा था? नहीं। तो फिर 'पूर्व' की ओर-उदय की दिशा मे—प्रकाश के सम्मुख न जाकर लोग 'पश्चिम' की तरफ—अस्त की ओर मृत्यु के मुँह की सीध मे—क्यो जा रहे हैं? जीवन की लालसा से प्रेरित होकर मौत का आलिंगन करने को क्यो उद्यत हो रहे हैं? मित्रो! आँखे खोलो, फिर आप ही सब कुछ समझ जाओगे।

परस्त्री तो सब के लिए माता के समान होनी चाहिए। भूधर कवि कहते हैः—

पर-ती लखि जे धरती निरखे,
धनि हैं धनि हैं धनि हैं नर ते।

जहाँ पाल बँधी नहीं होती, वहाँ पानी नहीं रुकता और जहाँ पानी नही रुकता, वहाँ अच्छी खेती नही हो सकती। मैंने ज्ञानियों के वचन आपको सुना कर उपदेश की वर्षा की है, पर पाल के अभाव मे यह उपदेश भी कल्याणकारी नहीं हो सकेगा। अतएव पाल बँध जानी चाहिए, जिससे उपदेश का पानी ठहर सके और आपका कल्याण हो। आजकल जैसी-तैसी,

कमाने खाने के योग्य व्यावहारिक शिक्षा तो दी जाती है मगर धर्म की वर्षा तभी ठहर सकती है, जब धार्मिक शिक्षा दी जाय। हमारे उपदेश का पानी रोकने की पाल धर्म की शिक्षा है। अतएव बालकों को उस धर्म की शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए, जिसमें अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का समावेश हो। विनीत पुत्र तो सभी माँ बाप चाहते हैं, परन्तु शिक्षा ऐसी देते दिखवाते हैं, जिसमे धर्म को स्थान नहीं होता। ऐसी अवस्था मे बालक विनीत हों कैसे ? माँ बाप नहीं समझते कि माँ-बाप किस प्रकार बनना चाहिए ? वे अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व से अनभिज्ञ हैं। इस स्थिति में सन्तान खराब होती है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

नागिन और बिलाव के विषय में प्रसिद्ध है कि यह अपने बच्चों को खा जाती हैं। जिसके माँ बाप नागिन और बिलाव के समान हैं, वह बालक सुख कैसे पा सकते हैं ? इसी प्रकार जो माता पिता अपने बालक को धर्म की शिक्षा ही नहीं देंगे, तो उनका बालक विनीत किस प्रकार बन सकेगा ?

एवंताकुमार को अल्प आयु में भी धर्म की शिक्षा मिली थी। इसी से वह कह रहा है कि—'माता ! मै यह तो जानता हूँ कि मरना आएगा, लेकिन यह नहीं जानता कि कब आएगा। इसी प्रकार मैं यह तो जानता हूँ कि स्वर्ग नरक आदि कर्म से ही मिलते हैं, किन्तु यह नहीं जानता कि किस प्रकार के कर्म से स्वर्ग और किस प्रकार के कर्म से नरक मिलता है ? हे माँ ! तू मुझे छोटा कहती है, लेकिन क्या छोटे नहीं मरते ? अगर छोटी आयु में भी मृत्यु आ जाती है, तो संसार में रहना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ?'

माता ने समझ लिया कि बालक को तत्त्वज्ञान हो गया है, इसलिए अब यह गृहस्थी में नहीं रहेगा। जिसकी आत्मा मे ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है, जो जगत् के वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है, उसे संसार असार प्रतीत होने लगता है। संसार की समस्त सम्पदा और विनोद एवं विलास की विविध सामग्री, उसका चित्त अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकती। संसारी लोगो द्वारा कल्पित वस्तुओ का मूल्य और महत्त्व उसके लिए उपहास का पात्र है। वह बहुमूल्य हीरे को पाषाण के रूप मे देखता है। भोग को रोग मानता है। उसके लिए पदार्थ अपने असली रूप मे दृष्टिगोचर होने लगते है। ऐसे विरक्त पुरुषो को वासनाओ के बन्धन मे बँधे हुए साधारण मनुष्यों की बुद्धि पर तरस आता है। उनका हृदय बोल उठता है:—

> दारा परिभवकारा बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः।
> कोऽयं जनस्य मोहो, ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ॥

अर्थात्—पत्नी पराभव का कारण है, बांधवजन बन्धन है, विषयभोग विष हैं। फिर इस संसारी जीव का मोह न जाने कैसा है कि यह शत्रुओ को मित्र समझ रहा है!

तत्त्वज्ञानी पुरुष विषयभोग से इसी प्रकार दूर भागते हैं, जैसे साधारण मनुष्य काले नाग को देखकर। काले नाग को अपने निकट आते देखकर कौन स्थिर रह सकता है? इस प्रकार विवेकपूर्ण वैराग्य की स्थिति मे किसी को समझा-बुझाकर संसार में नहीं फँसाया सकता। एवन्ताकुमार की माता इस तथ्य को समझती थी। उसे विश्वास हो गया कि बालक अब गृह संसार में

कमाने खाने के योग्य व्यावहारिक शिक्षा तो दी जाती है मगर धर्म की वर्षा तभी ठहर सकती है, जब धार्मिक शिक्षा दी जाय। हमारे उपदेश का पानी रोकने की पाल धर्म की शिक्षा है। अतएव बालकों को उस धर्म की शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए, जिसमें अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का समावेश हो। विनीत पुत्र तो सभी माँ बाप चाहते हैं, परन्तु शिक्षा ऐसी देते दिखाते हैं, जिसमें धर्म को स्थान नहीं होता। ऐसी अवस्था में बालक विनीत हों कैसे? माँ बाप नहीं समझते कि माँ बाप किस प्रकार बनना चाहिए? वे अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व से अनभिज्ञ हैं। इस स्थिति में सन्तान खराब होती है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

नागिन और बिलाव के विषय में प्रसिद्ध है कि वह अपने बच्चों को खा जाती हैं। जिसके माँ बाप नागिन और बिलाव के समान हैं, वह बालक सुख कैसे पा सकते हैं? इसी प्रकार जो माता पिता अपने बालक को धर्म की शिक्षा ही नहीं देंगे, तो उनका बालक विनीत किस प्रकार बन सकेगा?

एवन्ताकुमार को अल्प आयु में भी धर्म की शिक्षा मिली थी। इसी से वह कह रहा है कि—'माता! मैं यह तो जानता हूँ कि मरना आएगा, लेकिन यह नहीं जानता कि कब आएगा। इसी प्रकार मैं यह तो जानता हूँ कि स्वर्ग नरक आदि कर्म से ही मिलते हैं, किन्तु यह नहीं जानता कि किस क्षण के कर्म से स्वर्ग और किस क्षण के कर्म से नरक मिलता है? हे माँ! तू मुझे छोटा कहती है, लेकिन क्या छोटे नहीं मरते? अगर छोटी आयु में भी मृत्यु आ जाती है, तो संसार में रहना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है?'

इस प्रकार की असाधारण विभूतियाँ संसार में कदाचित् ही जन्म लेती हैं। इन्हें अपवाद-पुरुष कहा जा सकता है। जन्मान्तर के अतिशय उग्र संस्कारों के बिना कोमल वय मे इस प्रकार के व्यक्तित्व का परिपाक नहीं होता।

श्री ध्रुवकुमार

(२)

राजा उत्तानपाद की दो रानियां थीं। बड़ी रानी धर्मपरायणा और तत्त्व को जानने वाली थी। छोटी रानी संसार के सुखो मे मस्त रहती थी। बड़ी रानी सरल स्वभाव की भोली स्त्री थी, इसलिए राजा ने उसे अनमानती कर दी। इसका एक पुत्र था, जिसका नाम ध्रुव था। राजा ने बड़ी रानी को एक अलग मकान दे दिया था और नियत परिमाण मे उसे भोजन आदि आवश्यक वस्तुएँ देने की आज्ञा दे दी थी। छोटी रानी उसके प्रति द्वेष रखती और अपने दास-दासियों द्वारा इस बात की निगरानी रखती कि बड़ी रानी को कोई चीज नियत मात्रा से अधिक तो नहीं दे दी जाती।

बड़ी रानी इस व्यवहार को बड़ी ही शान्ति के साथ सहन करती थी। वह अपनी मौजूदा परिस्थिति में सन्तुष्ट थी। अगर कोई कभी उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए राजा के अन्याय व्यवहार की चर्चा करता, तो रानी कहती—'मेरे पति का मुझ पर बड़ा अनुग्रह है, जो उन्होने धर्ममय जीवन बिताने और मोह मिटाने के लिए यह समय दिया। वह अपने अपमान का विचार करके दुःख का अनुभव नहीं करती थी। वह मस्त रहती।

नहीं रह सकता। एवन्ताकुमार की माता ने कहा—'तुम्हारी यही इच्छा है तो कोई हर्ज नहीं, मगर एक बात कहती हूँ। तुम चाहे एक दिन ही राज्य करना, मगर एक बार राज्य ग्रहण करलो। फिर जैसी इच्छा हो, करना।'

माता के इस अनुरोध को अस्वीकार करना एवन्ताकुमार ने उचित नहीं समझा। वह मौन रहे और "मौनं स्वीकृतिलक्षणम्" मानकर उनके माता पिता ने राज्याभिषेक की तैयारी आरम्भ कर दी।

दूसरे दिन एवन्ताकुमार राजसिंहासन पर विराजमान हुए और राजा बन गये। राजा बन जाने के बाद उनके माता पिता ने कहा—'पुत्र, देखो, राजपाट में यह आनन्द है। इस आनन्द को छोड़कर घर घर भीख माँगना क्या अच्छा है ?'

एवन्ताकुमार की आत्मा में अद्भुत प्रकाश जगमगा उठा था। उसकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल और विचारशक्ति अत्यन्त तीक्ष्ण हो गई थी। उसने माता पिता से कहा—'आपने मुझे यह पद प्रदान किया है, मगर क्या मुनिपद इससे छोटा है ? नहीं, तो उसे छुड़ाने के लिए इस पद का प्रलोभन किस लिए दे रहे हैं ? हाथ जोड़ेगा तो राजा ही मुनि के समक्ष हाथ जोड़ेगा। मुनि किसी राजाधिराज को भी हाथ नहीं जोड़ता। चक्रवर्ती भी मुनियों के चरणों में मस्तक रगड़ता है।'

एवन्ताकुमार की असाधारण प्रतिभा और अपूर्व भावना देख माता पिता दंग रह गये। उन्होंने दीक्षा देने के लिए उसे भगवान् महावीर को सौंप दिया।

मगर कहाँ हैं ऐसी देवियाँ जो अपने बालक को मनुष्य के रूप में देव-दिव्य विचार वाला, दिव्य शक्तिशाली-बना सकें ? महिला-वर्ग की स्थिति अत्यन्त विचारणीय है। जब तक महिलाओं का सुधार नहीं होगा तब तक किसी भी प्रकार का सुधार ठीक तरह नहीं हो सकता। आखिर तो मनुष्य के जीवन का निर्माण बहुत कुछ माता के हाथ मे ही है। माता ही बालक की आद्य और प्रधान शिक्षिका है। माता बालक के शरीर की ही जननी नहीं, वरन् बालक के संस्कारो की और व्यक्तित्व की भी जननी है, अतएव बालको के सुधार के लिए पहले माताओ के सुधार की आवश्यकता है।

आजकल न तो माताएँ ही बालक को योग्य धार्मिक शिक्षा दे सकती हैं और न सरकारी स्कूलो मे ही ऐसी शिक्षा मिलती है। सच्ची शिक्षा वह है जिसे प्राप्त कर व्यक्ति धर्मनिष्ठ बने और राजा से लेकर रंक तक, मनुष्य से लेकर क्षुद्र कीट-पतंग तक—प्राणी मात्र की सेवा करने की लगन उत्पन्न हो जाय।

राजा उत्तानपाद की रानी धर्म न जानती होती तो पति और सौत के निष्ठुर व्यवहार से दुखित होकर रोने लगती अथवा ईर्षा की आग से तप कर उनसे बदला लेने पर उतारू हो जाती। मगर उसने ऐसा नहीं किया। उसने सोचा—'रोने से क्या लाभ है ? बदला लेने की कोशिश करने से मै भी उन्ही की कोटि मे चली जाऊँगी। मगर मैं अपना तेज क्यो घटाऊँ ?

माता की बात सुनकर ध्रुव ने कहा—'तू मेरी माता क्या है, मुझे शक्ति देने वाली देवी है। अब मै तप करके परमात्मा की

मनाने वाला हो तो मन क्या नहीं मान लेता ? वह सभी कुछ समझ लेता है, समझाने वाला चाहिए। विवेक से कार्य करने वालों के लिए मन अबोध शिशु के समान है।

एक दिन राजा उत्तानपाद छोटी रानी के महल में बैठा था और उसके लडके को गोद में लिये था। खेलते खेलते ध्रुव अचानक वहाँ जा पहुँचा। उसने पिता की एक तरफ की गोद खाली देखी और वह उसमें बैठ गया। सौत के लडके को अपने लडके की बराबरी पर बैठा देख रानी की ईर्षा की अग्नि भडक उठी। उसने ध्रुव को राजा की गोद से हटा दिया और कहा—'इस गोद में बैठना था तो मेरे पेट से जन्म लेना था।'

रानी के इस निर्दय व्यवहार से बालक ध्रुव को बहुत दुःख हुआ। वह रोता रोता अपनी माँ के पास पहुँचा। उसने सब वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—'माँ, तुम्हारे पेट से जन्म लेने के कारण क्या मैं पिता की गोद में बैठने योग्य न रहा ?' पुत्र की यह बात सुनकर सहनशीला और धैर्यधारिणी रानी को भी कितना दुःख हुआ होगा ? मगर उसने अपना दुःख प्रकट नहीं किया। उसने बालक से कहा—'बेटा ! मुझसे पूछे बिना तू पिताजी की गोदी में बैठने गया ही क्यों ? अपन ईश्वर की गोद में बैठे हैं, फिर किसी और की गोद में बैठने की आवश्यकता ही क्या है ? तप करके उसे ईश्वर के प्रति अर्पित कर देने से वह पद मिलता है—यह सर्वश्रेष्ठ गोदी प्राप्त होती है कि उसके आगे राज्य आदि सभी कुछ तुच्छ हैं।

आज यह उदात्त शिक्षा कहाँ ? जिस माता की भावना इतनी उन्नत होगी, उसका बालक भी ध्रुव सरीखा हो सकता है।

मगर कहाँ है ऐसी देवियाँ जो अपने बालक को मनुष्य के रूप में देव-दिव्य विचार वाला, दिव्य शक्तिशाली—बना सकें? महिला-वर्ग की स्थिति अत्यन्त विचारणीय है। जब तक महिलाओं का सुधार नहीं होगा तब तक किसी भी प्रकार का सुधार ठीक तरह नहीं हो सकता। आखिर तो मनुष्य के जीवन का निर्माण बहुत कुछ माता के हाथ में ही है। माता ही बालक की आद्य और प्रधान शिक्षिका है। माता बालक के शरीर की ही जननी नहीं, वरन् बालक के संस्कारों की और व्यक्तित्व की भी जननी है, अतएव बालकों के सुधार के लिए पहले माताओं के सुधार की आवश्यकता है।

आजकल न तो माताएँ ही बालक को योग्य धार्मिक शिक्षा दे सकती हैं और न सरकारी स्कूलों में ही ऐसी शिक्षा मिलती है। सच्ची शिक्षा वह है जिसे प्राप्त कर व्यक्ति धर्मनिष्ठ बने और राजा से लेकर रंक तक, मनुष्य से लेकर क्षुद्र कीट-पतंग तक—प्राणी मात्र की सेवा करने की लगन उत्पन्न हो जाय।

राजा उत्तानपाद की रानी धर्म न जानती होती तो पति और सौत के निष्ठुर व्यवहार से दुखित होकर रोने लगती अथवा ईर्षा की आग से तप कर उनसे बदला लेने पर उतारू हो जाती। मगर उसने ऐसा नहीं किया। उसने सोचा—'रोने से क्या लाभ है? बदला लेने की कोशिश करने से मैं भी उन्हीं की कोटि में चली जाऊँगी। मगर मैं अपना तेज क्यों घटाऊँ?

माता की बात सुनकर ध्रुव ने कहा—'तू मेरी माता क्या है, मुझे शक्ति देने वाली देवी है। अब मैं तप करके परमात्मा की

गोद में ही बैठूँगा। अतएव मुझे आज्ञा दो मैं तप करने जाऊँ। यह कह कर बालक ध्रुव तप करने चला गया। उसकी माता इससे घबराई नहीं।'

ध्रुव जा रहा था कि मार्ग में नारद मिले। नारद कहने लगे—'अभी तू छोटा बालक है। तुझे क्या पता—वैराग्य किस चिड़िया का नाम है? फिर तप करने के लिए वन में क्यों जा रहा है? बच्चे! तेरी कोमल उम्र है। तुझसे तप न होगा। घर लौट जा।'

ध्रुव ने उत्तर दिया—आपसे मुझे बड़ी आशा थी, मगर आप मुझे निराश कर रहे हैं। आप उलटी गंगा बहा रहे हैं! आप आज से पहले मेरे पास नहीं आये थे, आज क्यों आये हैं? यह तप की ही शक्ति है कि नारदजी जैसे ऋषि भी आकर्षित हो सके हैं।

> निंदत कर्म जे आदरैं, तब बरजत संसार।
> तुम बरजत सुकृत करत, यह न नाति व्यवहार॥

हे ऋषि! कोई अच्छे काम न करता हो तो उसे अच्छे काम की ओर प्रेरित करना आपका काम है। मगर आप तो अच्छे काम से रोक रहे हैं।

नारदजी बोले—नहीं, मेरी ऐसी इच्छा नहीं है। मैं किसी को सत्कार्य से रोकना नहीं चाहता।

ध्रुव—मैं तप करने जा रहा हूँ तब तो आप रोक रहे हैं, अगर मैं राज्य करता होता तो न रोकते। आपके लिए क्या यही उचित है? मैं क्षत्रियपुत्र हूँ, वीर हूँ। मेरी माता ने मुझे तप करने

की शिक्षा दी है। मैं तप करने की प्रतिज्ञा करके घर से निकला हूँ। आप मुझ सिंह-बालक को सियार-बालक न बनाइए।

जब देख्यौ बालक सुदृढ़, अरु अखंड विश्वास।
नारद परम प्रसन्न ह्वै, साधु साधु कहि तास॥

नारद कहने लगे—तेरी परीक्षा हुई और मेरा अभिमान गया। आज मुझे मालूम हुआ कि जितनी सच्ची परमात्म-प्रीति एक बालक मे हो सकती है, मुझसे उतनी भी नहीं है।

भागवत की यह कथा है। एक कथा मदालसा की भी है, जिसने आठ-आठ वर्ष की उम्र मे ही अपने बालकों को संन्यास लेने भेज दिया था।

एवन्ता मुनि ने भी बाल्यकाल मे दीक्षा ले ली। उन्होंने पानी मे नाव भी तैराई, जिससे मुनियो के मन मे सन्देह हुआ कि यह क्या साधुपन पाल सकेगा? ज्यों ही मुनियों ने उनसे कहा कि साधु को पानी मे नाव तैराना नही कल्पता, त्यों ही उन्होंने धीरे से अपना पात्र पानी से निकाल लिया।

मुनियो ने भगवान् से पूछा—प्रभो! एवन्ता मुनि कितने भव और धारण करेगा?

भगवान् ने मुनियो से कहा—'इनको निन्दा-अवहेलना मत करो। यह चरमशरीरी जीव है। इसी भव से मुक्ति प्राप्त करेगा।'

अन्त मे एवन्ता मुनि ने सकल कर्मो का क्षय किया। वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

मित्रो ! तप में अपूर्व, अद्भुत और आश्चर्यजनक शक्ति है। तपस्या की अग्नि में आत्मा के समस्त विकार भस्म हो जाते हैं और आत्मा सुवर्ण की तरह प्रकाशमान हो उठता है। एवन्ता कुमार जैसे महापुरुष भले ही अपवाद रूप ही हों, और वर्तमान काल में उनके अनुकरण की शक्यता न हो, तो भी उनका आदर्श अपने समक्ष रखोगे और तप की महिमा समझोगे तो कल्याण होगा।

विषधर-वशीकरण

(चण्डकौशिक सर्प)

जिस चण्डकौशिक साँप के कारण जगत् में त्राहि-त्राहि की करुण ध्वनि सुन पड़ती थी, जिसके भय से उसके आसपास का रास्ता बंद था और जिसकी दृष्टि से ही घोर विष भरा हुआ था, उसके सामने जाकर भगवान् महावीर ने कायोत्सर्ग किया था। उन्होंने अपने ज्ञान में देखकर सोचा—'व्यर्थ ही लोग उस साँप से डरते हैं। वह साँप तो व्युत्सर्ग सिखाता है।' ऐसा विचार कर भगवान् उसकी ओर चल दिये। कोई अनजान से उस मार्ग से न चला जाय, इस प्रयोजन के लिए दयालु लोगों ने कुछ आदमी नियुक्त कर दिये थे। वे उधर जाने वालों को इसलिए रोक देते थे कि उस साँप के विष से बचना कठिन था।

जब भगवान् उस मार्ग से जाने लगे तो उन्होंने कहा—'इस मार्ग से न जाइए। इधर ऐसा भयानक साँप रहता है कि उसकी दृष्टि पड़ते ही विष चढ़ जाता है।'

प्रभु उनकी बात सुनकर मुस्किरा दिये। उन्होंने सोचा—ये लोग जैसा जानते हैं, कहते हैं। इन्हें साँप का ही विष दिखता है, अपने अन्तःकरण का विष दिखाई नहीं देता। लोग साँप से भयभीत होकर उसे मारने दौड़ते हैं, यह नहीं देखते कि हम में कितना भयंकर विष है। मैं व्युत्सर्ग द्वारा जगत् को दिखला दूंगा कि विष साँप में ही नहीं है, तुम में भी है। इसी कारण साँप का विष तुम पर असर करता है।

यह सोचकर भगवान् आगे बढ़े। रखवाले फिर कहने लगे—'आप कहाँ जा रहे हैं? इधर का रास्ता सर्प के कारण बन्द है। अगर आप नहीं मानेंगे तो जीवित नहीं बचेंगे।'

उनकी बात सुनकर भगवान् के सौम्य मुख पर फिर सहज स्मित की रेखाएँ खिंच गई। तब रखवालों ने कहा—'हँसते क्यों हैं? अभी आपको हमारी बात पर विश्वास नहीं होता। साँप सामने आएगा तब पता चलेगा! किसी मूर्ख ने भरमा कर आप को यहाँ भेजा होगा, लेकिन हम कहते हैं—लौट जाइए। आगे मत जाइए।'

भगवान् विचारने लगे—'यह लोग भी भ्रम को बुरा समझते हैं, लेकिन यह नहीं जानते कि भ्रम क्या है? यह सोचते हुए और मुस्किराते हुए भगवान् और आगे बढ़े।

यह देखकर रास्ते के रखवालों को गुस्सा आ गया। एक ने कहा—क्या सुनते नहीं हो! क्यों हमें बदनाम करना चाहते हो? लोग कहेंगे—हमने रोका नहीं, इसलिए गये और मारे गये।

दूसरे ने कहा—'नहीं मानता तो जाने दो, मरने दो। जिसकी मौत आगई हो उसे कौन रोक सकता है?'

तीसरे ने कहा—यह न जाने कौन है? इनकी आँखे तो देखो कैसी है! हम लोग इतना कह रहे है, फिर भी मुस्करा रहे हैं। इनकी आँखो मे क्रोध तो है ही नही। इन्हे नमस्कार कर ले और जाते ही हैं तो जाने दे।

क्रोध और प्रेम आँखो से स्पष्ट मालूम हो जाता है। आँखे तो क्रोध के समय भी वही और प्रेम के समय भी वही रहती हैं, मगर दोनो मे कितना अन्तर हो जाता है! आँखे तेज से बनी है। आँखो का पूरा वर्णन सुनकर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि आँखे क्या है?

तीसरा आदमी कहता है—'इनकी आँखो से प्रकट है कि यह कोई शक्तिसम्पन्न महात्मा है। यह कोई महान् विभूति है। हम लोग सारा वृत्तान्त उन्हे बता दे और फिर वह जाना चाहे तो भले ही जाएँ। इन्हें किसी तरह का अपशब्द मत कहना।

चौथे ने भड़क कर कहा—'वाह! खूब कही! जाने दिया और साँप के काटने से मर गया तो बदनामी किसकी होगी?'

तीसरे ने शान्त भाव से कहा—इनसे हठ करना ठीक नही है। हमने अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया है। अब हठ करना हानिकर होगा।

यह लोग आपस मे बात कह रहे थे कि भगवान् कुछ और आगे बढ़े। रखवाले भी कुतूहलवश भगवान के पीछे हो लिये। उन्होने सोचा—देखे यह क्या करते है? भगवान् स्थिर गति से चलते-चलते साँप की बांबी पर आये। रखवाले सोचने लगे—हम लोग समझते थे, यह भूल से इधर आ गये है, मगर जान पड़ता है, यह तो यहाँ के लिये ही आये है।

तीसरा आदमी कहने लगा—मैं तो इनकी प्रेमपूर्ण परन्तु तेजस्वी आँखें देख कर ही समझ गया था। आँखें बिना बताये ही बता देती हैं कि यह किस श्रेणी का पुरुष है। हृदय का भाव आँखों में प्रतिबिम्बित हो जाता है। इनकी आँखें देखकर ही मैं समझ गया था कि यह कोई महान पुरुष हैं।

भगवान् बाम्बी के मुँह पर ध्यान करके खड़े हो गये। साँप को जैसे ही किसी का आना मालूम हुआ कि वह क्रोध से उन्मत्त होकर बाहर निकला। वह भगवान् की ओर बार बार देखकर दृष्टि से विष छोड़ने लगा। मगर भगवान् का कुछ भी न बिगड़ा। वह ज्यों के त्यों अचल खड़े रहे। ध्यान पूरा होने पर भगवान् की और उसकी आँखें मिलीं। भगवान् की अमृत दृष्टि और चडकौशिक की विष दृष्टि आपस में टकराई। वह सम्पूर्ण क्रोध के साथ अपनी आँखों से विष फेंकने लगा, मगर भगवान् पर जरा भी असर न हुआ।

भगवान् की दृष्टि में विष का लेश मात्र भी होता तो चडकौशिक का विष भगवान् पर असर कर जाता। मगर भगवान् विष से सर्वथा विनिर्मुक्त थे। अतएव सर्प का विष प्रभावहीन हो गया। वास्तव में हमारी दृष्टि में भी विष है और हमारी दृष्टि के विष से ही दूसरों का विष हम पर असर करता है।

चडकौशिक सोचने लगा—आज तक कहीं मेरी दृष्टि नहीं रुकी। कभी मेरी शक्ति निष्फल नहीं हुई। मगर यह कौन जबर्दस्त आदमी है कि इस पर मेरी शक्ति व्यर्थ हो रही है। आज तक तो कोई मेरे सामने नहीं ठहर सका। जो आया वह यमपुर पहुँचा। लेकिन यह आदमी बड़ा ही विलक्षण है। न

बोलता है, न टलता है। ऐसा सोचकर उसने भगवान् के उस अंगूठे पर डंक मारा, जिस अंगूठे से बचपन मे-जन्म के कुछ ही समय बाद सुमेरु काँप उठा था। आज उसमे कितनी शक्ति होगी, यह अनुमान करना ही कठिन है। लेकिन आज तो भगवान् मे और ही प्रकार का बल है।

चंडकौशिक ने भगवान् को काटा, तब भगवान् सोचने लगे—व्युत्सर्ग का फल तो चंडकौशिक ही बतलाता है। व्युत्सर्ग का मतलब शरीर का दान करना है। शरीर का इस प्रकार उत्सर्ग कर देना कि चाहे कोई उसे ले जाय, कोई उसे खा जाय, या कोई भी उसे नष्ट कर दे, ऐसा विचार करके शरीर का उत्सर्ग कर देना यही व्युत्सर्ग है। जिसमे पूर्ण व्युत्सर्ग होगा, वह इतनी ऊँची भावना रक्खेगा।

चंडकौशिक ने जब भगवान् को काट लिया, तो भगवान् के अंगूठे से खून निकला। पर वह दूध सरीखा था। चंडकौशिक को वह अमृत की तरह मीठा लगा। वह सोचने लगा—मैंने बहुत बार खून का आस्वादन किया है, मगर यह खून तो कुछ और ही है।

भगवान् ने उसके सामने शरीर रखकर कहा—ले, मेरा शरीर ले। अब तू वैर मत रख। और किसी को दुःख देकर स्वयं दुखी मत हो। अगर तुझे अपनी शक्ति आजमानी है और दुःख ही देना है तो ले, यह शरीर तेरे सामने है। शक्ति आजमा ले, दुःख दे ले। इस प्रकार भगवान् ने जैसे जगत् का दुःख मिटाने के लिए ही अपना उत्सर्ग किया था। सिद्धान्त में कहा है—

खेयण्णए से कुसले महेसी।

तीसरा आदमी कहने लगा—मैं तो इनकी प्रेमपूर्ण परन्तु तेजस्वी आँखें देख कर ही समझ गया था। आँखें बिना बताये ही बता देती हैं कि यह किस श्रेणी का पुरुष है! हृदय का भाव आँखों में प्रतिबिम्बित हो जाता है। इनकी आँखें देखकर ही मैं समझ गया था कि यह कोई महान पुरुष हैं।

भगवान् बाँबी के मुँह पर ध्यान करके खड़े हो गये। साँप को जैसे ही किसी का आना मालूम हुआ कि वह क्रोध से उन्मत्त होकर बाहर निकला। वह भगवान् की ओर बार बार देखकर दृष्टि से विष छोड़ने लगा। मगर भगवान् का कुछ भी न बिगड़ा। वह ज्यों के त्यों अचल खड़े रहे। ध्यान पूरा होने पर भगवान् की ओर उसकी आँखें मिलीं। भगवान् की अमृत दृष्टि और चंडकौशिक की विष दृष्टि आपस में टकराई। वह सम्पूर्ण क्रोध के साथ अपनी आँखों से विष फेंकने लगा, मगर भगवान् पर जरा भी असर न हुआ।

भगवान् की दृष्टि मे विष का लेश मात्र भी होता तो चंडकौशिक का विष भगवान् पर असर कर जाता। मगर भगवान् विष से सर्वथा विनिर्मुक्त थे। अतएव सर्प का विष प्रभावहीन हो गया। वास्तव में हमारी दृष्टि में भी विष है और हमारी दृष्टि के विष से ही दूसरों का विष हम पर असर करता है।

चंडकौशिक सोचने लगा—आज तक कहीं मेरी दृष्टि नहीं रुकी। कभी मेरी शक्ति निष्फल नहीं हुई। मगर यह कौन जबर्दस्त आदमी है कि इस पर मेरी शक्ति व्यर्थ हो रही है। आज तक तो कोई मेरे सामने नहीं ठहर सका। जो आया वह यमपुर पहुँचा। लेकिन यह आदमी बड़ा ही विलक्षण है। न

आकर व्युत्सर्ग किया, उसी तरह मैं भी व्युत्सर्ग करता हूँ। मैं भी अपना शरीर त्यागता हूँ। अब इस शरीर को कोई भी खा जावे, कोई भी ले जावे। मुझे इससे कोई सरोकार नहीं।

भगवान् के पीछे जो रखवाले आये थे, वह आपस मे कहने लगे—साँप आया तो था, मगर इस महात्मा का तो कुछ भी नही बिगड़ा! वे लोग पत्थर फैंककर देखने लगे-साँप जीवित है या मर गया है! लेकिन साँप हिलता डुलता नहीं था। उन लोगो ने मशहूर कर दिया—साँप शान्त हो गया है!

लोगो मे यह बात प्रसिद्ध हो गई कि साँप शान्त हो गया। दुःखदायी शक्ति जब शान्त हो जाती है तो लोग उसकी पूजा करते है। इस परम्परागत प्रथा के अनुसार जनता दूध, दही से साँप की पूजा करने लगी। मगर अब पूजना और मारना उसके लिए समान था। दूध, दही आदि लगने के कारण उसके शरीर को चीटियाँ लग गई। साँप को वेदना हो रही थी। तब उसने सोचा-मैंने अनेको को और त्रिलोकीनाथ भगवान् को भी कष्ट पहुँचाया है। चीटियाँ मेरे पाप को हल्का कर रही है।

इस प्रकार शान्ति रखने से भगवान् मे जो लेश्या थी, वही लेश्या उसकी भी हो गई। जीव जिस गति में जाने को होता है, उसी के अनुकूल लेश्या उसकी हो जाती है। चंडकौशिक को शुक्ल लेश्या प्राप्त हो गई। ज्यों-ज्यों वेदना बढती जाती थी, उसका ध्यान भी बढ़ता जाता था। उसने क्रोध नहीं किया। उसका पाप धुलने लगा। वह धैर्य के साथ कष्ट सहता रहा। उसे चीटियो ने काट-काट कर खोखला बना दिया। अन्त मे शरीर त्याग कर वह स्वर्ग पहुँचा।

भगवान् पराये दुःख को जानने वाले और उस दुःख की जड़ मिटाने वाले थे।

शुक्ल लेश्या के पुद्गल कैसे मीठे होते हैं, यह बात पन्नवणा सूत्र में बतलाई है। भगवान् महावीर की शुक्ल लेश्या उत्कृष्ट थी। वैसे तो तीर्थङ्कर होने कारण उनके शरीर के पुद्गल विशिष्ट थे ही, मगर शुक्ल लेश्या के कारण और भी विशिष्ट थे। अतएव भगवान् के रक्त का स्वाद चण्डकौशिक को विलक्षण ही लगा। उसने सोचा—यह मूर्ति तो परिचित जान पड़ती है। यह ध्यान भी परिचित जान पड़ता है। इस प्रकार ध्यान लगाते लगाते उसे जातिस्मरण होते ही ज्ञात हुआ कि मैं मुनि था और क्रोध करने के कारण साँप हुआ हूँ।

इतने में भगवान् का व्युत्सर्ग पूरा हुआ। उन्होंने चण्डकौशिक से कहा—'समझ, चण्डकौशिक! समझ! तेरा और मेरा आत्मा समान है। अब तो बोध प्राप्त कर।'

चण्डकौशिक, भगवान् की यह वाणी सुनकर सोचने लगा—'यह तो भगवान् हैं। मैंने यह शरीर क्या खाया नरक खाया, नरक खाया है। इस शरीर से मैंने बहुत पाप किया है। औरों की तो बात क्या, त्रिलोकीनाथ भगवान् को भी मैंने नहीं छोड़ा!' ऐसा विचार कर चण्डकौशिक ने अठारह पापों का त्याग कर दिया। उसने सोचा—मैंने पापों का त्याग कर दिया, मगर मेरी दृष्टि में विष है। जिस पर मेरी दृष्टि पड़ेगी, वह मारा जायगा।'

चण्डकौशिक ने किसी को पीड़ा न पहुँचे, इस अभिप्राय से बांबी में अपना सिर घुसेड़ लिया। सोचा—भगवान् ने यहाँ

आकर व्युत्सर्ग किया, उसी तरह मैं भी व्युत्सर्ग करता हूँ। मैं भी अपना शरीर त्यागता हूँ। अब इस शरीर को कोई भी खा जावे, कोई भी ले जावे। मुझे इससे कोई सरोकार नहीं।

भगवान् के पीछे जो रखवाले आये थे, वह आपस मे कहने लगे—साँप आया तो था, मगर इस महात्मा का तो कुछ भी नही बिगड़ा ! वे लोग पत्थर फैंककर देखने लगे-साँप जीवित है या मर गया है ! लेकिन साँप हिलता डुलता नहीं था। उन लोगो ने मशहूर कर दिया—साँप शान्त हो गया है !

लोगो मे यह बात प्रसिद्ध हो गई कि साँप शान्त हो गया। दुःखदायी शक्ति जब शान्त हो जाती है तो लोग उसकी पूजा करते हैं। इस परम्परागत प्रथा के अनुसार जनता दूध, दही से साँप की पूजा करने लगी। मगर अब पूजना और मारना उसके लिए समान था। दूध, दही आदि लगने के कारण उसके शरीर को चीटियाँ लग गईं। साँप को वेदना हो रही थी। तब उसने सोचा-मैंने अनेको को और त्रिलोकीनाथ भगवान् को भी कष्ट पहुँचाया है। चीटियाँ मेरे पाप को हल्का कर रही है।

इस प्रकार शान्ति रखने से भगवान् मे जो लेश्या थी, वही लेश्या उसकी भी हो गई। जीव जिस गति में जाने को होता है, उसी के अनुकूल लेश्या उसकी हो जाती है। चंडकौशिक को शुक्ल लेश्या प्राप्त हो गई। ज्यो-ज्यो वेदना बढ़ती जाती थी, उसका ध्यान भी बढ़ता जाता था। उसने क्रोध नहीं किया। उसका पाप धुलने लगा। वह धैर्य के साथ कष्ट सहता रहा। उसे चीटियो ने काट-काट कर खोखला बना दिया। अन्त मे शरीर त्याग कर वह स्वर्ग पहुँचा।

हम लोग न भगवान् के समान हैं, न चडकौशिक के ही समान हैं—बीच के हैं। फिर भी साँप से ऊँची श्रेणी के हैं। मगर यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अपने कर्त्तव्य में कहीं साँप न बन जाएँ। साँप ने कीड़ियों का काटना सहन किया था। क्या हम किसी का एक बोल भी सहन नहीं कर सकते ?

कर्मदाह

(राजा प्रदेशी)

प्रदेशी राजा ने ऐसे घोर कर्म बाँधे थे कि एक-एक नरक में अनेक-अनेक बार जाने पर भी सब कर्म पूरे न भोगे जावें। उसने निर्दयता से प्राणियो की हिंसा की थी। वह अपने मत की परीक्षा के लिए चोरो को कोठी मे बन्द कर देता था और कोठी को चारों ओर से ऐसी मूँद देता था कि कहीं हवा का प्रवेश न हो सके। वह मानता था कि जीव और काय एक है, अलग नहीं। इसी बात को देखने के लिए वह ऐसा करता था। अगर जीव और शरीर अलग-अलग होंगे तो चोर के मरने पर भी जीव दिखाई देगा। कोठी एकदम बंद है तो जीव निकलकर जायगा कहाँ ? कई दिनो बाद वह चोर को कोठी से बाहर निकालता। चोर मरा हुआ मिलता। राजा प्रदेशी कहता—देखो, काय के अतिरिक्त आत्मा अलग नहीं है। यहाँ अकेला शरीर ही दिखाई दे रहा है।

कभी-कभी प्रदेशी राजा किसी चोर को चीर डालता और उसके टुकड़े टुकड़े करके आत्मा को देखता था। जब आत्मा दिखाई न देता तो अपने मत का समर्थन हुआ समझता और कहता कि शरीर से अलग आत्मा नहीं है। तात्पर्य यह कि प्रदेशी राजा घोर हिंसक था और महान् पाप करता था।

जो आत्मा अज्ञान अवस्था में घोर पाप करता है, ज्ञान होने पर वही किस प्रकार ऊँचा उठ जाता है, इसके लिए प्रदेशी का उदाहरण मौजूद है।

धन धन केशी सामजी, सारया प्रदेशी ना काम जी।

केशी श्रमण ने प्रदेशी राजा को समझाया, तब वह जीव और शरीर को अलग अलग मानने लगा। पहले वही प्रदेशी, लोगों की आजीविका छीन लेता था और साधु सन्तों के प्राण लेने में सकोच नहीं करता था। चित्त नामक प्रधान ने केशी स्वामी से प्रार्थना की कि—'महात्मन्! आप सिताम्बिका नगरी में पदार्पण कीजिये। वहाँ अतीव उपकार होने की सभावना है। वहाँ के लोग बड़े धर्मात्मा हैं। वे बहुत प्रेम से आपका उपदेश सुनेंगे।' तब केशी श्रमण ने उत्तर दिया—हे चित्त! एक सुन्दर बगीचा है। उसमें तरह-तरह के फल लगे है। अत्यन्त आनन्द दायक वह बगीचा है। बताओ, ऐसे उद्यान में पक्षी आना चाहेगा कि नहीं?

चित्त—'क्यों नही महाराज! अवश्य आना चाहेगा।'

केशी श्र०—'लेकिन उस उद्यान में एक पारधी, धनुष चढाकर पक्षियों को मार डालने के लिए उद्यत खड़ा है। ऐसी दशा में वहाँ कोई पक्षी जायगा?'

चित्त—अपने प्राण गँवाने कौन जायगा ?

केशी श्र०—इसी प्रकार सिताम्बिका नगरी उद्यान की भाँति सुन्दर है, किन्तु वहाँ का राजा प्रदेशी हम साधुओं के लिए पारधी के समान है। वह साधुओं के प्राण लिए विना नहीं मानता। वह अपने अज्ञान से साधुओं को अनर्थ की जड़ समझता है। ऐसी दशा में, तुम्हीं बताओ, हमारा वहाँ जाना उचित होगा ?

चित्त—भगवन्, आपको राजा से क्या प्रयोजन ? उपदेश तो वहाँ की जनता सुनेगी।

चित्त की बात सुनकर केशी श्रमण ने सोचा—आखिर चित्त वहाँ का प्रधान है। इसका आग्रह है तो जाने में क्या हानि है ? सम्भव है राजा भी सुधर जाय। परीषह और उपसर्ग आएँगे तो हमारा लाभ ही होगा—कर्मों की विशेष निर्जरा होगी।

इस प्रकार विचार कर केशी श्रमण ने सिताम्बिका जाने की स्वीकृति दे दी और वहाँ पधार भी गये। चित्त प्रधान घोड़े फिराने के बहाने प्रदेशी राजा को उनके पास ले आया। केशी श्रमण ने राजा को उपदेश दिया। उपदेश से प्रभावित हो राजा ने श्रावक के बारह व्रत धारण किये।

जब राजा जाने लगा तो केशी स्वामी ने उससे कहा—'राजन् अब तुम रमणीक हुए हो, मगर हमारे चले जाने पर फिर अरमणीक न बन जाना।'

राजा ने उत्तर दिया—नहीं महाराज ! मेरे नेत्र आपने खोल दिये हैं। अब देखते हुए गड्ढे में नहीं गिरूँगा। बल्कि अपने राज्य के सात हजार ग्रामों के चार भाग आपके सामने ही किये देता हूँ। एक हिस्सा राज्य भण्डार के लिए, दूसरा अन्तःपुर के लिए, तीसरा राज्य की रक्षा के लिए और चौथे हिस्से से श्रमणों माहणों के लिए एवं भिखारियों के लिए दान देता हुआ तथा अपने व्रतों का पालन करता हुआ विचरूँगा।

मित्रो ! राजा प्रदेशी एक दिन दूसरों के हाथ का ग्राम छीन लेता था, अब छीनता नहीं वरन् देता है। क्या उसके यह दोनों काय बराबर हैं? अगर कोई जैनदर्शन के नाम पर इन दोनों कार्यों को समान बतलाकर एकान्त पाप कहता है तो उसे क्या कहना चाहिए?

तात्पर्य यह है कि राजा प्रदेशी ने घोर पाप करके कर्मों का बंध किया था। कथा में उल्लेख है कि उसने बेले-बेले पारणा किया और शास्त्र में कहा है कि उसने समभाव धारण किया। इस प्रकार प्रदेशी ने अपने इन कर्मों का नाश कर दिया।

राजा प्रदेशी न सूरीकन्ता नार।
इष्टकान्त वल्लभ घणी सरे, शास्तर में अधिकार।
निज स्वारथ वश पापिणी सरे, मार्यो निज भर्तार।

राजा प्रदेशी की सूरिकान्ता नाम की रानी थी। राजा को वह बहुत प्यारी थी। राजा ने जब केशी श्रमण से बारह व्रत धारण कर लिए और वह धर्मात्मा बन गया, तब सूरिकान्ता ने सोचा—'राजा, धर्म के ढोंग में पड़ा रहता है। विषय भोग

का आनन्द विगड़ गया है। इसे मरवा कर और कुँवर को राजसिंहासन पर बिठलाकर राजमाता होने का नवीन सुख क्यों न भोगा जाय ?

इस प्रकार दुष्ट संकल्प करके रानी ने अपने पुत्र सूरीकान्त को बुलवाया। रानी ने उससे कहा—बेटा, तुम्हारा पिता ढोंगियों के चक्कर में पड़कर राज्य को मटियामेट किये देता है। थोड़े दिनो मे ही सफाया हो जायगा, तब तुम क्या करोगे ? अतएव अपने भविष्य को देखो और अपना भला चाहते हो तो राजा को इस संसार से उठा दो। मैं तुम्हें राजा बनाऊँगी।

राजकुमार को अपनी माता के वचन जहर से लगे। उसने पिता को मारने से इन्कार कर दिया। मन ही मन सोचा—तुम मेरे देव-गुरु के समान पिता को मार डालने को कहती हो ! तुम माता हो, तुमसे क्या कहूँ ? कोई दूसरा होता तो इस बात का ऐसा मजा चखाता कि वह भी याद रखता।

राजकुमार के चले जाने पर रानी ने सोचा—यह बहुत बुरा हुआ। मुँह से बात भी निकल गई और काम भी सिद्ध न हुआ। कहीं राजकुमार ने यह बात प्रकट करदी तो घोर अनर्थ होगा। मैं कही की नहीं रहूँगी। अतएव बात फूटने से पहले ही राजा को मार डालना श्रेयस्कर है।

ऐसा भीषण संकल्प करके रानी पौषधशाला मे, जहाँ राजा मौजूद था, आई। उसने राजा के प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा—आप तो बस, यहीं के हो गये है ? किस अपराध के कारण मुझे भुला दिया है ? आपके लिए तो और रानियाँ भी हो सकती हैं, मगर मेरे लिए आपके सिवाय और कौन हैं ?

अतएव आज कृपा करके मेरे ही महल म पधारिये और वहीं भोजन कीजिए।

राजा ने सोचा—स्त्री सुलभ पति भक्ति से प्रेरित होकर रानी उलाहना और निमत्रण दे रही है। उसने रानी के महल में भोजन करना स्वीकार किया। रानी अपने महल मे लौट आई। उसने राजा के लिए विषमिश्रित भोजन बनाया। जल में भी विष मिलाया और आसन आदि पर भी विष का छिड़काव किया। इस प्रकार विष ही विष फैलाकर रानी ने राजा को भोजन करने के लिए बैठाया और राजा के सन्मुख विषमिश्रित भोजन पानी रख दिया। रानी पतिभक्ति का दिखावा करने के लिए खड़ी होकर पखा झलने लगी। ज्यो ही राजा ने भोजन आरम्भ किया, उसे मालूम हो गया कि भोजन में विष का मिश्रण किया गया है। वह चुपचाप उठ कर पौषधशाला में आ गया।

राजा किस प्रकार अपने कर्मों की उदीरणा करता है, यह ध्यान देने की बात है। इसे ध्यान से सुनिये और विचार कीजिए।

पौषधशाला मे आकर राजा विचारने लगा—रानी ने मुझे जहर नहीं दिया है। मैंने रानी के साथ जो विषयभोग किया है, यह जहर उसी के प्रताप से आया है।

यद्यपि प्रदेशी राजा चढे हुए जहर को उतार सकता था और रानी को दण्ड भी दे सकता था, लेकिन जिन्हें कर्म की उदीरणा करनी होती है, वे दूसरे की बुराइयों का हिसाब नहीं लगाते।

राजा प्रदेशी सोचने लगा—हे आत्मन्! यह विष तुझे नहीं मिला है, किन्तु तेरे कर्म को मिला है। तू ने जो प्रगाढ कर्म बाधे हैं, उन्हें नष्ट करने के लिए इस जहर की जरूरत थी। मैंने

जीव और शरीर को अलग-अलग समझ लिया है। यह स्पष्ट हो रहा है कि यह जहर आत्मा पर नहीं, शरीर पर अपना असर कर रहा है। आत्मा तो वह है कि—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
नैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

अर्थात्—आत्मा को शस्त्र काट नही सकते, अग्नि जला नहीं सकती। आत्मा छिदने योग्य नहीं है, सड़ने-गलने योग्य नहीं है, सूखने योग्य नहीं है। वह नित्य है, प्रत्येक शरीर में रहता है, स्थायी है, अचल है और सनातन है।

राजा प्रदेशी सोचता है—हे आत्मा! यह विष तुझे मार नहीं सकता, यह तेरे कर्मों को ही काट रहा है। इसलिए चिन्ता न कर। तू बैठा-बैठा तमाशा देख।

मित्रो! इसका नाम प्रशस्त परिणाम है। इसी से कर्मों की उदीरणा होती है। ऐसा परिणाम उदित होने पर कर्मों की ऐसी दशा होती है, जैसे उन्हें जहर ही दे दिया गया हो।

राजाने फिर सोचा—प्रिये! तू ने खूब किया। मेरे कर्मों को अच्छा जहर दिया। तू ने मेरी बड़ी सहायता की। ऐसा न करती तो मुझ मे उत्तम भावना न आती। पतिव्रता के नियमो का पालन तू ने ही किया है।

राजा ने प्रमार्जन, प्रतिलेखन तथा आलोचना—आदि करके अरिहंत-सिद्ध भगवान् की साक्षी से संथारा धारण करलिया।

उधर रानी के हृदय में अनेक सकल्प विकल्प उठने लगे। उसने सोचा—'ऐसा न हो कि राजा जीवित रह जाए अगर ऐसा हुआ तो भारी विपदा में पड़ना पड़ेगा। अतएव इस नाटक की पूर्णाहुति करना ही उचित है।' इस प्रकार सोचकर वह राजा के पास दौड़ी आई और प्रेम दिखलाती हुई कहने लगी—मैंने सुना, आपको कुछ तकलीफ हो गई है ?

राजा ने, रानी से कुछ भी नहीं कहा। वह चुपचाप अपने आत्मचिन्तन मे निमग्न रहा। ससार का असली स्व रूप उसके सामने नाचने लगा। तब रानी ने राजा का सिर अपनी गोद में ले लिया। और अपने सिर के लम्बे लम्बे बालों से उसका सिर ढँक लिया। इस प्रकार तसल्ली करके और चारों ओर निगाह फेर कर उसने राजा का गला दबोच दिया।

रानी ने जब अपने पति का—राजा का गला दबाया तो वह सोचने लगा—रानी मेरा गला नहीं दबा रही है, मेरे शेष कर्मों का नाश कर रही है।

राजा प्रदेशी ने इस प्रकार कर्मों की उदीरणा की। इस उदीरणा के प्रताप से, वह सूर्याभ विमान में देव हुआ। उदीरणा ने उसे नरक का अतिथि होने से बचा लिया और स्वर्ग-सुख का अधिकारी बनाया। राजा प्रदेशी ने अल्पकालीन समाधिभाव मे ही अपना बेड़ा पार कर लिया। अगर वह दूसरे का हिसाब करने बैठता तो ऐसा न होता।

तात्पर्य यह है कि राजा प्रदेशी ने उदीरणा के प्रताप से न जाने कितने भवों का पाप क्षय करके आत्मा को हल्का बना लिया। इस प्रकार उदीरणा के द्वारा करोड़ों भवों में भोगने योग्य कर्म क्षण भर म ही नष्ट किये जा सकते हैं।

६

अर्थ और अनर्थ

एक समय की बात है। रामचन्द्रजी, सीता के साथ राजसभा में विराजमान थे। हनुमान उनका बड़ा भक्त था। उसने रामचन्द्रजी की सेवा, निष्काम से अर्थात् स्वार्थबुद्धि से रहित होकर की थी। लोगों ने उसकी उत्कृष्ट सेवा की प्रशंसा की। सीता देवी ने प्रसन्न होकर अपने गले का हार हनुमान को इनाम मे दे दिया। आप जानते है, हीरा कीमती होता है और फिर सीता जैसी महारानी के पहनने का हार! उसकी कीमत का क्या पूछना? वह अमूल्य हार था।

हनुमान उस हार को ले एक तरफ चले गये और हार में से एक-एक हीरा निकाल-निकाल कर, उन्हे पत्थर से फोड़कर टुकड़ों को हाथ मे ले आकाश की तरफ मुँह कर आँख से देखने लगा। लोग यह दृश्य देखकर खिलखिलाकर हँसने लगे। आखिर हनुमान से पूछा गया—भाई, हार की यह दुर्दशा क्यों कर रहे हो?

हनुमान ने उत्तर दिया—'मैं हीरे फोड़ फोड़कर देख रहा हूँ कि इनमें कहीं राम हैं या नहीं ? अगर हैं तो ठीक, अन्यथा मेरे लिए यह निकम्मे हैं, निस्सार हैं।' लोग यह उत्तर सुनकर चकित रह गये। सभी उसकी वाह वाह ! करने लगे।

यह एक अलंकारिक वर्णन है। इसके गूढ रहस्य को समझने का प्रयत्न कीजिए। हनुमान ने यहाँ आत्मिक विचार किया था। उन्होंने देखना चाहा—इन हीरों में धर्मरूपी राम हैं या नहीं ? जिस वस्तु मे धर्म न हो, वह रद्दी है। अगर हीरा म राम न हो—धर्म न हो तो वह चाहे जितने कीमती समझे जाते हों, काच के टुकडे की बराबर हैं। यह बात जैनशास्त्र में 'सेस अण्ट्ठे' शब्दों द्वारा व्यक्त की गई है। अर्थात् जिस वस्तु में धर्म न हो वह थोथी है—अनर्थ रूप है। जिस वस्तु मे धर्म है, वह पाप से बचाती है।

सम्राट् अनाथ !

[जो तुम्हारा है, वह तुमसे कभी विलग नहीं हो सकता। जो वस्तु तुमसे विलग हो जाती या हो सकती है, वह तुम्हारी नहीं है। पर-पदार्थों के साथ आत्मीयता का भाव स्थापित करना महान् भ्रम है। इसी भ्रमपूर्ण आत्मीयता के कारण जगत् अनेक कष्टो से पीड़ित है। अगर 'मै' और 'मेरी' की मिथ्या धारणा मिट जाय तो जीवन में एक प्रकार की अलौकिक लघुता, निरूपम निस्पृहता और दिव्य शान्ति का उदय होगा।

हाथी, घोड़े, महल, मकान आदि आपके नहीं हैं, यह बात अनाथी मुनि और महाराज श्रेणिक के संवाद से भली-भांति समझी जा सकती है।]

एक बार मगध का अधिपति श्रेणिक मंडिकुक्ष नामक उद्यान मे विहार करने के लिए आया। संयोगवश अनाथी मुनि भी उसी उद्यान मे विराजमान थे। राजा श्रेणिक की मुनि पर दृष्टि पड़ते ही वह उनकी ओर इस प्रकार आकर्षित हो गया जैसे चुम्बक से लोहा आकर्षित होता है। मुनि का दिव्य रूप

और उनके मुख पर विराजमान तेज देखकर वह चकित रह गया। रूप बनावटी है या वास्तविक है, यह तो मुखाकृति देखते ही पता चल जाता है। बनावटी रूप छिपा नहीं रहता। मुनि के मुख पर जो तेज और रूप था, वह आन्तरिक तेज का प्रतिबिम्ब था। उसे देखकर राजा को आश्चर्य हुआ। वह मन ही मन सोचने लगा—'यह मुनि कैसे रूपवान हैं! रूप का इतना धनी तो मैंने आज तक किसी को नहीं देखा।' यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रेणिक स्वयं अत्यन्त सुन्दर था। उसकी सुन्दरता के विषय में प्रसिद्ध है कि एक बार वह वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर जब भगवान् महावीर के समवशरण में गया था, तब उसका रूप-लावण्य देखकर कई साध्वियाँ भी मुग्ध हो गई थीं और उन्होंने ऐसे सुन्दर पुरुष की प्राप्ति का निदान किया था। इतने अधिक सौन्दर्य से सम्पन्न श्रेणिक भी मुनिराज का रूप देखकर चकित रह गया, इससे मुनिराज की रूप सम्पत्ति का अनुमान किया जा सकता है।

अन्तत राजा श्रेणिक मुनिराज के समीप गया। वह उनके बाह्य एवं आन्तरिक गुणों का आकलन कर चुका था, अतएव उसने मुनिराज के चरणों में प्रणाम किया। उनकी प्रदक्षिणा की और न मुनिराज से अधिक दूर, न अधिक पास, यथोचित स्थान पर बैठ गया। तत्पश्चात् अत्यन्त नम्रतापूर्वक राजा ने कहा—'प्रभो' आज्ञा हो तो मैं एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। मुनिराज की स्वीकृति प्राप्त करके उसने कहा—'महाराज! मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने भर जवानी में दीक्षा क्यों धारण की है? इस उम्र में तो भोगोपभोग भोगने में रुचि होती है, फिर आप विरक्त होकर चारित्र का पालन करने के लिए क्यों

निकल पड़े है ? संसार के भोग भोगने योग्य इस अवस्था में आप योग की आराधना करें, यह ठीक नही जान पड़ता। अगर आप वृद्ध होते तो मुझे इतना कुतूहल न होता और आपकी योग-साधना भी समझ मे आ सकती थी। पर युवावस्था में आपने संयम धारण किया है, इसलिए मैं यह प्रश्न पूछने के लिए उद्यत हुआ हूँ। यदि आपकी भाँति सभी लोग इस तरुण अवस्था मे संयम धारण करने लगेंगे तो गज़ब हो जायगा। मैं यह प्रश्न प्रत्येक संयमी से नहीं पूछता। पर मेरे सामने जिसने युवावस्था मे संयम धारण किया हो, उससे यह पूछना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। अगर मैं अपने कर्त्तव्य का पालन न करूँ, तो राजा कैसे कहला सकता हूँ? अनुचित और अस्थानीय कार्य को रोक देना राजा का कर्त्तव्य है। अतः कृपा कर यह समझाइए कि आप बुद्धिमान् होते हुए भी इस उम्र मे संयम की साधना के लिये क्यों प्रवृत्त हुए हैं ? अगर आपने किसी कष्ट के कारण या किसी के बहकाने से संयम ग्रहण किया हो, तो भी निःसंकोच होकर कह दीजिए, जिससे मै आपका कष्ट निवारण करने मे सहायक बनूँ।

राजा श्रेणिक का प्रश्न सुन कर मुनिराज ने उत्तर दिया—'महाराज, मै अनाथ था। मेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं था। मेरा पालन कोई कर नहीं सकता था। इसलिए मैंने संयम धारण किया है।'

मुनि के इस संक्षिप्त उत्तर से यह समझा जा सकता है कि वह कोई भटकने वाला व्यक्ति होगा। उसे खाने-पीने और रहन-सहन की सुविधा न होगी। उसकी रक्षा करने वाला कोई न होगा, इसलिए उसने दीक्षा ले ली होगी। अथवा—

नारी मुई घर सम्पत नासी।
मूंड मुंडाय भये सन्यासी॥

इस कथन के अनुसार या तो स्त्री का देहान्त हो गया होगा अथवा सम्पत्ति नष्ट हो गई होगी। ऐसे ही किसी कारण से मूंड मुंडा कर दीक्षा ले ली होगी!

राजा को भी मुनि का उत्तर सुनकर आश्चर्य हुआ। उसने सोचा होगा—अभी तो ऐसा कलियुग नहीं आया कि कोई दयालु अनाथ की रक्षा न करे। फिर यह मुनि तो इस प्रकार की ऋद्धि से सम्पन्न हैं, यह अनाथ कैसे हो सकते हैं? इनका कथन तो ऐसा मालूम होता है, जैसे कल्पवृक्ष कहे कि मेरा कोई आदर नहीं करता, चिन्तामणि कहे—कोई मुझे रखता नहीं है, या कामधेनु कहे—मुझे कोई खड़ा होने की भी जगह नहीं देता। जैसे कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और कामधेनु का यह कथन असम्भव प्रतीत होता है, इसी प्रकार इन मुनि की बात भी कुछ समझ में नहीं आती है। जिनके शरीर में शख, चक्र, पद्म आदि शुभ लक्षण विद्यमान हैं, उनका कोई नाथ न हो, उनकी रक्षा करने वाला कोई न हो, उनका कोई सहायक मित्र भी न हो, यह कैसे माना जा सकता है?

कवि कहते हैं—हंस से कदाचित् विधाता रुष्ट हो जाय तो उसके रहने का कमल वन नष्ट कर सकता है। उसे मानस सरोवर में रहने में बाधा पहुँचा सकता है। पर उसकी चोंच में दूध और पानी को अलग अलग करने का जो गुण विद्यमान है, वह तो नहीं छीन सकता।

इस प्रकार मन ही मन सोच कर राजा ने कहा—'मुनिराज! आप ऐसी असाधारण ऋद्धि से सम्पन्न होने पर भी अपने

को अनाथ कहते हैं। यह बात मानने का जी नहीं चाहता। मैं अधिक चर्चा करना नहीं चाहता। आप मेरे साथ चलिए, मैं आपका नाथ बनता हूँ। मेरे राज्य में कोई कमी नहीं है।'

आपको भी राजा के समान विवेकशील बनना चाहिए। अगर कोई बात आपकी समझ में न आवे तो दूसरे पर झटपट आक्षेप कर डालना उचित नहीं है। पहले वास्तविकता को समझने का नम्रता-पूर्वक प्रयास करो, फिर यथोचित कर्त्तव्य का निर्णय करो।

श्रेणिक मुसकिरा कर फिर बोला—'हे भदन्त ! मैं आपसे कुछ अधिक न कहते हुए बस यही कहना चाहता हूँ कि आप संकोच न करें। आपने अनाथता के दुःख से प्रेरित होकर संयम धारण किया है, मैं उस अनाथता का दुःख दूर करने के लिए आपका नाथ बनता हूँ। जब मैं स्वयं नाथ बन जाऊँगा, तो आपको किस चीज की कमी रहेगी ? अतएव मुनिराज, चलिए संयम त्याग कर भोगोपभोग का सेवन कीजिए। आपको सब प्रकार की सुख-सुविधा प्राप्त होगी।

राजा का यह कथन सुनकर मुनि को आश्चर्य हुआ। इधर मुनि सोच रहे थे-'बेचारा राजा स्वयमेव अनाथ है, तो फिर मेरा नाथ कैसे बनेगा ?' उधर राजा सोचता था—'ऐसे प्रशस्त लक्षणों से सम्पन्न ऋद्धिशाली पुरुष का नाथ बनने में कौन अपना सौभाग्य न समझेगा ?'

अन्त में मुनिराज ने गम्भीर होकर कहा—'राजन् ! तुम स्वयं अनाथ हो, तो दूसरे के नाथ कैसे बनोगे ? जो स्वयं दिग-

म्बर है—वस्त्ररहित है, वह अपने दान से दूसरों का तन कैसे ढँकेगा ?'

शरीर भोगोपभोग के लिए है, यह विचार आते ही आत्मा गुलाम एवं अनाथ बन जाती है। आप समझते हैं—अमुक वस्तु हमारे पास है, अतएव हम उसके स्वामी हैं। पर ज्ञानी जन कहते हैं—अमुक वस्तु तुम्हारे पास है, इसीलिए तुम उसके गुलाम हो—अतएव अनाथ हो। एक अज्ञान पुरुष सोने की कंठी पहन कर घमण्ड से चूर हो जाता है। वह दिखाना चाहता है कि मैं सोने का स्वामी हूँ, पर विवेकी पुरुष कहते हैं—'वह सोने का गुलाम है।' अगर वह सोने का गुलाम न होता तो सोना चला जाने पर उसे रोना क्यों पड़ता है ? वह सोने का आश्रय क्यों लेता है ? जहाँ पराश्रय है वहीं गुलामी है, जहाँ गुलामी है, वहीं अनाथता है।

मुनि ने राजा को अनाथ कहा। उसका भावार्थ यही है कि तुम जिन वस्तुओं के कारण अपने को नाथ समझते हो, उन्हीं वस्तुओं के कारण वास्तव में तुम अनाथ हो। जब तुम स्वयं अनाथ हो, तो दूसरे के नाथ कैसे बन सकते हो ? इस प्रकार जिन वस्तुओं पर तुम्हारा स्वामित्व नहीं है, वह वस्तु अगर दूसरों को प्रदान करोगे तो वह चोरी कहलाएगी, उसके लिए दण्ड का पात्र बनना पड़ेगा।

मुनिराज के इस कथन से राजा के विस्मय का ठिकाना न रहा। मगध के विशाल साम्राज्य का अधिपति श्रेणिक अनाथ है! यह कल्पना ही उस आश्चर्यजनक प्रतीत हुई। उसने सोचा—मुनि मुझे अनाथ कहते हैं, यह मेरे लिए अश्रुतपूर्व है। आज

तक मुझे किसी ने अनाथ नहीं कहा। मुझे घर-बार छोड़ कर वाहर भटकना पड़ा था—मुसीवतों में मारा-मारा फिरता था, उस समय भी किसी ने मुझे अनाथ नहीं कहा था। मैंने उस गाढ़े अवसर पर भी अनाथता अनुभव न की थी, वरन् अपने पुरुषार्थ पर अवलम्बित रह कर अपना काम निकाला। संभव है, मुनि को मेरे वैभव का पता न हो। इनकी आकृति से जान पड़ता है कि यह मुनिराज महान् ऋद्धि के धनी है, तो संभव है इनकी दृष्टि में मैं अनाथ जॅचता होऊँ।

राजा ने कहा—महाराज ! मैं मगध का अधीश्वर हूँ। मै सम्पूर्ण मगध का पालन-रक्षण करता हूॅ। मेरे राज्य में अनेक हाथी, घोड़े आदि विद्यमान हैं। वड़े-वड़े भाग्यशाली राजा मेरी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं और अपनी कन्याएॅ मुझे देकर अनुग्रहीत होते है। मेरी आज्ञा का अनादर करने का किसी मे साहस नहीं है। ऐसी स्थिति मे आप मुझे अनाथ क्यों कहते हैं ! मुनि होकर, मुझ सरीखे महान् ऐश्वर्यसम्पन्न सम्राट् को आप अनाथ कहते हैं। यह मिथ्याभाषण आश्चर्य उत्पन्न करता है। सूर्य प्रकाश न दे यह आश्चर्यजनक है, इसी प्रकार मुनि मिथ्या-भाषण करे यह भी आश्चर्यजनक है। मुनि कभी असत्य का प्रयोग नही करते। मुनिवर ! आपको असत्य न कहना चाहिए। आपके कथन का मर्म क्या है, कृपया स्पष्ट समझाइए।'

मुनि ने उत्तर दिया—'राजन् ! आप सनाथ-अनाथ का भेद नहीं जानते। इसी कारण आप यह कह रहे हैं और आश्चर्य मे पडे हुए हैं। मै आपको सनाथ-अनाथ का रूप समझाता हूँ। शान्त-चित्त से सुनिए। यह मेरे स्वानुभव की बात है, इसमे संदेह के लिए लेशमात्र अवकाश नहीं है।

म्बर है—वस्त्ररहित है, वह अपने दान से दूसरों का तन कैसे ढँकेगा ?'

शरीर भोगोपभोग के लिए है, यह विचार आते ही आत्मा गुलाम एव अनाथ बन जाती है। आप समझते हैं—अमुक वस्तु हमारे पास है, अतएव हम उसके स्वामी हैं। पर ज्ञानी जन कहते हैं—अमुक वस्तु तुम्हारे पास है, इसीलिए तुम उसके गुलाम हो—अतएव अनाथ हो। एक अज्ञान पुरुष सोने की कंठी पहन कर घमण्ड से चूर हो जाता है। वह दिखाना चाहता है कि मैं सोने का स्वामी हूँ, पर विवेकी पुरुष कहते हैं—'वह सोने का गुलाम है।' अगर वह सोने का गुलाम न होता तो सोना चला जाने पर उसे रोना क्यों पड़ता है ? वह सोने का आश्रय क्यों लेता है ? जहाँ पराश्रय है वहीं गुलामी है, जहाँ गुलामी है, वहीं अनाथता है।

मुनि ने राजा को अनाथ कहा। उसका भावार्थ यही है कि तुम जिन वस्तुओं के कारण अपने को नाथ समझते हो, उन्हीं वस्तुओं के कारण वास्तव मे तुम अनाथ हो। जब तुम स्वय अनाथ हो, तो दूसरे के नाथ कैसे बन सकते हो ? इस प्रकार जिन वस्तुओं पर तुम्हारा स्वामित्व नहीं है, वह वस्तु अगर दूसरों को प्रदान करोगे तो वह चोरी कहलाएगी, उसके लिए दण्ड का पात्र बनना पड़ेगा।

मुनिराज के इस कथन से राजा के विस्मय का ठिकाना न रहा। मगध के विशाल साम्राज्य का अधिपति श्रेणिक अनाथ है ! यह कल्पना ही उसे आश्चर्यजनक प्रतीत हुई। उसने सोचा—मुनि मुझे अनाथ कहते हैं, यह मेरे लिए अश्रुतपूर्व है। आज

तक मुझे किसी ने अनाथ नहीं कहा। मुझे घर-बार छोड़ कर बाहर भटकना पड़ा था—मुसीबतों मे मारा-मारा फिरता था, उस समय भी किसी ने मुझे अनाथ नहीं कहा था। मैने उस गाढ़े अवसर पर भी अनाथता अनुभव न की थी, वरन् अपने पुरुपार्थ पर अवलम्बित रह कर अपना काम निकाला। संभव है, मुनि को मेरे वैभव का पता न हो। इनकी आकृति से जान पड़ता है कि यह मुनिराज महान् ऋद्धि के धनी हैं, तो संभव है इनकी दृष्टि में मै अनाथ जॅचता होऊँ।

राजा ने कहा—महाराज ! मै मगध का अधीश्वर हूँ। मै सम्पूर्ण मगध का पालन-रक्षण करता हूँ। मेरे राज्य में अनेक हाथी, घोड़े आदि विद्यमान है। बड़े-बड़े भाग्यशाली राजा मेरी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं और अपनी कन्याएँ मुझे देकर अनुग्रहीत होते है। मेरी आज्ञा का अनादर करने का किसी मे साहस नही है। ऐसी स्थिति में आप मुझे अनाथ क्यों कहते हैं! मुनि होकर, मुझ सरीखे महान् ऐश्वर्यसम्पन्न सम्राट् को आप अनाथ कहते है। यह मिथ्याभापण आश्चर्य उत्पन्न करता है। सूर्य प्रकाश न दे यह आश्चर्यजनक है, इसी प्रकार मुनि मिथ्या-भाषण करे यह भी आश्चर्यजनक है। मुनि कभी असत्य का प्रयोग नही करते। मुनिवर ! आपको असत्य न कहना चाहिए। आपके कथन का मर्म क्या है, कृपया स्पष्ट समझाइए।'

मुनि ने उत्तर दिया—'राजन् ! आप सनाथ-अनाथ का भेद नहीं जानते। इसी कारण आप यह कह रहे है और आश्चर्य मे पड़े हुए हैं। मै आपको सनाथ-अनाथ का रूप समझाता हूँ। शान्त-चित्त से सुनिए। यह मेरे स्वानुभव की बात है, इसमे संदेह के लिए लेशमात्र अवकाश नहीं है।

'कौशाम्बी नाम की नगरी में मेरे पिता रहते थे। उनके पास प्रचुर धन सम्पत्ति थी। मेरा लालन पालन अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया गया था। मुझे किसी चीज की कमी न थी। मेरी बाल्य अवस्था बड़े आनन्द से व्यतीत हुई। जब मैं तरुण अवस्था में आया तो सुयोग्य कन्या के साथ मेरा विवाह संबंध हुआ। आप जिस अवस्था को भोग भोगने योग्य कहते हैं, उसी अवस्था मे आपके बताये हुए समस्त साधन विद्यमान होने पर भी मेरी क्या दशा हुई सो ध्यान से सुनिये। युवावस्था में मेरी आँखों में रोग उत्पन्न हो गया। उसके कारण मुझे तीव्र वेदना होने लगी। नेत्र पीड़ा के साथ ही साथ मेरे सम्पूर्ण शरीर में दुःसह संताप फूट पड़ा। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानों सारा शरीर आग मे रख दिया गया है।

राजन्! आप शासन के संचालक हैं। अगर आपके सामने कोई किसी की आँखों में सुई भौंक दे या किसी का शरीर जला दे तो आप क्या करेंगे?'

राजा ने कहा—'मेरे राज्य में किसी ने अपराध किया हो और पता लगने पर भी मैंने अपराधी को दंड न दिया हो, यह आज तक नहीं हुआ।'

मुनि—'राजन्! बाहर के अपराधी से आप मेरी रक्षा कर सकते थे, पर जिस शैतान रोग ने मुझ पर आक्रमण किया था, उससे मुझे कौन बचा सकता था? क्या आपके राज्य में रोग का आक्रमण नहीं होता? क्या आप उस आक्रमण का सामना करने के लिए कभी प्रयत्नशील हुए और प्रजा की रोग से रक्षा की है? क्या अब आपके राज्य में प्रजा रुग्ण नहीं

होती ? अगर रोग से आप अपने प्रजाजनो की रक्षा नहीं कर सकते तो उनके नाथ कैसे कहला सकते हैं ? इस दृष्टि से विचार करो तो प्रजा का नाथ होना तो दूर रहा, आप अपने खुद के 'नाथ' भी नहीं ! मै इसी प्रकार का अनाथ था। अगर यह कहा जाय कि रोग से किस प्रकार रक्षा की जा सकती है ? वह तो अपने हाथ की बात नहीं है। तो फिर नाथ'होने का दावा क्यो करना चाहिए ? नम्रतापूर्वक अपनी अनाथता स्वीकार करनी चाहिए, जिससे सनाथ बनने का उपाय सूझ पड़े और उसके लिए प्रयत्न भी किया जा सके'।

राजन् ! तुम बाहर के शत्रुओ को देखते हो, पर भीतर जो शत्रु छिपे बैठे है उन्हें क्यो नहीं देखते ? भीतर के शत्रु ही तो असली शत्रु है। उन्हे जो जीत नही सकता, वह नाथ कैसा ? अतएव तुम स्वय भी अनाथ हो।'

राजा—'आपको बड़ी असह्य वेदना थी ?'

मुनिराज—'मै क्या बताऊँ ! आँखों मे तीव्र वेदना थी जैसे कोई तीक्ष्ण भाला लेकर उनमे चुभा रहा हो। आप विचार कीजिए कि उस समय जो शत्रु मुझे घोर वेदना पहुँचा रहा था उसे पराजित न कर सकने वाला सनाथ है या अनाथ है ? एक ओर मेरी आँखों मे पीड़ा थी, दूसरी ओर दर्द के मारे कमर टूटी जाती थी। इसके अतिरिक्त, जिसे उत्तमांग कहते है और जो ज्ञान का केन्द्रभूत मस्तिष्क है, उसमें भी इतनी पीड़ा थी मानों इन्द्र वज्र का प्रहार कर रहा है। इस प्रकार मेरा सारा शरीर पीड़ा से छटपटा रहा था।

आप कह सकते हैं कि उस वेदना का प्रतीकार करने के लिए वैद्य की सहायता लेनी चाहिए थी। पर जितने बड़े-बड़े

'कौशाम्बी नाम की नगरी में मेरे पिता रहते थे। उनके पास प्रचुर धन सम्पत्ति थी। मेरा लालन पालन अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया गया था। मुझे किसी चीज की कमी न थी। मेरी बाल्य अवस्था बड़े आनन्द से व्यतीत हुई। जब मैं तरुण अवस्था में आया तो सुयोग्य कन्या के साथ मेरा विवाह संबंध हुआ। आप जिस अवस्था को भोग भोगने योग्य कहते हैं, उसी अवस्था में आपके बताये हुए समस्त साधन विद्यमान होने पर भी मेरी क्या दशा हुई सो ध्यान से सुनिये। युवावस्था में मेरी आँखों में रोग उत्पन्न हो गया। उसके कारण मुझे तीव्र वेदना होने लगी। नेत्र पीड़ा के साथ ही साथ मेरे सम्पूर्ण शरीर में दुःसह सताप फूट पड़ा। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो सारा शरीर आग में रख दिया गया है।

राजन्! आप शासन के सचालक हैं। अगर आपके सामने कोई किसी की आँखों में सुई भोंक दे या किसी का शरीर जला दे तो आप क्या करेंगे?'

राजा ने कहा—'मेरे राज्य में किसी ने अपराध किया हो और पता लगने पर भी मैंने अपराधी को दंड न दिया हो, यह आज तक नहीं हुआ।'

मुनि—'राजन्! बाहर के अपराधी से आप मेरी रक्षा कर सकते थे, पर जिस शैतान रोग ने मुझ पर आक्रमण किया था, उससे मुझे कौन बचा सकता था? क्या आपके राज्य में रोग का आक्रमण नहीं होता? क्या आप उस आक्रमण का सामना करने के लिए कभी प्रयत्नशील हुए और प्रजा की रोग से रक्षा की है? क्या अब आपके राज्य में प्रजा रुग्ण नहीं

होती? अगर रोग से आप अपने प्रजाजनों की रक्षा नहीं कर सकते तो उनके नाथ कैसे कहला सकते है? इस दृष्टि से विचार करो तो प्रजा का नाथ होना तो दूर रहा, आप अपने खुद के 'नाथ' भी नही! मै इसी प्रकार का अनाथ था। अगर यह कहा जाय कि रोग से किस प्रकार रक्षा की जा सकती है? वह तो अपने हाथ की बात नही है। तो फिर नाथ होने का दावा क्यों करना चाहिए? नम्रतापूर्वक अपनी अनाथता स्वीकार करनी चाहिए, जिससे सनाथ बनने का उपाय सूझ पड़े और उसके लिए प्रयत्न भी किया जा सके।

राजन्! तुम बाहर के शत्रुओ को देखते हो, पर भीतर जो शत्रु छिपे बैठे हैं उन्हें क्यो नहीं देखते? भीतर के शत्रु ही तो असली शत्रु है। उन्हें जो जीत नही सकता, वह नाथ कैसा? अतएव तुम स्वय भी अनाथ हो।'

राजा—'आपको बड़ी असह्य वेदना थी?'

मुनिराज—'मै क्या बताऊँ! आँखो में तीव्र वेदना थी जैसे कोई तीक्ष्ण भाला लेकर उनमे चुभा रहा हो। आप विचार कीजिए कि उस समय जो शत्रु मुझे घोर वेदना पहुँचा रहा था उसे पराजित न कर सकने वाला सनाथ है या अनाथ है? एक ओर मेरी आँखों मे पीड़ा थी, दूसरी ओर दर्द के मारे कमर टूटी जाती थी। इसके अतिरिक्त, जिसे उत्तमांग कहते है और जो ज्ञान का केन्द्रभूत मस्तिष्क है, उसमे भी इतनी पीड़ा थी मानों इन्द्र वज्र का प्रहार कर रहा है। इस प्रकार मेरा सारा शरीर पीड़ा से छटपटा रहा था।

आप कह सकते हैं कि उस वेदना का प्रतीकार करने के लिए वैद्य की सहायता लेनी चाहिए थी। पर जितने बड़े-बड़े

चिकित्सकों का उस समय पता चला, सब से चिकित्सा कराई गई। दवा मे किसी प्रकार की कोरकसर नहीं की गई। नाना प्रकार की चिकित्सा प्रणालियों का अवलम्बन किया गया, पर फल कुछ भी नहीं निकला। बड़े बड़े प्रतिष्ठित आयुर्वेदज्ञ, ऑपरेशन करने में कुशल, मत्र विद्या विशारद लोग अपना कौशल दिखाते दिखाते थक गये। वेदना नहीं मिटी, सो नहीं मिटी। अब कहो मैं उस समय सनाथ था ?

राजन्! तुमने जिस शरीर की प्रशसा की है और जिस शरीर को भोग के योग्य बताया है, उसी शरीर में यह पीड़ा उत्पन्न हुई थी। उस समय मुझे यह विचार आया कि मैं इस शरीर के कारण ही इतना कष्ट भुगत रहा हूँ। अगर मुझे विष मिल जाय तो विष पान करके इस मार्मिक पीड़ा से मुक्त होऊँ। मगर फिर सोचा—विषपान करने से भी शरीर का सर्वथा अन्त न होगा। शरीर-उत्पत्ति के कारणभूत कर्म जब तक विद्यमान हैं तब तक एक शरीर का अन्त होने से क्या लाभ है ? एक के पश्चात् दूसरा शरीर प्राप्त होगा और वह भी इसी प्रकार का होगा। शरीर की यह परम्परा जब तक नहीं मिट जाती तब तक एक शरीर का त्याग करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त मैंने सोचा—जिस शरीर के कारण मुझे इतने कष्ट भोगने पड़ रहे हैं, उस शरीर का नाथ मैं अपने आप को क्यों मानूँ ? यह खोटी मान्यता ही सब अनर्थों की जड़ है। जब शरीर का ही यह हाल है तो आत्मीय जनों का तथा धन दौलत का क्या ठिकाना है ? उसका कोई नाथ कैसे हो सकता है ? मुझे इस घटना से शरीर और आत्मा के पार्थक्य का भान हुआ। मैंने समझा—इस पीड़ा का कारण स्वयं मैं हूँ। अज्ञान के कारण मैं पर पदार्थों को

आत्मीय मान रहा हूँ। मैं अपने शरीर का भी नाथ नहीं हूँ, अगर शरीर का नाथ होता तो उस पर मेरा अधिकार होता। मेरी इच्छा के बिना यह रुग्ण क्यों होता ? वेदना का कारण क्यों बनता ? जीर्ण क्यों होता ? यह सब शरीरधारी की इच्छा के विरुद्ध होता है, अतएव यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने शरीर का नाथ नहीं है।'

मित्रो ! अनाथी मुनि की कथा विस्तृत और भावपूर्ण है। उसे यहाँ पूर्ण रूप से नहीं कहा जा सकता। 'मै' और 'मेरा' वास्तव मे क्या है, यह स्पष्ट करने के लिए अनाथी मुनि की कथा उपयोगी है। इससे यह बात सहज ही समझी जा सकती है कि पर-पदार्थों मे ममत्व धारण करना भ्रममात्र है।

ध्यानी महात्मा सातवें नरक मे जाएँगे तो मुझ जैसे पापी की क्या गति होगी ? प्रभो ! स्पष्ट रूप से समझाइए कि सब से अधिक वेदना वाले सातवें नरक में वे महात्मा क्यो जाएँगे ?

भगवान् ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—राजन्, अब उनकी भाव-स्थिति बदली है। अतएव इस समय काल करें तो सर्वार्थसिद्ध विमान मे उत्पन्न हों !

भगवान् की वाणी पर अटल श्रद्धा रखता हुआ भी श्रेणिक राजा गड़बड़ मे पड़ गया। उसने सोचा—कहाँ सर्वार्थसिद्ध विमान और कहाँ सातवाँ नरक ! दोनो परस्पर विरोधी दो सिरो पर है। एक सांसारिक सुख का सर्वोत्तम स्थान है और दूसरा दुःख का सर्वोत्तम स्थान है ! एक का जीवन अगले भव में मोक्ष जाना ही है और दूसरे से निकलने वाला अगले भव में मोक्ष जा ही नहीं सकता ! क्षण भर मे इतना बड़ा भारी परिवर्तन ! यह कैसे सम्भव है ? इस प्रकार सोचकर श्रेणिक ने फिर प्रश्न किया—प्रभो ! अभी-अभी तो आपने सातवे नरक के लिए कहा था और अब आप सर्वार्थसिद्ध विमान मे उत्पन्न होने की बात कहते है ! आखिर इसका कारण क्या है ?

राजा श्रेणिक इस प्रकार प्रश्न कर ही रहा था कि उसी समय देवदुंदुभी का श्रुतिमधुर निर्घोष राजा के कानो में सुनाई दिया। राजा ने पूछा—प्रभो ! यह दुंदुभी कहाँ और क्यों बजी है ?

भगवान् ने कहा—प्रसन्नचन्द्र ऋषि सर्वज्ञ हो गये हैं !

राजा श्रेणिक चकित रह गया ! उसने कहा–देवाधिदेव ! कुछ समझ मे नहीं आया ! अभी आपने कहा था कि अभी

मन की चपलता का प्रभाव

[श्री प्रसन्नचन्द्र राजर्षि]

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र ध्यान में बैठे हुए थे। वे ऊपर से तो ऐसे दीखते थे मानो आत्मा या परमात्मा में चित्त को लगाए हुए हैं, लेकिन वास्तविक बात कुछ और थी। राजा श्रेणिक ने प्रसन्नचन्द्र ऋषि को इस प्रकार ध्यान में बैठे देखा। उसे आश्चर्य हुआ कि इन ऋषि का ऐसा प्रगाढ ध्यान है! इस प्रकार उनके ध्यान से प्रभावित होकर राजा ने भगवान् से पूछा—प्रभो! प्रसन्नचन्द्र ऋषि का जैसा ध्यान मैंने देखा है वैसा ध्यान किसी दूसरे का नहीं देखा। अगर वे इस समय शरीर का त्याग करें तो किस गति को प्राप्त हों?

राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा—अगर वे इस समय काल करें तो सातवें नरक में जाएँ।

यह उत्तर सुनकर श्रेणिक के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने पूछा—भगवन्! ऐसा क्यों? और जब ऐसे

ध्यानी महात्मा सातवें नरक में जाएँगे तो मुझ जैसे पापी की क्या गति होगी ? प्रभो ! स्पष्ट रूप से समझाइए कि सब से अधिक वेदना वाले सातवें नरक में वे महात्मा क्यों जाएँगे ?

भगवान् ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—राजन्, अब उनकी भाव-स्थिति बदली है। अतएव इस समय काल करें तो सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हों !

भगवान् की वाणी पर अटल श्रद्धा रखता हुआ भी श्रेणिक राजा गड़बड़ में पड़ गया। उसने सोचा—कहाँ सर्वार्थसिद्ध विमान और कहाँ सातवाँ नरक ! दोनों परस्पर विरोधी दो सिरों पर हैं। एक सांसारिक सुख का सर्वोत्तम स्थान है और दूसरा दुःख का सर्वोत्तम स्थान है ! एक का जीवन अगले भव में मोक्ष जाना ही है और दूसरे से निकलने वाला अगले भव में मोक्ष जा ही नहीं सकता ! क्षण भर में इतना बड़ा भारी परिवर्तन ! यह कैसे सम्भव है ? इस प्रकार सोचकर श्रेणिक ने फिर प्रश्न किया—प्रभो ! अभी-अभी तो आपने सातवें नरक के लिए कहा था और अब आप सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होने की बात कहते हैं ! आखिर इसका कारण क्या है ?

राजा श्रेणिक इस प्रकार प्रश्न कर ही रहा था कि उसी समय देवदुंदुभी का श्रुतिमधुर निर्घोष राजा के कानों में सुनाई दिया। राजा ने पूछा—प्रभो ! यह दुंदुभी कहाँ और क्यों बजी है ?

भगवान् ने कहा—प्रसन्नचन्द्र ऋषि सर्वज्ञ हो गये हैं !

राजा श्रेणिक चकित रह गया ! उसने कहा—देवाधिदेव ! कुछ समझ में नहीं आया ! अभी आपने कहा था कि अभी

काल करें तो सातवें नरक में जाएँ, फिर कहा कि सर्वार्थसिद्ध विमान में जाएँ और अब आप कहते हैं कि वे सर्वज्ञ हो गए हैं! मैं इसका मर्म समझना चाहता हूँ और उनका चरित सुनने की इच्छा करता हूँ। मुझ अज्ञ प्राणी पर अनुग्रह कीजिए!

भगवान् ने कहा—राजन्! प्रसन्नचन्द्र ऋषि पोतनपुर के राजा थे। उन्हें संसार से वैराग्य हो गया और वे संयम ग्रहण करने के लिए उद्यत हुए। मगर उनके सामने एक समस्या खड़ी हुई कि लड़का अभी छोटा है। इसे किसके सहारे छोड़ा जाय? इस विचार के कारण संयम ग्रहण करने में विलम्ब हो रहा था। परन्तु उनके किसी हितैषी ने अथवा उनके अन्तरात्मा ने कहा कि धर्मकार्य में ढील नहीं करना चाहिए। 'शुभस्य शीघ्रम्' होना चाहिए।

प्रसन्नचन्द्र ने कहा—तुम्हारा कहना ठीक है। मुझे संसार से विरक्ति हो गई है और यह विरक्ति ऊपरी नहीं भीतरी है, क्षणिक नहीं, स्थायी है, मगर विलम्ब का कारण यह है कि पुत्र छोटा है। उसे किसके भरोसे छोड़ा जाय?

प्रसन्नचन्द्र के इस कथन का उन्हें उत्तर मिला—अगर आज ही तुम्हें मृत्यु आ घेरे तो छोटे बालक की रक्षा कौन करेगा? वैराग्य के साथ मोह ममता के यह विचार शोभा नहीं देते। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को यह कथन ठीक मालूम हुआ और उन्होंने संयम लेने की तैयारी की। संयम लेने से पहले उन्होंने अपने पाँच सौ कार्यकर्त्ताओं को बुलाकर उनसे कहा—यह बालक छोटा है। यह तुम्हारे सहारे है। जब तक यह बड़ा न हो जाय, इसकी सँभाल रखना। कर्मचारियों ने आश्वासन देते हुए कहा—

आपकी आज्ञा प्रमाण है। हम राजकुमार की सँभाल करेंगे और प्राण भले दे देंगे मगर इन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देंगे।

प्रसन्नचन्द्र ने पूर्ण वैराग्य के साथ संयम ग्रहण किया। मगर ऐसे उत्कट वैरागी की भावना में भी दूषण लग गया था। अतएव तुम्हारे पूछने पर मैने यह कहा था कि यदि वे इस समय काल करे तो सातवें नरक मे जावें।

राजा श्रेणिक ने फिर प्रश्न किया—प्रभो! उनकी भावना किस प्रकार दूषित हुई ?

भगवान्—जिस समय तुम सेना लेकर यहाँ आ रहे थे, उस समय प्रसन्नचन्द्र ऋषि ध्यान मे बैठे थे। तुम अपनी सेना के आगे-आगे दो आदमियों को इसलिए चला रहे थे कि वे भूमि देखते रहे और कोई जीव कुचल न जाय। दोनो आदमी मार्ग साफ करते जाते थे। उन दोनो ने भी प्रसन्नचन्द्र ऋषि को देखा। उनमे से एक ने कहा—यह महात्मा कितने त्यागी और कैसे तपस्वी हैं। देखो, किस तरह ध्यान मे डूबे हुए हैं! इनके लिए जगत् की सम्पदा तुच्छ है।

एक आदमी के इस प्रकार कहने पर दूसरे ने कहा—तू भूल रहा है। यह महान् पापी और ढोंगी है। इसके समान पापी और ढोगी शायद ही कोई दूसरा होगा।

पहले आदमी ने साश्चर्य पूछा—क्यो ? यह पापी क्यो हैं ?

दूसरा आदमी बोला—अपने नादान बालक को अपने कर्मचारियों के भरोसे छोड़ कर साधु हुआ है। मगर उन कर्मचारियो की नीयत बिगड़ गई है। वे सब आपस में मिल गये

काल करें तो सातवें नरक में जाएँ, फिर कहा कि सर्वार्थसिद्ध विमान में जाएँ और अब आप कहते हैं कि वे सर्वज्ञ हो गए हैं! मैं इसका मर्म समझना चाहता हूँ और उनका चरित सुनने की इच्छा करता हूँ। मुझ अज्ञ प्राणी पर अनुग्रह कीजिए!

भगवान् ने कहा—राजन्! प्रसन्नचन्द्र ऋषि पोतनपुर के राजा थे। उन्हें ससार से वैराग्य हो गया और वे सयम ग्रहण करने के लिए उद्यत हुए। मगर उनके सामने एक समस्या खड़ी हुई कि लड़का अभी छोटा है। इसे किसके सहारे छोड़ा जाय? इस विचार के कारण सयम ग्रहण करने में विलम्ब हो रहा था। परन्तु उनके किसी हितैषी ने अथवा उनके अन्तरात्मा ने कहा कि धर्मकार्य में ढील नहीं करना चाहिए। 'शुभस्य शीघ्रम्' होना चाहिए।

प्रसन्नचन्द्र ने कहा—तुम्हारा कहना ठीक है। मुझे ससार से विरक्ति हो गई है और यह विरक्ति ऊपरी नहीं भीतरी है, क्षणिक नहीं, स्थायी है, मगर विलम्ब का कारण यह है कि पुत्र छोटा है। उसे किसके भरोसे छोड़ा जाय?

प्रसन्नचन्द्र के इस कथन का उन्हें उत्तर मिला—अगर आज ही तुम्हें मृत्यु आ घेरे तो छोटे बालक की रक्षा कौन करेगा? वैराग्य के साथ मोह ममता के यह विचार शोभा नहीं देते। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को यह कथन ठीक मालूम हुआ और उन्होंने सयम लेने की तैयारी की। सयम लेने से पहले उन्होंने अपने पाँच सौ कार्यकर्त्ताओं को बुलाकर उनसे कहा—यह बालक छोटा है। यह तुम्हारे सहारे है। जब तक यह बड़ा न हो जाय, इसकी सँभाल रखना। कर्मचारियों ने आश्वासन देते हुए कहा—

भगवान् ने उत्तर दिया—प्रसन्नचन्द्र ध्यान-मुद्रा में बैठे-बैठे भी क्रोध के आवेश में आकर युद्ध करने लगे थे। उसी क्रोधावेश में उनका हाथ अपने मस्तक पर जा पहुँचा। उन्होंने अपने सिर पर हाथ फेरा तो उन्हें विदित हुआ कि मेरे सिर पर केश नहीं हैं। यह सोचते ही उन्हें सुध आई कि—अरे! मैं तो त्यागी हूँ! फिर भी ऐसे प्रपंच मे पड़ा हूँ! मैंने जिसे त्याग दिया है, उसी के लिए फिर संसार मे जाने की या चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? जिसे वमन कर दिया है उसे फिर अपनाने का विचार ही अशोभनीय है!

इस कथा के आधार पर आपको अपने सम्बन्ध मे विचार करने की आवश्यकता है। आप अपने मन की गति पर विचार कीजिए। आप यहाँ बैठे है पर आपका मन कहाँ जा रहा है? प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान मे बैठे थे, परन्तु उनका मन कहाँ से कहाँ चला गया था! और उसका परिणाम क्या हुआ? इसी प्रकार आप बैठे तो यहाँ है, मगर आपका मन अन्यत्र चला गया तो उसका परिणाम क्या होगा?
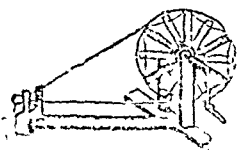
हैं और राजपुत्र की घात करने की फिराक में हैं। जब वे लोग उसे मार डालेंगे तो यह निपूता मरेगा ! यह इसका पापीपन नहीं है ? इसने कैसी भयानक भूल की है ! दूध की रक्षा के लिए बिल्ली को नियत करना जैसे मूर्खता है, उसी प्रकार राजकुमार को कर्मचारियों के भरोसे छोड़ना मूर्खता है। इसकी मूर्खता के कारण ही अज्ञान बालक को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ेगी और यह मरकर नरक में जायगा !

श्रेणिक, तुम्हारे दोनों आदमियों की आपस की बात ऋषि प्रसन्नचन्द्र ने सुनी। यह बातें सुनकर उनके वैराग्य की भावना बदल गई। वह सोचने लगे—दुष्ट कृतघ्न लोग मेरे पुत्र की हत्या करना चाहते हैं ! मैं ऐसा कदापि नहीं होने दूँगा। मुझ में बल की कमी नहीं है। अब तक मुझे राज्यबल ही प्राप्त था पर अब मैं योगबल का भी अधिकारी हूँ। इन दोनों बलों द्वारा उन दुष्टों को बुरी तरह कुचल दूँगा।

प्रसन्नचन्द्र ऋषि के चित्त में इस प्रकार अहंकार का उदय हुआ और प्रतिशोध की भावना उत्पन्न हुई। वे अपने मन में अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प करने लगे। यहाँ तक कि वे मन ही मन घोर युद्ध करने लगे। अपने शत्रुओं का संहार करने लगे। जब वे ऐसा कर रहे थे तभी तुमने प्रश्न किया कि वे काल करें तो कहाँ जाव ? तुम उन्हें ध्यान में मग्न समझते थे और मैं देखता था कि वे घोर युद्ध में प्रवृत्त हैं। इसी कारण मैंने कहा था कि अगर वे इस समय काल करें तो सातवें नरक में जावें।

राजा श्रेणिक की उत्कंठा और बढ़ी। उसने प्रश्न किया—भगवन् ! फिर आपने सर्वार्थसिद्ध विमान में जाने के लिए कैसे कहा ?

अर्जुन माली अकेला ही अपना काम नहीं करता था। उसकी पत्नी भी उसकी सहायता करती थी। आजकल की स्त्रियाँ प्रायः अपने पतियों को बोझ रूप हो रही है। पहले की स्त्रियाँ ऐसी नहीं थी—उनका ढंग कुछ और ही था। आज पुरुषो पर अपनी स्त्री की जोखिम बनी रहती है, और इसीलिए स्त्री, पुरुष के लिए भाररूप हो पड़ी है। पुरुषो को सदा ही यह चिन्ता लगी रहती है कि हमारी स्त्री की ओर कोई बुरी नजर से न देखे और उसका अपमान न करे। उसे कोई बहका कर उड़ा न ले जाय। इस स्थिति के लिए उत्तरदाता कौन है—पुरुषवर्ग या स्वयं महिला-समाज ? मै इस झंझट में पड़ना नहीं चाहता। किसी समूह को अवांछनीय स्थिति मे डालने वाला दूसरा समूह अगर दोषी हो तो भी अवांछनीय स्थिति मे पड़ने वाले समूह को निर्दोष नहीं कहा जा सकता। मगर इस अभियोग-प्रणाली को दूर रखकर मैं तो यही कहना चाहता हूँ कि प्राचीन काल मे महिला-समाज की ऐसी स्थिति नही थी। स्त्रियाँ, पुरुषो की अर्द्धांगिनी की हैसियत से उनकी सहायता किया करती थीं। वे न केवल व्यावहारिक कार्यों मे ही, वरन् धार्मिक कार्यों मे भी पुरुषो की सहायिका बनती थीं। उपासकदशांग सूत्र मे स्त्रियो को 'धम्मसहाया' अर्थात् धर्म मे सहायता पहुँचाने वाली कहा है। स्त्रियाँ वीरता मे पुरुषो से किसी प्रकार हीन नही होती।

अर्जुन माली की स्त्री का नाम बन्धुमती था। उस दिन नगर मे बड़ा उत्सव था। अतएव पति-पत्नी दोनों, कुछ रात रहते ही फूल चुनने के लिए बगीचे मे जा चुके थे।

इसी नगर मे ललित गोष्ठी के छह जवान लडके बड़े गुंडे थे। इन्होंने पहले कोई ऐसा काम कर दिखाया था कि राजा

माली अर्जुन

राजगृह नगर में अर्जुन नामक माली बगीचे में बागवानी का धंधा करता था। बागवानी का काम उसके यहाँ कई पीढ़ियों से चला आता था। जो मनुष्य अपना पीढ़ीजात धंधा करता है, उसका उस धंधे में गहरा और निराला ही अनुभव होता है। जो चलते रास्ते दूसरे के धंधे को उड़ा लेता है और अपना परम्परागत धंधा त्याग देता है, वह उस धंधे को हानि पहुँचाता है। वह परम्परागत व्यवसाय को भी क्षति पहुँचाता है और नवीन व्यवसाय को भी। इससे समाज में बड़ी गड़बड़ी मचती है और अव्यवस्था फैल जाती है। इसी कारण भारतवर्ष में वर्ण व्यवस्था की स्थापना की गई थी और यह नियम बनाया गया था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना परम्परागत व्यवसाय ही करना चाहिए। अगर कोई अपना व्यवसाय त्याग कर दूसरे के व्यवसाय में हाथ डाले तो राजा को हस्तक्षेप करके उसे रोकना चाहिए। अगर ऐसा न किया जाय तो वर्णसंकरता फैल जायगी।

अर्जुन माली अकेला ही अपना काम नहीं करता था। उसकी पत्नी भी उसकी सहायता करती थी। आजकल की स्त्रियाँ प्रायः अपने पतियो को बोझ रूप हो रही हैं। पहले की स्त्रियाँ ऐसी नहीं थीं—उनका ढंग कुछ और ही था। आज पुरुषो पर अपनी स्त्री की जोखिम बनी रहती है, और इसीलिए स्त्री, पुरुष के लिए भाररूप हो पड़ी है। पुरुषो को सदा ही यह चिन्ता लगी रहती है कि हमारी स्त्री की ओर कोई बुरी नजर से न देखे और उसका अपमान न करे। उसे कोई बहका कर उड़ा न ले जाय। इस स्थिति के लिए उत्तरदाता कौन है—पुरुषवर्ग या स्वयं महिला-समाज ? मैं इस झंझट में पड़ना नहीं चाहता। किसी समूह को अवांछनीय स्थिति मे डालने वाला दूसरा समूह अगर दोषी हो तो भी अवांछनीय स्थिति मे पड़ने वाले समूह को निर्दोष नहीं कहा जा सकता। मगर इस अभियोग-प्रणाली को दूर रखकर मैं तो यही कहना चाहता हूँ कि प्राचीन काल मे महिला-समाज की ऐसी स्थिति नहीं थी। स्त्रियाँ, पुरुषो की अर्द्धांगिनी की हैसियत से उनकी सहायता किया करती थीं। वे न केवल व्यावहारिक कार्यों मे ही, वरन् धार्मिक कार्यों मे भी पुरुषो की सहायिका बनती थीं। उपासकदशांग सूत्र मे स्त्रियो को 'धम्मसहाया' अर्थात् धर्म मे सहायता पहुँचाने वाली कहा है। स्त्रियाँ वीरता मे पुरुषो से किसी प्रकार हीन नहीं होतीं।

अर्जुन माली की स्त्री का नाम बन्धुमती था। उस दिन नगर मे बड़ा उत्सव था। अतएव पति-पत्नी दोनो, कुछ रात रहते ही फूल चुनने के लिए बगीचे मे जा चुके थे।

इसी नगर मे ललित गोष्ठी के छह जवान लड़के बड़े गुंडे थे। इन्होंने पहले कोई ऐसा काम कर दिखाया था कि राजा

इनके प्रति कृतज्ञ से थे। अब वे भला बुरा कोई भी काम करें उन्हें कोई रोकने वाला नहीं था। उनकी धाक नगर भर में जम गई थी, अतएव किसी को बोलने का साहस भी नहीं होता था। यह गुंडे अपनी धाक का अत्यन्त अनुचित उपयोग करने लगे। उस दिन यह युवक अर्जुन माली के बगीचे में पहुँचे। यह लोग अर्जुन माली के पहुँचने से पहले ही वहाँ जा धमके थे। जब अर्जुन ने अपनी स्त्री के साथ बगीचे में प्रवेश किया, तब इनमें से एक की दृष्टि उसकी स्त्री पर पड़ी। उसे देखते ही उनके हृदय में दुर्वासना उत्पन्न हुई और वे किवाड़ों के पीछे छिप गये। जब अर्जुन माली अपनी स्त्री सहित यक्ष की वन्दन करने लगा तभी उन्होंने उसे पकड़ कर बाँध लिया।

इन पापियों ने अर्जुन माली के सामने ही उसकी स्त्री का सतीत्व भंग किया। स्त्री कुछ न बोली। जो स्त्री अपने सतीत्व को हीरे से बढ़कर समझती है, उसकी आँखों में तेज का ऐसा प्रकृष्ट पुंज विद्यमान रहता है कि उसका सामना होते ही पापों की निर्बल आत्मा थर थर काँपने लगती है। पर खेद, इस स्त्री ने अपने सतीत्व का जरा भी मूल्य न समझा।

अपनी आँखों के आगे, अपनी पत्नी का यह व्यवहार देख कर अर्जुन माली क्रोध से तिलमिला उठा। उसका समस्त शरीर गुस्से से जलने लगा। असह्य क्रोध से वह अपना सिर धुनने लगा। पर वह विवश था—बन्धनों में जकड़ा हुआ।

यह घटना यक्ष के मन्दिर पर घटी थी। अर्जुन माली इस यक्ष का बड़ा भक्त था। उसके पूर्वज भी यक्ष की पूजा करते आये थे। आज अर्जुन माली ने यक्ष से प्रार्थना की—'हे यक्ष ! हम

तुम्हें कई पीढ़ियों से पूजते आते हैं। क्या उसका प्रतिफल मुझे कुछ भी नहीं मिलेगा ? इस महान् संकट-काल में भी तुम मेरी मदद न करोगे ? अगर अब काम न आये, तो कब आओगे ?

अर्जुन माली के हृदय की पुकार यक्ष ने सुनी। वह प्रकट हुआ और अर्जुन के शरीर में प्रविष्ट हो गया। उसके बंधन तड़ा-तड़ तड़क गये। यक्ष की मूर्ति के हाथ में एक बड़ा भारी मुद्गर था। अर्जुन माली ने बंधनमुक्त होते ही मुद्गर उठाया और उन छहों मदोन्मत्त युवकों को और अपनी स्त्री को यमलोक पहुँचा दिया। पाप का घड़ा फूट पड़ा।

शरीर में यक्ष के प्रवेश से अर्जुन माली में अपार बल आ गया था। वह क्रोध से पागल हो उठा। जिस नगर-निवासी पर उसकी दृष्टि पड़ती थी, उसी को बिना मारे वह नहीं रहता था। उनके मन में यह संस्कार सुदृढ़ हो गया था कि इन युवकों को सांड बनाने वाले यह नगरनिवासी ही है। यह लोग उन्हें आसमान पर न चढ़ाते, तो उनकी क्या मजाल थी कि वे इतना अत्याचार अनाचार करते ?

अर्जुन माली के इस राक्षसी व्यवहार की खबर बिजली की तरह सारे राजगृह में फैल गई। राजा श्रेणिक के कानों तक भी यह समाचार पहुँचा। श्रेणिक ने, शहर के बाहर न निकलने की आज्ञा घोषित कर दी। यह आज्ञा भंग करने पर अगर अर्जुन माली किसी का वध कर डाले तो हमारा उत्तरदायित्व नहीं है, यह भी सर्वसाधारण को सूचित कर दिया।

राजा की और नगर-निवासियों की कितनी कायरता है ? इस कायरता ने ही उनके दुःखों की वृद्धि की। अगर उन्होंने

कायरता न दिखाइ होती और बहादुरी से योग्य प्रतीकार किया होता तो उन्हें इतनी मुसीबत न उठानी पड़ती। पर प्रकृति यहाँ तो कुछ और ही खेल दिखाना चाहती थी। सुदर्शन की भक्ति की शक्ति का परिचय कराना था।

पाँच महीने से कुछ अधिक समय तक अर्जुन माली नागरिकों को कष्ट पहुँचाता रहा। यह उनकी कायरता का प्रायश्चित्त था।

सयोगवश इसी समय भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर के बाहर एक उद्यान में पधारे। नगर निवासियों ने भगवान् के पधारने का वृत्तान्त सुना, पर अर्जुन माली के भय से कोई बाहर न निकला।

सुदर्शन भगवान् का अनन्य भक्त था। उसने भगवान् के पधारने का सवाद सुना। उसे बिना भगवान् के दर्शन किये चैन नहीं पड़ा। वह प्रभु दर्शन के लिए माता पिता की आज्ञा से जाना चाहता था। माता पिता ने उसे बहुत कुछ समझाया— 'बेटा ! तेरे न जाने से कुछ हानि न होगी। तेरा वहाँ काम क्या अटका है ? नगर की चिरैया बाहर नहीं जाती, तो तू ही क्यों जाता है ?'

लेकिन सुदर्शन डरपोक नहीं था। वह अपने सकल्प पर दृढ रहा और प्रभु के दर्शन के निमित्त घर से निकल पड़ा। नगर की हवेलियों की छतों पर बैठे हुए नर नारियों के समूह सुदर्शन को देख रह थे। उनमें से कोई उसे जाने से रोकता था और कोई कहता था—देखो, इसे मौत लिये जा रही है। शहर का कोई बच्चा तो बाहर नहीं निकलता और यह भगतराज बनने चले हैं।

दूसरा कोई कहता—'अजी, जाने भी दो, हमारा क्या लिया ? बच्चू जाते हैं पर लौट कर नहीं आने के। अर्जुन माली देखेगा तो मुद्गर की मार से चटनी बना डालेगा। तब पता चलेगा, भक्ति कैसी होती है! भगवान् तो ज्ञानी है। वे घट-घट की बात जानते हैं। घर मे बैठा-बैठा वन्दना कर लेता तो क्या वे स्वीकार न करते ?'

सुदर्शन सब बातें सुनी-अनसुनी करता हुआ आगे बढ़ता चला जाता था। क्रमशः नगर को पार कर वह और बाहर हो गया। नगर के बाहर अर्जुन मौजूद था। महाविकराल रूप, लाल-लाल आँखे और मुद्गर हाथ से पकड़े हुए वह तैयार था। उसका रूप इतना डरावना था कि नज़र पड़ते ही धैर्यवानो की छाती थरथरा उठे! परन्तु वीर सुदर्शन निर्भय होकर आगे बढ़ता चला जाता था।

अर्जुन माली ने दूर से सुदर्शन को देखा तो उसकी प्रसन्नता का पार न रहा। वह मन मे सोचने लगा—'अब मिला है शिकार! आने दूं कुछ और निकट, तब अपनी प्यास बुझाऊँगा।'

सुदर्शन अपनी मस्तानी चाल से चलता जा रहा था। उसकी चाल देखकर अर्जुन माली सोचने लगा—'इसकी चाल मे इतना घमण्ड छिपा है! जान पड़ता है, बड़ा अकड़बाज़ है! अरे, इसने मुझे देख लिया है फिर भी इसके पैर ढीले नही पड़े। इसके चेहरे पर भय का भाव ही नही दिखाई देता! अ ...अब इतने निकट आ गया है—फिर भी वही चाल, वही अकड़, वही मस्ती!'

अब अर्जुन से न रहा गया। उसने ललकार कर कहा—'ओ जाने वाले!'

उत्तर में सुदर्शन कुछ न बोला। वह मौन था।

अर्जुन माली मन ही मन विचार करने लगा—'इसकी मुख मुद्रा पर जरा भी भय का आभास नहीं है! पहले तो कोई ऐसा नहीं मिला। जो सामने आते थे वही गिडगिड़ा कर प्राणों की भीख मागने लगते थे, पर यह तो अद्भुत व्यक्ति है!'

अर्जुन माली ने रास्ता रोक दिया।

सुदर्शन ने भीषण सकट आया देखा, तो उसी समय भूमि का प्रमार्जन किया, आसन बिछाया और भगवान् को वन्दना करके १८ पापों का परित्याग किया। उसने प्रतिज्ञा की—यदि मैं इस संकट से बच जाऊँगा तो मेरी जैसी पूर्व क्रिया है, वैसी ही रक्खूँगा। इस सकट से पार न हो सका तो अब से महाव्रत धारण करता हूँ।

सुने री मैंने निर्बल के बल राम।

ससार में निर्बलों के सच्चे बल राम ही हैं। इस बल के सामने तलवार का बल नगण्य नाचीज बन जाता है।

सुदर्शन ने अहकार त्याग दिया। वह पाषाण मूर्ति की भांति होकर ध्यान में बैठ गया। यह देख कर अर्जुन माली और भी क्रुद्ध हो गया। प्रहार करने के लिए उसने अपना मुद्गर ऊपर उठाया।

अनेक नगर निवासी, अपने मकानों की छतों से यह दृश्य देख रहे थे। उनमें जो प्रभु के भक्त थे, वे सोच रहे थे—'प्रभो! सत्य की रक्षा करना। सुदर्शन सत्यभक्त है, सत्याग्रही है। इस

समय केवल आपका ही सहारा है। कहीं ऐसा न हो कि आपके भक्त की पत जाय !

इसके विपरीत कई क्षुद्राशय पुरुष ऐसे भी थे जिन्हें अपने आपको भविष्यभाषी सिद्ध करने का प्रबल प्रमाण उपलब्ध हो रहा था ! वे कह रहे थे—'देखो, हमने पहले ही कह दिया था कि नहीं ? उसे समझाया था कि मत जा भाई, अर्जुन माली देख पाएगा तो मुद्गर की मार से चूर्ण बना डालेगा ! अब देखो, मुद्गर तानकर सामने अर्जुन माली खड़ा है। सिर पर पड़ने की ही देर है। मेरा कहना कितनी जल्दी सच सिद्ध हो रहा है !'

पर यहाँ तो निर्बल का बल राम था। अगर राम (आत्मा) का बल प्रबल न होता तो जगत् मे सत्य की प्रतिष्ठा किस पर होती ? धर्म की स्थिरता किस आधार पर होती ?

अर्जुन माली ने मुद्गर उठाया। वह ऊपर उठ तो गया मगर नीचे न आ सका। अर्जुन ने पूरी ताकत लगाई, पर मुद्गर स्तंभित हो गया था। सुदर्शन पर प्रहार न हो सका। अर्जुन तिलमिला उठा पर विवश था।

इधर सुदर्शन की तरफ देखो। उसकी आँखों से अमृत बरस रहा है।

अर्जुन माली ने तीन बार पूरी शक्ति लगाई। उसके हाथ नीचे की ओर रंचमात्र नहीं झुकते थे। यह अद्भुत अवस्था देखकर अर्जुन माली हैरान था। वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा चुका पर तनिक भी सफलता न मिली। अन्त मे वह परास्त हो गया। उसने सुदर्शन की ओर कातर दृष्टि से देखा। सुदर्शन ने

भी अपनी सुधामयी दृष्टि से उसे देखा । जैसे ही उस पर सुदर्शन की नजर पड़ी, त्यों ही यक्ष उसके शरीर से निकल कर भाग गया । अर्जुन माली अशक्त होकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा ।

अर्जुन माली की यह अवस्था देख सुदर्शन ने अपना निश्चलता भंग की । वह उठा और अर्जुन के पास जाकर, उसके शरीर पर स्नेहपूर्ण हाथ फेर कर बोला — भाई, तुम्हें कष्ट हो रहा है ! जी अच्छा तो है न ?

अर्जुन—तुम कौन हो ?

सुदर्शन—मैं श्रमणोपासक हूँ ।

साधुओ और साध्वियो, आपके उपासक शिष्य भी पहले कैसे होते थे ? आपके शिष्यों में ऐसी शक्ति हो तो आपमें कितनी होनी चाहिए ? आज हम साधु इतना उपदेश देते हैं पर जितनी सफलता मिलनी चाहिए—श्रोताओं पर जितना गहरा प्रभाव पड़ना चाहिए, उतनी, सफलता नहीं मिलती—उतना प्रभाव पड़ता दृष्टिगोचर नहीं होता । यह हमारे आत्मिक बल की न्यूनता है । जिस दिन हममें विशिष्ट आत्मज्योति प्रकट हो जायगी, उस दिन हमारे श्रोता शिष्य हमारे इशारे से काम करने लगेंगे । फिर इतने लम्बे भाषण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी ।

मित्रो ! सुदर्शन ने अपने राम पर भरोसा रक्खा, इसी कारण उसे लोकोत्तर विजय मिली । आप सुदेव और सुगुरु पर विश्वास करेंगे तो आपकी आत्मा में भी ऐसी ही दिव्य शक्ति फूट पड़ेगी ।

कहते लज्जा आती है कि आप भगवान् महावीर के शिष्य होकर कुदेव और कुगुरु को पूजते फिरते हैं ! आप भैरों और

भोपो के आगे भटकते और सिर रगड़ते हैं। ऐ रोने वालो ! कहीं रोने से भी बेटा मिलता है ? तुम महावीर के शिष्य हो, तुम में वीरता होनी चाहिए। उस वीरता की जगह तुममें नपुंसकता आ गई है। क्या इसी नपुंसकता के बल पर धर्म को दिपाओगे ? तुम अहिंसा के परम सिद्धान्त को मानते हो, फिर भी जहाँ बकरे काटे जाते है, अन्य पशुओं का क्रूरतापूर्वक वध किया जाता है, मदिरा की बोतलें उड़ेली जाती है, वहाँ जाकर शीश झुकाते हो ? शर्म !

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—जो देवताओ को पूजते हैं वे देवों के पास और भूतों को पूजने वाले भूतों के पास जाते हैं।

सुदर्शन को सच्चा उपदेश लगा था। उसने देव की आराधना की थी और अर्जुन माली ने यक्ष की। यक्ष की शक्ति तामसी होती है, दुःखजनक होती है। इसके विपरीत देव की शक्ति सात्विक शान्ति और सुखप्रद होती है।

अर्जुन माली की शक्ति सुदर्शन की शक्ति के सामने परास्त हो गई। जनता यह अद्भुत चमत्कार देखकर चकित रह गई। भविष्यवक्ताओ के मुख मलीन-से हो गये और धर्मनिष्ठ पुरुषो के प्रमोद का पार न रहा।

जब भक्तवर सुदर्शन भगवान् के दर्शन करने जाने लगा तो अर्जुन माली ने भी दर्शनार्थ चलने की उत्सुकता प्रकट की। सुदर्शन ने प्रसन्नतापूर्वक उसे अपने साथ लिया। इस अनूठी जोड़ी को देखकर लोग दाँत तले उँगली दबाने लगे। किसी-किसी ने कहा कि—हम तो समझ रहे थे, सुदर्शन चूर-चूर हो जायगा पर अर्जुनमाली तो उसका शिष्य बन गया है !

मित्रो ! सुदर्शन की भांति पापी मनुष्य को अपनाना सीखो। पापी के पाप का क्षय करने का यही उपाय है। पापी से घृणा करके, उसे अलग रक्खोगे, तो उसके पाप का अन्त आना कठिन है। अगर उसे आत्मीय भाव से ग्रहण करोगे तो उसका सुधार होना सरल होगा। चाहे कोई ढेढ हो, चमार हो, कसाई हो, कैसा भी पापी क्यों न हो, उसे सम्मान पूर्वक धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए उत्साहित करना चाहिए। सुदर्शन के चरित से पतितों का दुरदुराने का त्याग करना सीखना चाहिए।

सुदर्शन अर्जुन माली को साथ लेकर प्रभु महावीर के पास गया। सुदर्शन ने विधिपुरस्सर वन्दना नमस्कार कर भगवान् के प्रति अपना भक्तिभाव प्रगट किया। अर्जुन माली ने भी सुदर्शन का अनुकरण किया।

अर्जुन माली को ससार के प्रपचों से घृणा हो गई थी। भगवान् का प्रभावशाली उपदेश सुनकर उसकी वह घृणा अधिक बढ़ गई। वह विरक्त हो गया। उसने महावीर स्वामी से मुनि धर्म की दीक्षा अगीकार की।

दीक्षित होने के पश्चात्, मुनि के रूप मे, अर्जुनमाली भिक्षा के निमित्त नगर म आया। अज्ञान जन उसे देख कर क्रोधित होने लगे। कोई कहता—'हाय ! इसी दुष्ट ने मेरे पुत्र का घात किया था।' इसी प्रकार विभिन्न लोग अपने अपने सम्बन्धियों का स्मरण कर उसकी भर्त्सना करने लगे। किसी किसी ने तो उस पर प्रहार भी किये। किसी ने थप्पड़ मारा, किसी ने घूसा जमाया, किसी ने लकडी लगाई, किसी ने केवल गालियां देकर ही सन्तोष कर लिया।

मगर अर्जुन माली पर इन सब व्यवहारो का मानो कुछ भी असर नहीं पड़ा था। वह पहले की ही भांति शान्त और गम्भीर था। जब कोई उसके शरीर पर प्रहार करता तो वह उस दंड को अत्यल्प समझता और सोचता—मैंने इसके सम्बन्धी का वध किया था। उसका यह बदला तो बहुत थोड़ा ले रहा है! यह लोग मुझे बहुत सस्ते मे निबटा रहे है!

अर्जुन माली ने इसी उत्कृष्ट क्षमा-भावना के साथ शरीर का सदा के लिए त्याग किया और सिद्ध अवस्था प्राप्त की।

मित्रो! इस कथानक को सुनकर आप छह युवकों और सातवीं स्त्री के वध को ही पाप समझते होगे। भला पाप को पाप कौन न समझेगा? पर महाभारत में मैंने देखा है कि जो पुरुष शक्ति होते हुए भी अपने सामने अपराध होने देता है, जो अपराध का प्रतिकार नहीं करता, वह अपराध करने वाले के समान ही पापी है।

तृष्णा

कपिल श्रावस्तीनरेश के पुरोहित काश्यप का पुत्र था। पुरोहित की मृत्यु के पश्चात् वह विद्याध्ययन के लिए कौशाम्बी गया। वहाँ एक दासी के साथ उसका प्रेम हो गया। दासी की इच्छा पूरी करने के लिए वह राजा द्वारा प्रतिदिन प्रात काल दिये जाने वाले दो माशा सोने का दान लेने के लिए रात्रि में ही चल पडा। रात्रि में निकलने के कारण सिपाहियों ने उसे चोर समझ कर पकड़ लिया और सूर्योदय के पश्चात् राजा के समक्ष उपस्थित किया।

कपिल की आकृति और भावभगी देखकर राजा को लगा कि यह मनुष्य चोर नहीं जान पड़ता।

उधर कपिल मन में सोचने लगा—इस राजा का श्रावस्ती नरेश के साथ वैर है। जब यह जानेगा कि मैं श्रावस्ती का रहने वाला हूँ तो मुझे अधिक दण्ड देगा। पर कुछ भी क्यों न हो, मैं झूठ हर्गिज नहीं बोलूँगा।

उसी समय राजा ने कपिल से पूछा—कहाँ रहते हो ?

कपिल बोला—मैं श्रावस्ती का रहने वाला हूँ।

'श्रावस्ती' का नाम सुनते ही राजा का वैर-भाव ताजा हो गया। उसने ललाट सिकोड़ते हुए कहा—किसका लड़का है?

कपिल—पुरोहित काश्यप का पुत्र हूँ।

राजा—तब तो तू मेरे शत्रु के मित्र का पुत्र है! अच्छा, यहाँ क्यों आया है?

कपिल—श्रावस्ती के उपाध्याय मुझ पर ईर्षा रखते हैं। कोई मुझे पढ़ाता नहीं था। अतः अध्ययन करने के लिए यहाँ आया हूँ।

राजा—तो रात्रि के समय बाहर क्यों घूमता-फिरता था?

कपिल—यह कहानी लम्बी है; फिर भी कहता हूँ। मेरे भोजन की व्यवस्था एक सेठ के घर पर की गई थी। वहाँ एक दासी काम-काज करने के लिए आया करती थी। मैं उसके साथ भ्रष्ट हो गया। वह लोभी थी। उसने मुझसे कहा—'त्यौहार आया करते है। त्यौहारों के अवसर पर मुझे नये कपड़े चाहिए। आप ला दीजिये।' मैंने उससे कहा—'मेरे पास धन नहीं है। भोजन भी दूसरे के घर करता हूँ। तुम्हारे लिए कपड़ा कहाँ से लाऊँ?' तब वह बोली—कपड़ा भी लाकर नहीं पहिरा सकते तो मुझसे प्रेम ही नही करना था! लाने की इच्छा हो तो उपाय मैं बता सकती हूँ। मेरे पूछने पर उसने बतलाया—

इस नगरी मे एक धन्ना सेठ है। प्रातःकाल सब से पहले, उनको जो ब्राह्मण आशीर्वाद देता है, उसे वे दो माशा सोना दान करते है। तुम उनके पास जाओ और दो माशा सोना ले आओ।

मैने यह स्वीकार किया। मुझसे पहले पहुँच कर कोई दूसरा सोना न ले ले, इस विचार से मैं मध्य रात्रि में ही चल पड़ा। रास्ते में मुझे सिपाहियों ने पकड़ लिया। मैं चोरी करने नहीं निकला था।

कपिल की कथा सुना कर राजा का दिल पिघल गया। उसने कहा—यद्यपि तू मेरे शत्रु के मित्र का पुत्र है, फिर भी तू ने निश्छल हृदय से सच्ची बात कह दी है। इससे मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हुआ हूँ। तुझे जो चाहिए वही मुझ से माँग ले। तू माँगने में संकोच न करना, मैं देने में संकोच नहीं करूँगा। जो माँगेगा वही पाएगा।

राजा की यह उदारता देखकर कपिल विचार में पड़ गया—मुझे क्या माँग लेना चाहिए? पहले बिना विचारे काम किया तो पकड़ा गया। अब खूब सोच समझ कर ही काम करना चाहिए। ऐसा अवसर भी तो फिर नहीं मिलने का।

कपिल ने राजा से कहा—विचार करने के लिए मुझे दो घड़ी का समय मिलना चाहिए। मैं यहीं अशोक वाडी में जाकर विचार कर लेता हूँ।

राजा ने विचार करने की मुहलत दे दी। कपिल अशोक वाडी में जाकर विचार करने लगा—दो माशा सोना माँगूँगा तो उससे क्या होगा? उससे तो पूरे कपडे भी नहीं बन सकेंगे। फिर वह नये कपडे पहरेगी और मैं चीथडे लपेटे फिरूँगा।

तो दस माशा सोना ले लूँ? मगर इससे साधारण पोशाक ही तैयार होगा। राजा रानी जैसी नहा बन सकेगी! और यह भी एक बार बन जायगी। दूसरी बार के लिए फिर

कहीं भटकना पड़ेगा ! तो क्यों न राजा-रानी के ही नये कपड़े माँग लूँ ? कदाचित्त वे कपड़े दे देंगे, मगर मूल्यवान् कपड़े आभूषणों के बिना क्या सोहेंगे ? इसलिए कपड़ों के साथ आभूषण भी माँग लूँगा।

मगर कमी तो फिर भी रह ही जायगी ! उत्तम राजसी वस्त्र और मणिमय आभूषण पहनकर क्या झोंपड़ी मे रहना अच्छा लगेगा ? राजा ने मुँह माँगा देने की प्रतिज्ञा की है तो माँगने मे कसर क्यों की जाय ? एक महल भी माँग लेने मे क्या हर्ज है ?

पर महल में रहकर हाथ से काम करना उचित नहीं होगा। एक-दो नौकर भी चाहिए ही ! किन्तु नौकरों का खर्च कहाँ से लाना होगा ? आखिर वे हर महीने वेतन माँगेगे !

तो दो-चार गाँव माँग लूँ ? लेकिन इससे भी क्या होगा ? दस-बारह गाँवो के बिना मजे से रहना संभव नही हो सकेगा।

जब माँगना ही है और एक ही माँगना है और मुँह माँगा मिलता है तो दस-बारह गाँव माँगना भी क्या ओछापन नही है ? फिर सारा ही राज्य क्यो नहीं माँग लेना चाहिए ? मै सारा राज्य ही माँगूगा।

मगर इसमे भी एक कठिनाई है। सारा राज्य माँग लेने से राजा मेरा वैरी बन जायगा, कदाचित् विद्रोह भी कर दे ! इसलिए राजा को कारागार भी क्यों न माँग लूँ ! बस, यही ठीक है।

किन्तु, राजा कारागार मे बंद रहेगा और मै सिंहासन पर बैठूँगा तो लोग क्या कहेंगे ? यही न कि कपिल कितना नीच

और कृतघ्न है, जिसने वचनबद्ध हुए राजा का राज्य ले लिया और फिर उसे जेलखाने में डाल दिया! वास्तव में मैं कितना नीच हूँ कि दो माशा सोने के बदले सम्पूर्ण राज्य मिलने पर भी मेरी लोभवृत्ति शान्त नहीं हुई! और मैं वरदान देने वाले राजा को कारागार में बन्द कर देने के लिए तैयार हो गया! जिस वैभव की कल्पना मात्र से मनुष्य इतना गिर जाता है, उसके मिल जाने पर कितना नहीं गिर जायगा! हाय! इस तृष्णा का कहीं अन्त भी है।

इस प्रकार विचारधारा के मुड़ते ही कपिल की आत्मा जाग उठी। उसे उसी समय अवधिज्ञान हो गया। वह अपने पूर्वजन्म को हाथ की रेखा के समान स्पष्ट देखने लगा। एक कथा में ऐसा उल्लेख आता है कि कपिल की भावना होते ही देव ने आकर उसे साधु का वेष प्रदान किया। तत्पश्चात् कपिल राजा के पास पहुँचा। राजा ने कहा—यह क्या किया तुमने ?

कपिल ने सन्तोष के स्वर में कहा—मुझे जो चाहिए था, मिल गया है।

राजा ने कहा-पर साधु का वेष क्यों धारण कर लिया है ?

कपिल—दान माँगने का विचार करते करते मेरे लोभ का अन्त नहीं आया। आपका सम्पूर्ण राज्य लेकर आपको कारागार में रखने तक का विचार कर लिया। फिर भी सन्तोष नहीं हुआ। तृष्णा बढ़ती ही चली गई। तब मैंने उसे कम करना शुरू किया। कम करते करते मैं इस स्थिति में आ पहुँचा हूँ। यह स्थिति प्राप्त करने पर मुझे शान्ति मिली है। मैं दुनिया की और राज्य की खट पट में नहीं पड़ना चाहता।

राजा ने कहा—आप चाहें तो सुख से राज्य करें। मैं लिख देता हूँ कि मैं आजीवन आपका सेवक होकर रहूँगा। शत्रु के आक्रमण करने पर रक्षा करूँगा।

कपिल—अब राज्य करने का मोह मुझे नहीं रहा। मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ। अगर मैं आपका राज्य माँग लेता तो आप मेरे वैरी बन जाते या नहीं ?

राजा—अवश्य। उस दशा में वैर तो बँधता ही।

कपिल—परन्तु अब आप स्वयं राज्य दे देना चाहते हैं। यह इस त्याग का ही प्रताप है। जिस त्याग को अपनाते ही राज्य चरणों मे लोटने लगा, उस त्याग को राज्य के लिए कैसे त्याग सकता हूँ ?

यह कह कर कपिल मुनि जंगल की ओर चल दिये। वहाँ पहुँच कर उन्होने पाँच सौ नृशंस चोरो को उपदेश देकर सुधारा और अन्त मे अनन्त शान्ति प्राप्त की।

तृष्णा आकाश की भाँति असीम है, आग की तरह अतृप्त है और पिशाच की तरह सर्वभक्षी है।

महारानी चेलना

मगधसम्राट् श्रेणिक की एक पत्नी का नाम चेलना था। चेलना जैन धर्म की अनुयायिनी थी और कट्टर अनुयायिनी थी। उस समय तक श्रेणिक ने जैन धर्म अंगीकार नहीं किया था। यद्यपि राजा और रानी के धार्मिक विचार और आचार एक सरीखे नहीं थे, फिर भी दोनों में हार्दिक स्नेह था। कभी कभी दोनों में धर्मचर्चा हुआ करती। एक बार श्रेणिक ने किसी जैन मुनि को रास्ते जाते देख चेलना से कहा—देखो, व जा रहे हैं तुम्हारे गुरु! नीचा सिर और नीची नजर किये जाते हैं। कोई गाली दे या मार पीट दे तो भी चूँ नहीं करते। यह तो गनीमत है कि हमारे राज्य में सुव्यवस्था है, कोई किसी को सता नहीं सकता, अन्यथा तुम्हारे गुरुजी की क्या दशा होती? इतनी कायरता मनुष्य में नहीं होनी चाहिए। मनुष्य को राज्य सत्ता या किसी दूसरे के बूते पर जीवित नहीं रहना चाहिए। आत्म रक्षा के लिए जो दूसरों की अपेक्षा रखता है, वह तजोहीन है, कायर है। कायर गुरु की उपासना करने से तुम में भी कायरता

आएगी। हम लोग क्षत्रिय हैं। हमारे गुरु वीर होने चाहिए, जो ढाल और तलवार से लैस होकर घोड़े पर घूमते हों।

रानी चेलना बोली—प्राणनाथ, आपका विचार भ्रमपूर्ण है। मेरे गुरु कायर नहीं, वीर हैं। मैं कायर गुरु की चेली नहीं हूँ। मेरे गुरु की वीरता के आगे आपके समान सौ वीर भी नहीं टिक सकते। आपके बड़े से बड़े सेनापति भी काम के गुलाम हैं, परन्तु मेरे गुरु ने उस काम को भी पराजित कर दिया है। संसार के महान् से महान् वीरों पर भी विजय प्राप्त करने वाले काम को जीत लेना क्या साधारण वीरता है? यह वीरता सर्वोत्तम वीरता है। जिसमें यह वीरता है उसे आप कायर कैसे कह सकते हैं?

श्रेणिक-ठीक है, किसी दिन इसका भी उत्तर दिया जायगा।

रानी चेलना श्रेणिक का अभिप्राय समझ गई। उसने सोचा—राजा, गुरुजी की परीक्षा करेंगे। चलो, यह अच्छा ही है। परीक्षा का परिणाम अनुकूल ही होगा और महाराज का झुकाव उस ओर अवश्य होगा।

एक दिन राजा ने किसी सुन्दरी वेश्या को बुलाकर कहा-तू उस साधु के पास जा और किसी भी उपाय से उसे भ्रष्ट कर। मेरा यह काम पूरा कर देगी तो मुँह माँगा इनाम पाएगी।

वेश्या मुफ्त में ही राजा का काम करने के लिए तैयार थी। तिस पर राजा ने इनाम और वह भी मुँह माँगा देने का प्रलोभन दे दिया। फिर वह क्यों पीछा पैर रखती!

वेश्या सिंगार सजकर और दूसरा कामोत्तेजक सामान लेकर रात्रि के समय साधु के स्थान पर पहुँची। साधु ने स्त्री को देखते ही कहा-बहिन, रात्रि के समय हमारे स्थान पर स्त्रियाँ नहीं आ सकतीं। यह किसी गृहस्थ का घर नहीं है। यहाँ साधु टिके हैं।

वेश्या बोली—आप ठीक कहते हैं। मैं विशेष प्रयोजन से आपके ही पास आई हूँ। मैं आपको कष्ट देने नहीं, बल्कि आपका मनोरंजन करने और आपको आनन्द देने के लिए ही आई हूँ।

इस प्रकार कहती कहती वेश्या साधु के स्थान में घुस गई। साधु समझ गये कि इसका आशय दूषित है और यह मुझे भ्रष्ट करना चाहती है। यद्यपि मैं अपने ब्रह्मचर्य व्रत पर दृढ़ रहूँगा, फिर भी जब यह बाहर निकलेगी और कहेगी कि मैंने साधु को भ्रष्ट कर दिया है तो मेरी बात कौन सुनेगा ? इससे शासन की निन्दा होगी।

इस प्रकार विचार कर मुनि ने अपनी लब्धि का प्रयोग किया। उन्होंने अपना ऐसा विकराल रूप बनाया कि वेश्या देखते ही बुरी तरह घबरा गई। उसने जमीन पर गिर कर मुनि से प्रार्थना की—दीनानाथ, क्षमा कीजिए। मुझे बचने दीजिए। मैं निरपराध हूँ। मैं राजाजी के कहने से यहाँ आई हूँ। मैं अभी यहाँ से भाग जाती, पर विवश हूँ। बाहर ताला बन्द है। आप मुझ पर दया करें।

उधर राजा श्रेणिक ने चेलना से कहा—तुम अपने गुरु की इतनी प्रशंसा करती थीं, अब उनका हाल तो देखो। वे एक वेश्या को अपने घर में लिये बैठे हैं।

रानी चेलना ने विस्मित होते हुए कहा—क्या आप सच कह रहे हैं ? मगर जब तक मैं अपनी आँखों यह न देख लूँ तब तक मान नहीं सकती। वह मुनि अगर दुराचारी होंगे तो मैं उन्हें गुरु नहीं मानूँगी। हम तो सत्य के उपासक हैं। आप जो कहते हैं वह प्रत्यक्ष दिखलाइए।

आखिर राजा और रानी साधु के स्थान पर पहुँचे और राजा ने दरवाजा खोला। दरवाजा खुलते ही वेश्या ऐसी बाहर भागी जैसे पिंजरा खुलते ही पक्षी बाहर निकल भागता है। उसने निकलते ही राजा से कहा—आप मुझे और चाहे सो काम सौंपें मगर साधु के पास जाने का काम अब न सौंपिएगा। उन महात्मा के तपःतेज में मैं भस्म ही हो गई होती; उन्हीं की दयालुता के कारण प्राण बच गए।

वेश्या की बात सुनकर रानी चेलना ने राजा से कहा—महाराज, यह वेश्या क्या कह रही है ? इसके कहने का अर्थ तो यही है कि आपने ही इसे यहाँ भेजा था। भले आपने इसे भेजा हो, मगर मैंने तो पहले ही कह दिया था कि मेरे गुरु को इन्द्राणी भी नहीं डिगा सकती। इस वेश्या के कथन पर विचार कीजिए।

राजा श्रेणिक शर्मिन्दा हो गए। बोले–वेश्या की बातों का क्या ठिकाना ! अब इस बात को छोड़ो !

रानी बोली—ठीक है। आप भी इस बात को छोड़ दीजिए। जो होता है, अच्छा ही होता है। चलिए, उन महात्मा के पास तो चलें।

राजा और रानी महात्मा के पास पहुँचे। देखा, महात्मा दूसरे ही वेष में थे। रानी ने कहा—देखिए, यह मेरे गुरु ही नहीं हैं। मेरे गुरु का वेष ऐसा कहाँ होता है? जैन मुनि को कभी भगवा वस्त्र पहने देखा भी है आपने?

राजा चकित और लज्जित हुआ। उसने सोचा—रानी का कहना ठीक है। मुझे धर्म का तत्त्व समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

उसी दिन श्रेणिक के अन्तःकरण में तत्त्व की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। धीरे धीरे निष्पक्ष अवलोकन और मनन से उसके हृदय पर जैन धर्म की गहरी छाप लग गई। अन्त में राजा श्रेणिक भगवान महावीर का प्रधान भक्त बन गया।

हृदय की स्वच्छता

सुनन्द नामक एक चित्रकार था। किसी राजा ने बहुत से चित्रकारों को अपने महल मे चित्रकारी के लिए बुलाया। सुनन्द भी वहाँ आया था। राजा ने सर्वश्रेष्ठ चित्रकारी करने वाले को विशिष्ट पारितोषिक प्रदान करने की घोषणा की। सभी चित्रकार पारितोषिक पाने के लिए लालायित हुये। वह लोग पर्दा लगा-लगा कर चित्रकारी करने लगे। एक दीवाल सुनन्द को भी चित्रकारी के लिए मिल गई थी। सब चित्रकार अपने-अपने काम मे लग गये। सुनन्द ने बहुत सोच-विचार कर भीत पर बढ़िया पालिश करने की ठानी। राजा नियत समय पर चित्रकारी देखने आया। सब चित्रकार अपना कार्य समाप्त कर चुके थे, पर सुनन्द ने अभी तक पालिश ही किया था। राजा सब की चित्रकारी देखता हुआ जब सुनन्द वाली दीवाल की ओर आया तो उसे उस पर कुछ भी नजर न आया। राजा ने कहा—'अरे सुनन्द, सब चित्रकार अपना-अपना कार्य समाप्त कर चुके हैं, और तू अभी पालिश ही कर पाया है !'

सुनन्द नम्रतापूर्वक बोला—अन्नदाता ! सब ने एक काम किया है, मैंने दो काम किये हैं।

राजा—कैसे दो काम ?

सुनन्द—पृथ्वीनाथ ! इन लोगों ने सिर्फ चित्रकारी की है, पर मैंने ऐसा काम किया है कि दीवाल पर चित्र भी दिखने लगें और जब चाहे तभी उन्हें मिटा भी सकें। इनके चित्रों में यह गुण नहीं है।

राजा का आदेश पाकर सुनन्द ने सामने का पर्दा हटा दिया। सामने की दीवाल पर जो चित्र अंकित किये गये थे, वह सब बढ़िया पालिश की हुई इस दीवाल पर प्रतिबिम्बित होकर दिखाई देने लगे। थोड़ी देर बाद उसने पर्दा डाल दिया तो दीवाल चित्र रहित स्वच्छ दिखलाई पड़ने लगी। राजा उसकी कुशलता देख बहुत प्रसन्न हुआ और उसे पारितोषिक दिया।

कहने का आशय यह है कि आप अपने हृदय पर ऐसा उत्तम पालिश कीजिये कि वह पूर्ण रूप से स्वच्छ हो जाय। उस पर संसार के बिम्ब भले ही पड़ें परन्तु आत्मा से उनका स्पर्श न हो।

१३

चर्खा

चर्खा कातकर, सूत पैदा करके उसके कपड़े बनवाने मे आप पाप समझते है और मैनचेस्टर के कपडे पहनकर 'पवित्र हो गये' ऐसा मानते है। यह आपकी कैसी बुद्धि है कि आप हिंसा को उत्तम और अहिसा को पाप समझते हैं!

पहले के ज़माने मे बड़े-बड़े धनाढ्य घरो की स्त्रियाँ चर्खा कातती थीं। चर्खा सिर्फ पैसा पैदा करने की मशीन ही नहीं, वरन् एकाग्रता प्राप्त करने का सरल साधन भी था। चर्खा विधवाओ के धर्म की रक्षा करने वाला और भूखो को भूख मिटाने वाला था। चर्खा आधुनिक काल का आविष्कार नहीं, पुरातन काल की स्मृति है। जैन शास्त्रो मे भी इसका वर्णन आया है।

इस विषय मे एक चरित आया है। वह लम्बा है। अतएव उसका कुछ सार ही कहता हूँ।

कुछ कुमारी बालिकाएँ आँखें मीच कर कोई खेल खेल रही थीं। उन्होने मन्दिर मे यह खेल किया था। उन्होने आपस मे

यह निश्चय किया था कि जिसके हाथ में मन्दिर का जो खम्भा आ जाय, वही उसका पति माना जाय। बालिकाएँ खेलने लगीं। संयोगवश आर्द्रकुमार नामक एक मुनि वहाँ खड़े थे और वह एक बालिका के हाथों में आ गये। आँखें खोलने पर बालिका चौंकी। मुनि चुप चाप आगे जाने लगे। तब बालिका बोली—नाथ, आप कहाँ पधारते हैं ?

मुनि ने उत्तर दिया—बाई, हम अपने ठिकाने जा रहे हैं।

बालिका—मैंने आपको पति रूप में स्वीकार कर लिया है। मैं भी आपके ही साथ चलूँगी।

मुनि—हम मुनि हैं। पति स्वीकार करना हो तो किसी संसारी को स्वीकार करो।

बालिका—क्या कुलीन कन्या कभी दूसरा पति स्वीकार करती है ?

मुनि मौन हो रहे। बालिका उनके पीछे पीछे लगी। जहाँ मुनि जाते, वह भी वहीं उनके पीछे लगी रहती। बालिका की यह दृढ़ता और प्रेम देखकर आखिर मुनि पिघले और बोले—देखो, मैं तुम्हारे साथ विवाह करता हूँ, मगर जीवन भर में तुम्हें नहीं निभा सकता। सिर्फ बारह वर्ष तक मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। अगर यह बात स्वीकार हो तो ठीक, अन्यथा तुम दूसरा मार्ग खोज लो।

बालिका—नहीं, नाथ ! आप जैसा कहेंगे, वही करूँगी। आप कितने ही दिन मेरे साथ रहें, पर विवाह तो अन्य पुरुष के साथ मेरा नहीं होगा।

दोनों का विवाह हो गया। देवो ने इस अवसर पर बारह करोड़ सोनैया (स्वर्ण-मोहर) बरसाये। कुछ समय के बाद एक पुत्र भी उत्पन्न हो गया। दिन जाते क्या देर लगती है? बारहवाँ वर्ष समाप्त होने आया। अब उस लड़की को, जिसका नाम श्रीमती था, खयाल हुआ कि पतिदेव जाने वाले हैं। मै भी उन्हें रोकना नहीं चाहती। उन्होंने मेरे लिये जो अद्भुत त्याग किया है, वही मेरे लिये बस है। मगर उनके जाने पर मै अनाथ हो जाऊँगी। अब मेरी रक्षा कौन करेगा?

श्रीमती बाई गरीब नही थी। पास में विपुल धन था। पुत्र था। रहने के लिये मकान की कमी नहीं थी। पर वह सोचती थी—अभी मैं यौवन अवस्था मे हूँ। किसके सहारे अपना समय व्यतीत करूँगी? मेरे शील की रक्षा कैसे होगी?

उसे प्रतिज्ञा थी कि मेरे पास जो धन है, उसमें से एक भी पाई अपने काम में नहीं लूँगी।

श्रीमती जब विचार मे डूबी हुई थी तो उसे अचानक कुछ स्मरण आया। मानो डूबते को सहारा मिल गया। उसने कहा—वाह! स्वामी, वाह! खूब कृपा की। बस, अब वह साधन मिल गया, जिसके सहारे अपना यौवनकाल शान्ति से व्यतीत करूँगी।

आप समझे, श्रीमती को क्या साधन मिल गया था? चर्खा!

वह सोचती-'मुझे ज्यादा खाना होगा तो ज्यादा कातूंगी, मामूली खाना होगा तो मामूली कातूंगी। बस, अब मैं सनाथ हुई। अब हर्षपूर्वक पतिदेव को विदा कर सकूंगी।'

यह कथा बहुत लम्बी है, तात्पर्य यह है कि चर्खा प्राप्त कर श्रीमती ने बड़ी ही शांति के साथ अपना शेष जीवन व्यतीत किया।

शान्तिनाथ

उषा प्रातःकाल लालिमा फैलने और उजेला होने को कहते हैं। भगवान् शान्तिनाथ का जन्मकाल शान्तिप्रसार का उषाकाल था। इस उषाकाल के दर्शन कब और कैसे हुए, इत्यादि बातें समझाने के लिए शान्तिनाथ भगवान् का जन्म-चरित संक्षेप में बतला देना आवश्यक है। जिस प्रकार सूर्योदय की उषा से सूर्य का सम्बन्ध है, उसी प्रकार भगवान् शान्तिनाथ के उषाकल से उनका सम्बन्ध है। अतएव उसे जान लेना आवश्यक है।

हस्तिनापुर में महाराज अश्वसेन और महारानी अचला का अखण्ड राज्य था। हस्तिनापुर नगर अधिकतर राजधानी रहा है। प्राचीन काल में उसकी बहुत प्रसिद्धि थी। आजकल हस्तिनापुर का स्थान देहली ने ले लिया है।*

---

* हस्तिनापुर के परिचय के लिए देखिए, किरण १७, (पांडव चरित) पृ० १।

भगवान् शान्तिनाथ सर्वार्थसिद्ध विमान से च्युत होकर महारानी अचला के गर्भ मे आये। गर्भ में आते समय महारानी अचला ने जो दिव्य स्वप्न देखे, वे सब उस उषा काल की सूचना देने वाले थे। मानो स्वप्न मे दिखाई देने वाले पदार्थों में कोई भी स्वार्थी नहीं है। हाथी, वृषभ, सिंह और पुष्पमाला कहते है कि आप हमे अपने में स्थान दीजिए। चन्द्रमा और सूर्य निवेदन कर रहे हैं कि हमारी शान्ति और तेज, हे प्रभो! तेरे मे ही है।

उग्गए विमले भाणू।

हे प्रभो! हमारे प्रकाश से अंधकार नहीं मिटता है, अतएव आप ही प्रकाश कीजिए।

उधर फहराती हुई ध्वजा कहती है—मैं तीन लोक की विजयपताका हूँ। मुझे अपनाइए। मंगलकलश कहता है—मेरा नाम तभी सार्थक है जब आप मुझे ग्रहण कर लें। मानसरोवर कहता है—यह मंगल कलश मेरे से ही बना है। मै और किसके पास जाऊँ? मै संसार के मानस का प्रतिनिधि होकर आया हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि तू सब के मानस मे प्रवेश कर और उसे उज्ज्वल बना। क्षीरसागर कहता है—यह सरोवर तो छोटा-सा है। लेकिन अगर आप मुझे न धारण करेंगे तो मै कहाँ रहूँगा? प्रभो! इस संसार को अमृतमय कर दो। संसार मुझ से अतृप्त है, अतः आप उसे तृप्त कीजिए।

इस प्रकार उषा काल की सूचना देकर भगवान् शांतिनाथ सर्वार्थसिद्ध विमान से महारानी अचला के गर्भ मे आये। सब देवी-देवताओं ने भगवान् से प्रार्थना की—प्रभो! सब लोग

अपने अपने पक्ष में पड़े हुए हैं। आप संसार का उद्धार कीजिये। हमारे सिर पर भी आशीर्वाद का हाथ फेरिये।

लोकोत्तर स्वप्नों ने मानों अचला महारानी को बधाई दी। उसके बाद अचला महारानी के गर्भ में भगवान का आगमन हुआ। क्रमश गर्भ की वृद्धि होने लगी।

जिन दिनों भगवान् शान्तिनाथ गर्भ में थे, उन्हीं दिनों महाराज अश्वसेन के राज्य मे महामारी का रोग फैल गया।

प्रश्न हो सकता है कि जब भगवान् गर्भ में आये तो रोग क्यों फैला ? मगर वह रोग नहीं, उषाकाल की महिमा को प्रकट करने वाला अंधकार था। जैसे उषाकाल से पहले रात्रि होती है और उस रात्रि स ही उषाकाल की महिमा जानी जाती है, उसी प्रकार वह महामारी भगवान् शांतिनाथ के उषाकाल के पहले की रात्रि थी। उसका निवारण करने के कारण ही भगवान् 'शांतिनाथ' पद को प्राप्त हुए। यद्यपि भगवान् गर्भ में आ चुके थे और उस समय रोग फैलना नहीं चाहिए था, फिर भी रोग के फैलने के बाद भगवान् के निमित्त से उसकी शांति होने के कारण भगवान् की महिमा का प्रकाश हुआ। इससे भगवान् के आने की सूचना और भगवान् के प्रताप का परिचय उनके माता पिता को मिल गया।

राज्य म मरी रोग फैलने की सूचना महाराज अश्वसेन को मिली। महाराज ने यह जानकर कि मरी रोग के कारण लोग मर रहे हैं, रोग की उपशांति के अनेक उपाय किये। मगर शांति न हुई।

यह मरी लोगों की कसौटी थी। इसी से पता चलता था कि लोग मार्ग पर है या मार्ग भूले हुए हैं। यह मरी शान्ति से पहले होने वाली क्रांति थी।

उपाय करने पर भी शान्ति न होने के कारण महाराज बड़े दुःखी हुए। वह सोचने लगे—'जिस प्रजा का मैंने पुत्र के समान पालन किया है, जिसे मैंने अज्ञान से सज्ञान, निर्धन से धनवान् और निरुद्योगी से उद्योगवान् बनाया है, वह मेरी प्रजा असमय में ही मर रही है! मेरा सारा परिश्रम व्यर्थ हो रहा है! मेरे राजा रहते प्रजा को कष्ट होना मेरे पाप का कारण है।' पहले के राजा, राज्य में दुष्काल पड़ना, रोग फैलना, प्रजा का दुःखी होना आदि अपने पाप का ही फल समझते थे।

रामायण में लिखा है कि एक ब्राह्मण का लड़का बचपन में ही मर गया। ब्राह्मण उस लड़के को लेकर रामचन्द्रजी के पास गया और बोला—आपने क्या पाप किया है कि मेरा लड़का मर गया?

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि पहले के राजा प्रजा के कष्ट का कारण अपना ही पाप समझते थे। इसी भावना के अनुसार महाराज अश्वसेन मरी फैलने को अपना ही दोष मानकर दुःखी हुए। उन्होंने एकान्त में जाकर निश्चय किया कि जब तक प्रजा का दुःख दूर न होगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।

सुदृढ़ निश्चय में बड़ा बल होता है। भक्त तुकाराम ने कहा है—

निश्चयाचा बल तुका म्हणे तो च फल।

निश्चय के बिना फल की प्राप्ति नहीं होती।

अपने अपने पक्ष म पडे हुए हैं। आप संसार का उद्धार कीजिये। हमारे सिर पर भी आशीर्वाद का हाथ फेरिये।

लोकोत्तर स्वप्नों ने मानों अचला महारानी को बधाई दी। उसके बाद अचला महारानी के गर्भ में भगवान् का आगमन हुआ। क्रमश गर्भ की वृद्धि होने लगी।

जिन दिनों भगवान् शान्तिनाथ गर्भ में थे, उन्हीं दिनों महाराज अश्वसेन के राज्य मे महामारी का रोग फैल गया।

प्रश्न हो सकता है कि जब भगवान् गर्भ में आये तो रोग क्यों फैला ? मगर वह रोग नहीं, उषाकाल की महिमा को प्रकट करने वाला अधकार था। जैसे उषाकाल से पहले रात्रि होती है और उस रात्रि स ही उषाकाल की महिमा जानी जाती है, उसी प्रकार वह महामारी भगवान् शातिनाथ के उषाकाल के पहले की रात्रि था। उसका निवारण करने के कारण ही भगवान् 'शातिनाथ' पद को प्राप्त हुए। यद्यपि भगवान् गर्भ मे आ चुके थे और उस समय रोग फैलना नहीं चाहिए था, फिर भी रोग के फैलने के बाद भगवान् के निमित्त से उसकी शांति होने के कारण भगवान् की महिमा का प्रकाश हुआ। इससे भगवान् के आने की सूचना और भगवान् के प्रताप का परिचय उनके माता पिता को मिल गया।

राज्य में मरी रोग फैलने की सूचना महाराज अश्वसेन को मिली। महाराज ने यह जानकर कि मरी रोग के कारण लोग मर रहे हैं, रोग की उपशांति के अनेक उपाय किये। मगर शान्ति न हुइ।

यह मरी लोगों की कसौटी थी। इसी से पता चलता था कि लोग मार्ग पर हैं या मार्ग भूले हुए हैं। यह मरी शान्ति से पहले होने वाली क्रांति थी।

उपाय करने पर भी शान्ति न होने के कारण महाराज बड़े दुःखी हुए। वह सोचने लगे—'जिस प्रजा का मैंने पुत्र के समान पालन किया है, जिसे मैंने अज्ञान से सज्ञान, निर्धन से धनवान् और निरुद्योगी से उद्योगवान् बनाया है, वह मेरी प्रजा असमय से ही मर रही है! मेरा सारा परिश्रम व्यर्थ हो रहा है! मेरे राजा रहते प्रजा को कष्ट होना मेरे पाप का कारण है।' पहले के राजा, राज्य में दुष्काल पड़ना, रोग फैलना, प्रजा का दुःखी होना आदि अपने पाप का ही फल समझते थे।

रामायण में लिखा है कि एक ब्राह्मण का लड़का बचपन में ही मर गया। ब्राह्मण उस लड़के को लेकर रामचन्द्रजी के पास गया और बोला—आपने क्या पाप किया है कि मेरा लड़का मर गया?

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि पहले के राजा प्रजा के कष्ट का कारण अपना ही पाप समझते थे। इसी भावना के अनुसार महाराज अश्वसेन मरी फैलने को अपना ही दोष मानकर दुःखी हुए। उन्होंने एकान्त मे जाकर निश्चय किया कि जब तक प्रजा का दुःख दूर न होगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।

सुदृढ़ निश्चय मे बड़ा बल होता है। भक्त तुकाराम ने कहा है—

निश्चयाचा बल तुका म्हणे तो च फल।

निश्चय के बिना फल की प्राप्ति नहीं होती।

इस प्रकार निश्चय करके महाराज अश्वसेन ध्यान लगा कर बैठ गये। भोजन का समय होने पर महारानी अचला ने दासी को भेजा कि वह महाराज को भोजन करने के लिए बुला लावे। दासी गई, किन्तु महाराज को ध्यानमुद्रा में बैठा देखकर वह सहम गई। भला उसका साहस कैसे हो सकता था कि वह महाराज के ध्यान को भग करने का प्रयत्न करे! वह धीमे धीमे स्वर से पुकार कर लौट गई। उसके बाद दूसरी दासी आई, फिर तीसरी आई, मगर ध्यान भग करने का किसी को साहस न हुआ। महारानी अचला बार बार दासियो को भेजने के अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करके कहने लगीं—स्वामी को बुलाने के लिए दासियो का भेजना उचित नहीं था, स्वयं मुझे आना चाहिए था। यद्यपि मैंने पति से पहले भोजन करने की भूल नहीं की है, लेकिन स्वय उन्हें बुलाने न जाकर दासियों को भेजने की भूल अवश्य की है।

समय अधिक हो जाने के कारण भोजन ठण्डा हो गया था। इस कारण दासियो को दूसरा भोजन बनाने की आज्ञा देकर महारानी अचला स्वय महाराज अश्वसेन के समीप गई।

महारानी सोच रही थी—पत्नी पति की अर्द्धांगिनी है। उसे पति की चिन्ता का भी भाग बँटाना चाहिए। जो स्त्री पति की प्रसन्नता में भाग लेना चाहती है और चिन्ता मे भाग नहीं लेना चाहती वह आदर्श पत्नी नहीं हो सकती। ऐसी स्त्री पापिनी है।

अचला देवी ने जो विचार किया, क्या वह स्त्री का धर्म नहीं है? अवश्य। किन्तु आजकल तो बचपन म ही लड़कियों

को उलटी शिक्षा दी जाती है। कन्या को ऐसा विनयशील होना आवश्यक है, जिससे गृहस्थावस्था में वह अपने परिवार को शान्ति दे सके, स्वयं शांति प्राप्त कर सके और कुटुम्ब-जीवन पूरी तरह आनन्दमय हो सके।

बीकानेर में लड़कियों को लड़के के भेष में रखने की प्रथा देखी जाती है। मेरी समझ में ही नहीं आता कि ऐसा करने से क्या लाभ है? पुरुष की पोशाक पहिनने से कोई स्त्री पुरुष तो हो ही नहीं सकती! संभव है, कन्या के माता-पिता उसे लड़के की पोशाक पहना कर सोचते हों—लड़के की पोशाक पहिनकर हम कन्या की लड़का होने की भावना पूरी कर रहे हैं! मगर ऐसा करने से क्या हानि होती है, इस बात पर उन्होंने विचार नहीं किया। लड़की को लड़का बनाने का विचार करना प्रकृति से युद्ध करना है। प्रकृति से युद्ध करके कोई विजय नहीं पा सकता। फल यह होता है कि ऐसा करने से लड़की के संस्कार बिगड़ जाते हैं। कोई-कोई बचपन के मूल्य को नहीं समझते। वे बाल्यावस्था को निरर्थक ही मानते हैं। पर बाल्यावस्था में ग्रहण किये हुए संस्कारों के आधार पर ही बालक के सम्पूर्ण जीवन का निर्माण होता है। जिसका बालकपन बिगड़ गया उसका सारा जीवन बिगड़ गया और जिसका बालकपन सुधर गया उसका सारा जीवन सुधर गया। किसी कवि ने कहा है—

यन्नवे भाजने लग्न संस्कारो नान्यथा भवेत्।

कच्चे घड़े पर बेलबूँटे बना दिये जाते हैं वे घड़े के पकने पर भी नहीं मिटते। लेकिन पके घड़े पर बनाये हुए बेलबूँटे कायम नहीं रहते। यही बात बाल्यावस्था के विषय में है।

अतएव जीवन निर्माण की दृष्टि से बाल्यावस्था का मूल्य बहुत अधिक है। माता पिता को यह बात दिल मे लिखा लेना चाहिए कि बालक के सस्कार, चाहे वे भले हों या बुरे हों, जीवन भर जाने वाले नहीं हैं। अतएव उन्हे बुरे सस्कारों से बचाकर अच्छे सस्कारों से सुसस्कृत करना चाहिए। अगर बालकों को प्रारम्भ से ही खराब बोलचाल और खान पान से बचाते रहो तो आगे चलकर वे इतने उत्तम बनेंगे कि आपका गृहस्थ जीवन सुखमय शान्तिमय और सतोषमय बन जायगा।

कविसम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक निबन्ध में लिखा है कि पाँच वर्ष तक के बालक को सिला हुआ कपडा पहनाना उसकी वृद्धि म बाधा डालना है। खुले शरीर में जो कांति आ सकती है, वह सिले कपडों से बन्द किये हुए शरीर में नहीं आ सकती। चुस्त कपड़ों से बालक के शरीर का विकास भी रुक जाता है। ऐसी स्थिति में यह समझना कठिन नहीं है कि गहनों से भी बालक का विकास अवरुद्ध हो जाता है। जो बालक 'सोना' शब्द का उच्चारण भी नहीं कर सकता, न सोने को पहिचानता ही है, उसे सोना पहनाने से क्या लाभ है? सोना बालक के प्राणों का ग्राहक भले ही बन सकता है, लाभ तो उससे कुछ भी दिखाई नहीं देता। बालक को जब सिला कपड़ा पहिनाया जाता है तो वह रोने लगता है। वह रोकर मानो कहता है कि मुझे इस बन्धन में मत डालो। मगर कौन बालकों की पुकार सुनता है!

जरा विचार कीजिए कि आप लोग अपने बालकों को नाना प्रकार के आभूषण और गोटा किनारी के कपड़े पहिनाये

विना संतोष नहीं मानते, मगर अंगरेजों के कितने लड़कों को आपने गहने पहिने देखा है ?

आप बालकों को बचपन से ही ऐसी विकारयुक्त रुचि का बना देते हैं कि आगे चलकर उनकी रुचि का सुधरना कठिन हो जाता है। बड़े होने पर कदाचित् उन्हें गहने न मिलें तो वे दुःख का अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि ही विकृत हो जाती है। उनका जीवन दुःखमय बन जाता है। माता-पिता को तो चाहिए कि वे बालक को सादगी और स्वच्छता का सबक सिखावें, जिससे उनका अगला जीवन सुख और सन्तोष के साथ व्यतीत हो सके।

बहुत से लोग लड़कों पर अच्छा भाव रखते हैं परन्तु लड़कियाँ उन्हें आफत की पुड़ियाँ मालूम होती हैं। लड़का उत्पन्न होने पर वे प्रसन्न होते हैं और लड़की के जन्म पर मातम-सा मानते हैं—उदास हो,जाते हैं। फिर उसके पालन-पोषण में भी ऐसी लापरवाही की जाती है कि लड़की अपने भाग्य से ही बड़ी हो पाती है। लड़की बड़ी हो जाती है तो उसके शिक्षण का वैसा प्रबन्ध नहीं किया जाता जैसा लड़के का। लेकिन उसे लड़के के वेष में रक्खा जाता है, जिससे उसका नम्रता का गुण कम हो जाता है।

जहाँ इस प्रकार का पक्षपात हो, समझना चाहिए कि वहाँ भगवान् शांतिनाथ के समझने का प्रयत्न ही नहीं किया गया है। इसलिए मैं कहता हूँ कि पक्षपात को दूर करो। यह पक्षपात गृहस्थ जीवन का घोर अभिशाप है। लड़कियों के विरुद्ध किया जाने वाला ऐसा पक्षपात अत्यन्त भयंकर परिणाम पैदा

करने वाला है। किसी नवयुवती कन्या को बूढ़े के साथ ब्याह देना क्या कम अत्याचार है? पैसे के लोभ में आकर अपनी कन्या के साथ ऐसा निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने वाले लोग किस प्रकार भगवान् शांतिनाथ की उपासना कर सकते हैं? अपनी ही सन्तान को जो लोग अशांति की आग में झोंकने नहीं हिचकते उन्हें किस प्रकार शान्ति मिल सकती है? अगर आप सच्ची शांति चाहते हैं तो अपने समग्र जीवन क्रम का विचार करें और उसमें अशांति पैदा करने वाले जितने अंश हैं, उन्हें हटा दें। इससे आपका परिवार, समाज और देश शान्ति प्राप्त करेगा। ऐसा करने पर ही भगवान् शान्तिनाथ की आराधना हो सकेगी।

कन्या के बदले पैसे लेने वाले का कभी भला नहीं होता। मैं अपनी आँखों देखी बात कहता हूँ। एक आदमी के पाँच लड़कियाँ थीं और एक लड़का था। लड़कियों के उसने मन चाहे रुपये लिये। यही नहीं वरन् किसी किसी लड़की की सगाई एक जगह करके छोड़ दी और फिर दूसरी जगह की। इतना करने पर भी उसकी दरिद्रता दूर नहीं हुई और न उसके लड़के का ही विवाह हुआ। उसके वंश का नाश हो गया।

मतलब यह है कि प्रकृति के नियमों को तोड़कर रुपये के लोभ में पड़कर नवयुवती कन्या को बूढ़े के हवाले कर देना या अयोग्य धनवान को लड़की देकर योग्य धनहीन को वंचित रखना योग्य नहीं है। भगवान् ने तो दासी बेचने को भी बड़ा पाप कहा है, फिर कन्या को बेच देना कितना बड़ा पाप न होगा!

महारानी अचला को बाल्यावस्था से ही सुन्दर संस्कार मिले थे। वह अपने पत्नीधर्म को भली भांति समझती थीं। इस

कारण वह भोजन किये विना ही महाराज अश्वसेन के समीप पहुँचीं। वहाँ जाकर देखा कि महाराज अश्वसेन गंभीर मुद्रा धारण करके ध्यान में लीन है। महारानी ने हाथ जोड़कर धीमे और मधुर किन्तु गम्भीर स्वर में महाराज का ध्यान भंग करने का प्रयत्न किया। महारानी का गम्भीर स्वर सुनकर महाराज का ध्यान टूटा। उन्होंने आँख खोलकर देखा तो सामने महारानी हाथ जोड़ खड़ी नजर आई। महाराज ने इस प्रकार खड़ी रहने और ध्यान भंग करने का कारण पूछा। महारानी ने कहा—आप आज अभी तक भोजन करने नहीं पधारे। इसका क्या कारण है?

महाराज सोचने लगे—जिस उपद्रव को मैं दूर नहीं कर सकता, उसे महारानी स्त्री होकर कैसे दूर कर सकती है? फिर अपनी चिन्ता का कारण कह कर इन्हे दुःखी करने से क्या लाभ है? इस प्रकार विचार कर वह चुप ही रहे। कुछ न बोले।

पति को मौन देख महारानी ने कहा—जान पड़ता है, आप किसी ऐसी चिन्ता मे डूबे है, जिसे सुनने के लिए मैं अयोग्य हूँ। सभवतः इसी कारण आप बात छिपा रहे हैं। यदि मेरा अनुमान सत्य है तो आज्ञा दीजिए कि मै यहाँ से टल जाऊँ! ऐसा न हो तो कृपया अपनी चिन्ता का कारण बतलाइए। आपकी पत्नी होने के कारण आपके हर्ष-शोक मे समान रूप से भाग लेना मेरा कर्त्तव्य है।

महाराज अश्वसेन ने कहा—मेरे पास कोई चीज़ नही है जो तुम से छिपाने योग्य हो। मै ऐसा पति नहीं कि अपनी पत्नी से किसी प्रकार का दुरास रक्खूँ। मगर मै सोचता हूँ कि मेरी

चिन्ता का कारण सुन लेने से मेरी चिन्ता तो दूर होगी नहीं, तुम्हें भी चिन्ता हो जायगी। इससे लाभ क्या होगा ?

महारानी—अगर बात कहने से दु:ख नहीं मिटेगा तो उदास होने से भी नहीं मिटेगा। इस समय सारा दु:ख आप उठा रहे हैं, लेकिन जब आप, अपनी इस अर्धांगिनी से दु:ख का कारण कह देंगे तो आपका आधा दु:ख कम हो जायगा।

महाराज—तुम्हारी इच्छा है तो सुन लो। इस समय सारी प्रजा महामारी की बीमारी से पीडित है। मुझसे ही कोई अपराध बन गया है, जिसके कारण प्रजा को कष्ट भुगतना पड़ रहा है। ऐसा न होता तो मेरे सामने प्रजा क्यों दु:खी होती ?

महारानी—जिस पाप के कारण प्रजा दु:ख पा रही है, वह आपका ही नहीं है, मेरा भी है।

महारानी की यह बात सुनकर महाराज को आश्चर्य हुआ। फिर उन्होंने कुछ सोचकर कहा—ठीक है। आप प्रजा की माता हैं। आपका ऐसा सोचना ठीक ही है। मगर विचारणीय बात तो यह है कि यह दु:ख किस प्रकार दूर किया जाय ?

महारानी—पहले आप भोजन कर लीजिए। कोई न कोई उपाय निकलेगा ही।

महाराज—मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि जब तक प्रजा का दु:ख दूर न होगा, मैं अन्न जल ग्रहण नहीं करूँगा।

महारानी—जिस नरेश में इतनी दृढ़ता है, जो प्रजाहित के लिए आत्मबलिदान करने को उद्यत है, उसकी प्रजा कदापि

दुःखी नहीं रह सकती। लेकिन जब तक आप भोजन नहीं कर लेते, मैं भी भोजन नहीं कर सकती।

महाराज—तुम अगर स्वतन्त्र होतीं और भोजन न करतीं, तब तो कोई बात ही नहीं थी। लेकिन तुम गर्भवती हो। तुम्हारे भूखे रहने से गर्भ को भी भूखा रहना होगा और यह अत्यन्त ही अनुचित होगा।

गर्भ की याद आते ही अचला महारानी ने कहा—नाथ! अब मैं महामारी के मिटाने का उपाय समझ गई। यह महामारी उषा के पूर्व का अन्धकार है। मैं इसे मिटाने का उपाय करती हूँ।

महारानी अचला महल के ऊपर चढ़ गई और अमृतदृष्टि से चारों ओर देख कर कहने लगीं—प्रभो! यदि यह महामारी शान्त न हुई तो पति जीवित नहीं रहेंगे। पति के जीवित न रहने पर मैं भी जीवित नहीं रह सकूँगी और इस प्रकार यह गर्भ भी नष्ट हो जायगा। इसलिए हे महामारी! मेरे पति के लिए, मेरे लिए और इस गर्भ के लिए इस राज्य को शीघ्र छोड़ दे।

उषा के आगे अंधकार कैसे ठहर सकता है? महारानी के चारों ओर देखते ही महामारी हट गई। उसके बाद महाराज अश्वसेन को सूचना मिली कि राज्य में शान्ति हो गई है। महाराज आश्चर्यचकित रह गए। वे महारानी के महल में आये। मालूम हुआ कि वे महल के ऊपर हैं। महाराज वहीं पहुँचे। उन्होंने देखा कि अचला महारानी अचल ध्यान में खड़ी हैं। चारों ओर अपनी दिव्य दृष्टि फिराती हैं, किन्तु मन को नहीं फिरने देती।

महाराज अश्वसेन ने थोड़ी देर यह दृश्य देखा। उसके बाद स्नेह की गम्भीरता के साथ कहा—'देवी, शान्त होओ।'

पति को आया जान महारानी ने उनका सत्कार किया। महाराज ने अतिशय सतोष और प्रेम के साथ कहा—समझ में नहीं आया कि तुम रानी हो या देवी? तुम्हारी जितनी प्रशसा की जाय, थोडी है। तुम्हारे होने से ही मेरा बड़प्पन है। तुम्हारी मौजूदगी से ही मेरा कल्याण मगल हुआ। तुमने देश मे शान्ति का प्रसार करके प्रजा के और मेरे प्राणों की रक्षा की है।

पति के मुख से अपनी अलकारमय प्रशसा सुनकर रानी कुछ लज्जित हुई। फिर रानी ने कहा—नाथ! यह अलकार मुझे शोभा नहीं देते। ये इतने भारी हैं कि मैं इनका बोझ नहीं उठा सकती। मुझमें इतनी शक्ति कहाँ है, जितनी आप कह रहे हैं? थोडी सी शक्ति हो भी तो वह आपकी ही शक्ति है। काच की हडी मे दीपक रखने पर जो प्रकाश होता है वह काच की हडी का नहीं, दीपक का ही है। इसलिए आपने प्रशसा क जो अलकार मुझे प्रदान किये हैं, उन्हें आभार के साथ मैं आपको ही समर्पित करती हूँ। आप ही इनके योग्य हैं। आप ही इन्हें धारण कीजिए।

महाराज—रानी, यह भी तुम्हारा एक गुण है कि तुम्हें अपनी शक्ति की खबर ही नहीं! वास्तव में जो अपनी शक्ति का घमण्ड नहीं करता वही शक्तिमान् होता है। जो शक्ति का अभिमान करता है उसम शक्ति रहती ही नहीं! बडे बड़े ज्ञानी, ध्यानी और वीरों की यही आदत होती है कि वे अपनी शक्ति

की खबर भी नहीं रखते। मैंने तुम्हें जो अलंकार दिये हैं उन्हें तुम मेरे लिए लौटा रही हो किन्तु पुरुष होने के कारण मैं उन्हें पहिन नहीं सकता। साथ ही मुझे खयाल आता है कि वह शक्ति न तुम्हारी है, न हमारी है। हमारी और तुम्हारी भावना पूरी करने वाले त्रिलोकीनाथ का ही यह प्रताप है। वह नाथ, जन्म धारण करके सारे संसार को सनाथ करेगा। आज के इस चमत्कार को देखते हुए, इन अलंकारों को गर्भस्थ प्रभु के लिए सुरक्षित रहने दो। जन्म होने पर इनका 'शांतिनाथ' नाम रक्खेंगे। 'शांतिनाथ' नाम एक सिद्ध मन्त्र होगा, जिसे सारा संसार जपेगा और शांति-लाभ करेगा। देवी, तुम कृतार्थ हो कि संसार को शांति देने वाले शांतिनाथ तुम्हारे पुत्र होंगे।

रानी—नाथ, आपने यथार्थ कहा। वास्तव में बात यही है। यह अपनी शक्ति नहीं, उसी की शक्ति है! उसी का प्रताप है, जिसे मैंने गर्भ में धारण किया है।

प्रार्थना में कहा गया है—

> अश्वसेन नृप अचला पटरानी,
> तस सुत कुलसिंगार हो सुभागी।
> जन्मत शांति थई निज देश में,
> मिरगी मार निवार हो सुभागी॥

इस प्रकार शांतिनाथ भगवान् रूपी सूर्य के जन्म-धारण करने से पहले होने वाली उषा का चमत्कार आपने देख लिया! अब शान्तिनाथ-सूर्य के उदय होने का वृत्तान्त कहना है। मगर समय कम होने के कारण थोड़े ही शब्दों में कहता हूँ।

शान्तिनाथ भगवान् को गर्भ में रहने या जन्म धारण करने के कारण आप वदना नहीं करते हैं। वे इस कारण वदनीय हैं कि उन्होंने दीक्षा धारण करके, केवलज्ञान प्राप्त किया और अन्त में मुक्ति प्राप्त की।

भगवान् शातिनाथ ने लम्बे काल तक ससार म रहकर अद्वितीय काम कर दिखाया। उन्होंने स्वय राज्य करके राज्य करने का आदर्श जनता के समक्ष उपस्थित किया। राज्य करक उन्होंने अहकार नहीं सिखलाया। उनमें ऐसी-ऐसी अलौकिक शक्तियाँ थीं कि जिनकी कल्पना भी हमारे हृदय में आश्चर्य उत्पन्न करती है। लेकिन उन्होंने ऐसी शक्तियों का कभी प्रयोग नहीं किया। माता अपने बालक को कामधेनु का दूध पिला कर तृप्त कर सकती हो तो भी उसे अपना दूध पिलाने में जिस सुख का अनुभव होता है, कामधेनु का दूध पिलाने में वह सुख कहाँ? इसी प्रकार शातिनाथ शक्ति का प्रयोग कर सकते थे परन्तु उन्हें शाति और प्रेम से काम लेने में ही आनन्द आता था।

शातिनाथ भगवान ने ससार को क्या क्या सिखाया और किस प्रकार महारम्भ से निकाल कर अल्पारम्भ में लाये, यह कथा लम्बी है। अतएव इतनी सूचना करके ही सन्तोष करता हूँ।

प्रभो! आप जन्म, जरा और मरण इन तीन बातों में ही उलझे रहते तो आप शान्तिनाथ न बनते! लेकिन आप तो संसार को शान्ति पहुँचाने वाले और शाति का अनुभव पाठ पढ़ाने वाले हुए, इस कारण हम आपको भक्तिपूर्वक वन्दना करते हैं। आपने कौनसी शाति सिखलाई है, इस सम्बन्ध में कहा है—

चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।

चक्रवर्ती की विशाल समृद्धि प्राप्त करके भी आपने विचार किया कि संसार को शांति किस प्रकार पहुँचाई जा सकती है ? इस प्रकार विचार कर आपने शांति का मार्ग खोजा और संसार को दिखलाया। जैसे माता कामधेनु का नहीं वरन् अपना ही दूध बालक को पिलाती है, उसी प्रकार आपने शांति के लिए यंत्र-मंत्र-तंत्र आदि का उपयोग नहीं किया किन्तु स्वयं शांतिस्वरूप बनकर ससार के समक्ष शांति का आदर्श प्रस्तुत किया। आपके आदर्श से संसार ने सीखा कि त्याग के बिना शांति नही प्राप्त की जा सकती। आपने संसार को अपने ही उदाहरण से बतलाया है कि सच्ची शान्ति भोग मे नहीं, त्याग मे है और मनुष्य सच्चे हृदय से ज्यों ज्यों त्याग की ओर बढ़ता जायगा त्यों-त्यों शान्ति उसके समीप आती जायगी।

१५

चेड़ा-कोणिक का युद्ध

श्रावक अपराधी को मारने का त्यागी नहीं होता। लोग कहते हैं कि अहिंसा का पालन करने से कायरता आती है। परन्तु ऐसा कहना भूल है। जान पड़ता है, यह भ्रमपूर्ण मान्यता कुछ जैन नामधारी लोगों के कायरतापूर्ण व्यवहार से ही प्रचलित हो गई है। जैन धर्म गृहस्थ के लिए यह नहीं कहता कि गृहस्थ अपराधी को मारने का भी त्याग करे। गृहस्थ के लिए जैन धर्म ने अपराधी को मारना निषिद्ध नहीं ठहराया है और न अपराधी को दंड देने वाले को अधर्मी ही कहा है। यह बात स्पष्ट करने के लिए यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है—

जिस समय भारतवर्ष में चारों ओर अराजकता फैलती आ रही थी, और शक्तिशाली लोग अशक्तों को सता रहे थे, उस समय नौ लिच्छवी और नौ मल्ली नामक अठारह राजाओं ने मिलकर एक गण संघ की स्थापना की थी। इस गणसंघ का उद्देश्य सबलों द्वारा पीड़ित निर्बलों की रक्षा करना था। गण संघ

के अठारह गणराजाओं का गणनायक (President) चेटक राजा था। राजा चेटक या चेड़ा भगवान् महावीर का पूर्ण भक्त था।

सशक्त लोगो से निर्बलो की रक्षा करने के लिए ही गण-संघ की स्थापना की गई थी। जिस समय की यह घटना है उस समय चम्पा नगरी मे कोणिक राजा राज्य करता था। कोणिक राजा श्रेणिक का पुत्र था। कोणिक के बारह भाई थे, जिनमे सब से छोटे भाई का नाम बहिलकुमार था। बहिलकुमार के पास एक कीमती हार और एक हाथी था। यह हार और हाथी उसके पिता ने उसे पुरस्कार दिया था। बहिलकुमार को राज्य मे कोई हिस्सा नही मिला था। उसने हार और हाथी पाकर ही सन्तोष मान लिया था।

बहिलकुमार हाथी पर सवार होकर आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करता था। लोग उसकी प्रशंसा करते हुए कहते थे—राज्य के रत्नो का उपभोग तो बहिलकुमार ही करते है। कोणिक के लिए तो केवल राज्य का भार ही है!

लोगो का यह कथन कोणिक की रानी पद्मा के कानों तक पहुँचा। रानी ने विचार किया—'किसी भी उपाय से वह हार और हाथी राज्य मे मँगाना चाहिए।' यह सोचकर रानी ने कोणिक से कहा-'नाथ! राजा आप है मगर राज्य के रत्नो का-हार और हाथी का-उपभोग बहिलकुमार करता है। तुम्हारे पास तो केवल निस्सार राज्य ही है!'

कोणिक ने कहा—स्त्रियो की बुद्धि बहुत ओछी होती है। इसी कारण तू ऐसा कहती है। बहिलकुमार के पास तो सिर्फ

हार और हाथी हैं, मगर मैं तो सारे राज्य का स्वामी हूँ। इसके अतिरिक्त बहिलकुमार के पास हार और हाथी है तो कोई गैर के पास थोड़े ही है! आखिर है तो मेरे भाई के पास ही न?

रानी पद्मा ने सोचा—मेरी यह युक्ति काम नहीं आई। अब दूसरा कोई उपाय काम में लाना चाहिए। यह सोचकर उसने कौणिक से कहा—तुम्हें अपने भाई पर इतना अधिक विश्वास है, यह मुझे नहीं मालूम था। तुम्हें इतना विश्वास है, यह अच्छा ही है। मगर एक बार अपने विश्वासपात्र भाई की परीक्षा तो कर देखो कि उन्हें तुम्हारे ऊपर कितना विश्वास है और तुम्हारे विश्वास पर वह हार तथा हाथी भेजता है या नहीं?

कौणिक को यह बात पसन्द आ गई। उसने बहिलकुमार के पास सदेशा भिजवा दिया—इतने दिनों तक हार और हाथी का उपभोग तुमने किया है। अब कुछ दिनों तक हम उपभोग करने दो।

यह सन्देश पाकर बहिलकुमार ने सोचा—अब कौणिक की नजर हार और हाथी पर पड़ी है। वह प्रत्येक उपाय से हार हाथी को हस्तगत करने की चेष्टा करेगा। मुझे राज्य में कोई हिस्सा नहीं मिला। फिर भी मैंने हार हाथी पाकर ही सन्तोष मान लिया। अब यह भी जाने की तैयारी में है!

इस प्रकार विचार कर और हार तथा हाथी को बचाने के लिए बहिलकुमार रात्रि के समय निकल पड़ा और अपने नाना राजा चेटक की शरण में जा पहुँचा। बहिलकुमार ने राजा चेटक को सारी कथा कह सुनाई। चेटक ने सम्पूर्ण घटना सुन

कर वहिलकुमार से कहा—'तुम्हारी बात ठीक है।' राजा चेटक ने उसे अपने यहाँ आश्रय दिया।

वहिलकुमार हार और हाथी लेकर बाहर चला गया है, यह समाचार सुनते ही पद्मा रानी को कोणिक के कान भरने के लिए पूरी सामग्री मिल गई। वह कोणिक के पास जाकर कहने लगी—तुम जिसे भाई-भाई कहकर ऊँचा चढाते थे, उसकी करतूत देख ली न ! तुम्हारे भाई को तुम्हारे ऊपर कितना विश्वास है ! उसने हार और हाथी नहीं भेजा। इतना ही नहीं, कदाचित् तुम जबर्दस्ती हार, हाथी लूट लोगे, इस भय से वह अपने नाना की शरण मे भाग गया है। वहाँ जाने की कोई खबर भी उसने तुम्हारे पास नहीं भेजी। अब मै देखती हूँ कि तुम क्या करते हो और हार तथा हाथी प्राप्त करने के लिए कैसी वीरता दिखाते हो !

इस प्रकार की उत्तेजनापूर्ण बाते कहकर पद्मा ने कोणिक को खूब भड़काया। पद्मा की यह बाते सुनकर कोणिक को भी क्रोध आ गया। वह कहने लगा—मै चेड़ा राजा के पास अभी दूत भेजता हूँ। अगर चेड़ा राजा बुद्धिमान् होगा तो वहिलकुमार को हार और हाथी के साथ मेरे पास भेज देगा।

कोणिक का दूत राजा चेटक के पास पहुँचा। दूत का कथन सुनकर चेटक ने उत्तर मे कहला दिया—मेरे लिए तो कोणिक और बहिलकुमार दोनो सरीखे है ! परन्तु जैसे कोणिक ने अपने दस भाइयो को राज्य मे हिस्सा दिया है उसी प्रकार वहिलकुमार को भी हिस्सा दिया जाय अथवा हार और हाथी रखने का अधिकार उसे दिया जाय।

चेटक का यह उत्तर न्यायदृष्टि से ठीक था। मगर सत्ता के सामने न्याय अन्याय कौन देखता है ! जिसके हाथ म सत्ता है, वह तो यही कहता है कि हमारा वाक्य न्याय है और जिधर हम उगली उठावें उधर ही पूर्व दिशा है।

चेटक का उत्तर सुनकर कोणिक ने फिर कहला भेजा—हम राजा हैं। रत्नों पर राजा का ही अधिकार होता है। तुम्हें हमारे बीच में पडने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम वहिल कुमार को मेरे पास भेज दो। हम भाई भाई आपस म निपट लेंगे।

दूत ने चेटक के पास पहुँचकर कोणिक का सन्देश सुनाया। कोणिक ने अपने सन्देश म राज्य का हिस्सा देने के विषय में कुछ भी नहीं कहलाया था। अतएव चेटक ने यही प्रत्युत्तर दिया—अगर कोणिक, वहिलकुमार को राज्य मे हिस्सा देने को तैयार हो, तब तो ठीक है। मगर उसने इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहलाया। ऐसी स्थिति में वहिलकुमार को कैसे भेज सकता हूँ ? सबलों से निर्बलों की रक्षा करना तो हमारी प्रतिज्ञा है।

दूत फिर चम्पा नगरी लौट गया और चेटक का उत्तर कोणिक से कह दिया। कोणिक को अपनी शक्ति का अभिमान था। उसने राजा चेटक को कहला दिया—या तो वहिलकुमार को हार हाथी क साथ मेरे पास भेज दो अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

चेटक राजा ने अपने गण सघ के सब सदस्यों को एकत्र किया और सम्पूर्ण घटना से परिचित किया। ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिए, इस विषय में उनकी सम्मति पूछी। आगे

पीछे का विचार करने के बाद सभी राजा इस निर्णय पर पहुँचे कि क्षत्रिय होने के नाते सबलों द्वारा सताये जाने वाले निर्बलों की रक्षा करना हमारा धर्म है। अपने गण-संघ का उद्देश्य भी निर्बलो की रक्षा करना है। वहिलकुमार न्याय के पथ पर है। न्यायदृष्टि से उसे कोणिक के पास भेज देना उचित नहीं है। युद्ध करके शरणागत की रक्षा करना ही हम लोगों का कर्त्तव्य है।

गणराजा अपने धर्म का पालन करने के लिए अपने प्राण तक देने पर उतारू हो गये। परन्तु तुम लोग धर्म की रक्षा के लिए कुछ करते हो? क्या तुम धर्म की रक्षा के लिए थोड़ा-सा भी स्वार्थ त्याग सकते हो? स्वार्थत्याग करने से ही धर्म की रक्षा हो सकती है। गणराजाओ जैसी परिस्थिति अगर तुम्हारे सामने उपस्थित हो जाय तो तुम क्या करोगे? कदाचित् तुम यही सोचोगे कि—कहाँ का हार और कहाँ का हाथी! हमारा उससे क्या लेन-देन है? मगर क्या यह राजा लोग ऐसा नहीं सोच सकते थे? वास्तव मे इस प्रकार का विचार करना कायरता है। वीर पुरुष ऐसा तुच्छ विचार नहीं करते। वे दूसरों की रक्षा के लिए सदैव उद्यत रहते है। आज तो लोगो मे कायरता व्याप गई है। यह कायरता स्वार्थपूर्ण व्यापार के कारण आई है, मगर लोगों का कहना है कि वह धर्म के कारण आई है। यह कहना एक गम्भीर भूल है। धर्म के कारण कायरता कदापि नहीं आ सकती। वीर पुरुष ही धर्म का पालन कर सकते हैं।

समस्त गणराजाओं के साथ चेड़ा राजा युद्ध के लिए तैयार हो गया। इधर कोणिक राजा भी अपने दसो भाइयों के साथ युद्ध के लिए तैयार हुआ। यद्यपि कोणिक के दस भाई कह

चेटक का यह उत्तर न्यायदृष्टि से ठीक था। मगर सत्ता के सामने न्याय अन्याय कौन देखता है! जिसके हाथ में सत्ता है, वह तो यही कहता है कि हमारा वाक्य न्याय है और जिधर हम उंगली उठावें उधर ही पूर्व दिशा है।

चेटक का उत्तर सुनकर कोणिक ने फिर कहला भेजा—हम राजा हैं। रत्नों पर राजा का ही अधिकार होता है। तुम्हें हमारे बीच म पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम वहिल कुमार को मेरे पास भेज दो। हम भाई भाई आपस म निपट लेंगे।

दूत ने चेटक के पास पहुँचकर कोणिक का सन्देश सुनाया। कोणिक ने अपने सन्देश मे राज्य का हिस्सा देने के विषय में कुछ भी नहीं कहलाया था। अतएव चेटक ने यही प्रत्युत्तर दिया—अगर कोणिक, वहिलकुमार को राज्य म हिस्सा देने को तैयार हो, तब तो ठीक है। मगर उसने इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहलाया। ऐसी स्थिति में वहिलकुमार को कैसे भेज सकता हूँ ? सबलों से निर्बलों की रक्षा करना तो हमारी प्रतिज्ञा है।

दूत फिर चम्पा नगरी लौट गया और चेटक का उत्तर कोणिक से कह दिया। कोणिक को अपनी शक्ति का अभिमान था। उसने राजा चेटक को कहला दिया—या तो वहिलकुमार को हार हाथी क साथ मेरे पास भेज दो, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

चेटक राजा ने अपने गण संघ के सब सदस्यों को एकत्र किया और सम्पूर्ण घटना से परिचित किया। ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिए, इस विषय में उनकी सम्मति पूछी। आगे

पीछे का विचार करने के बाद सभी राजा इस निर्णय पर पहुँचे कि क्षत्रिय होने के नाते सबलों द्वारा सताये जाने वाले निर्बलो की रक्षा करना हमारा धर्म है। अपने गण-संघ का उद्देश्य भी निर्बलो की रक्षा करना है। वहिलकुमार न्याय के पथ पर है। न्यायदृष्टि से उसे कोणिक के पास भेज देना उचित नहीं है। युद्ध करके शरणागत की रक्षा करना ही हम लोगों का कर्त्तव्य है।

गणराजा अपने धर्म का पालन करने के लिए अपने प्राण तक देने पर उतारू हो गये। परन्तु तुम लोग धर्म की रक्षा के लिए कुछ करते हो? क्या तुम धर्म की रक्षा के लिए थोड़ा-सा भी स्वार्थ त्याग सकते हो? स्वार्थत्याग करने से ही धर्म की रक्षा हो सकती है। गणराजाओ जैसी परिस्थिति अगर तुम्हारे सामने उपस्थित हो जाय तो तुम क्या करोगे? कदाचित् तुम यही सोचोगे कि—कहाँ का हार और कहाँ का हाथी! हमारा उससे क्या लेन-देन है? मगर क्या यह राजा लोग ऐसा नहीं सोच सकते थे? वास्तव में इस प्रकार का विचार करना कायरता है। वीर पुरुष ऐसा तुच्छ विचार नहीं करते। वे दूसरों की रक्षा के लिए सदैव उद्यत रहते है। आज तो लोगो मे कायरता व्याप गई है। यह कायरता स्वार्थपूर्ण व्यापार के कारण आई है, मगर लोगो का कहना है कि वह धर्म के कारण आई है। यह कहना एक गम्भीर भूल है। धर्म के कारण कायरता कदापि नहीं आ सकती। वीर पुरुष ही धर्म का पालन कर सकते हैं।

समस्त गणराजाओं के साथ चेड़ा राजा युद्ध के लिए तैयार हो गया। इधर कोणिक राजा भी अपने दसो भाइयों के साथ युद्ध के लिए तैयार हुआ। यद्यपि कोणिक के दस भाई कह

सकते थे कि हम सब को राज्य का हिस्सा मिला है तो बहिन्न कुमार को भी हिस्सा मिलना चाहिए, परन्तु उन्होंने भी सत्ता के सामने मस्तक झुका लिया। इतिहासवेत्ताओं का कथन है कि गणराज्य प्रजातन्त्र राज्य के समान था। परन्तु दूसरे राजा स्वच्छन्द थे और गरीबों पर अन्याय करते थे।

गणराजाओं की सेना का नेतृत्व चेटक ने ग्रहण किया। वास्तव में धार्मिक व्यक्ति धर्म की रक्षा के लिए सदा आगे ही रहता है। आज के प्रमुख तो कार्य करने के समय नौकरों को आगे कर देते हैं परन्तु चेटक राजा स्वयं अगुवा बना और उसने अपनी युद्धकला का परिचय दिया। राजा चेटक ने अपनी अचूक बाणावली के द्वारा कोणिक के भाइयों का शिरच्छेद कर डाला।

अपने भाइयों के मर जाने से कोणिक भयभीत हो गया। कोणिक ने तप आदि द्वारा इन्द्र की आराधना की। उसकी आराधना के फलस्वरूप शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र आये। शक्रेन्द्र ने कोणिक से कहा—तुम्हारा पक्ष न्यायपूर्ण नहीं है और चेटक राजा का पक्ष न्यायपूर्ण है।

कोणिक बोला—कुछ भी हो, इस समय तो मेरी रक्षा करो।

शक्रेन्द्र ने उत्तर दिया—मैं अधिक तो कुछ नहीं कर सकूँगा, सिर्फ चेटक राजा के बाण से तुम्हारी रक्षा करूँगा। मैं उनका बाण वेध चुका दूँगा।

चमरेन्द्र बोला—तुम मेरे मित्र हो, इस कारण मैं सेना वैक्रिय करूँगा और रथमूसल का संग्राम वैक्रिय करके तुम्हें विजय दिलाऊँगा।

चमरेन्द्र से इस प्रकार आश्वासन पाकर कोणिक बहुत प्रसन्न हुआ। अब कोणिक फिर तैयार होकर राजा चेटक के सामने युद्ध करने आ पहुँचा। भगवान ने कहा—उस संग्राम में एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्य मारे गये।

भगवतीसूत्र मे भी एक ऐसा उदाहरण आया है। वरुण नागनतुआ नामक एक श्रावक था। यह श्रावक बेले-बेले पारणा करता था। वह चेटक राजा का सामन्त था। एक बार उसे युद्ध मे जाने के लिए कहा गया। उस समय उसके दूसरा उपवास था। क्या ऐसा उपवास करने वाले को युद्ध मे जाना उचित था? क्या वह नही कह सकता था कि मै उपवासी हूँ। युद्ध मे कैसे जा सकता हूँ? परन्तु उसने ऐसा कोई उत्तर न देते हुए यही कहा कि अवसर आने पर सेवक को स्वामी की सेवा करनी ही चाहिए। स्वामी की सेवा करने के ऐन मौके पर कोई बहाना बनाकर किनारा काटना अनुचित है। अवसर आने पर नमकहराम बनना क्या हरामखोरी नही है?

आज भारतवर्ष मे बड़ी हरामखोरी दिखाई देती है। जो लोग भारत का अन्न खाते है वही भारत की नाक कटाने वाले कामों मे शामिल होते है। जो वस्त्र भारत को गुलाम बनाते हैं, उन्हीं को ये अपनाते है। भारत की सभ्यता को, रहन-सहन आदि को भुला देते हैं। यह नमकहरामी नहीं तो क्या है? वायसराय, गवर्नर आदि आते हैं और भारत का शासन करते है, पर उन्हें भारतीय वेषभूषा पहनने के लिए कहा जाय तो क्या वे कहना मानेंगे? वे यही उत्तर देंगे कि हम तो अपनी मातृभूमि की सेवा बजाने आये हैं, द्रोह करने नहीं। अतएव हम अपना वेष कैसे

छोड़ सकते हैं ? इस प्रकार अंग्रेज लोग भारत में रहते हुए भी अंग्रेजी पोशाक पहनकर फूले नहीं समाते। यह कुलनता के सिवाय और क्या है ? पोशाक और रहन सहन से मातृभूमि की पहचान होती है। मगर आज भारत का रहन सहन बदल गया है। सभ्यता बदल देने से मातृभूमि के प्रति द्रोह होता है। देश हित की दृष्टि से भी भारतीय संस्कृति अपनाने योग्य है।

वरुण नागनतुआ वीर होने के कारण ही, उपवासी होता हुआ भी, देशरक्षा के लिए युद्ध में शामिल हो गया। मगर आज कायरता आ जाने के कारण देश, समाज और धर्म का पतन हो रहा है।

कहने का आशय यह है कि चेटक राजा और वरुण नाग नतुआ ने श्रावक या सम्यग्दृष्टि होने पर भी संग्राम लड़ा। फिर भी उनका स्थूल अहिंसाव्रत खंडित न हुआ। इसका कारण यही है कि वे निरपराध को ही मारने के त्यागी थे। ऐसी अवस्था में उनका स्थूल अहिंसाव्रत कैसे भंग हो सकता था ? अपराधी को मारने का समावेश स्थूल हिंसा में नहीं होता। राज्य भी ऐसे कामों को अपराध नहीं गिनता। लोग अपराधी को दंड देने के समय दूर-दूर भागते हैं और निरपराध के गले पर कलम-कुठार चलाने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह उनकी कायरता है।

उक्त कथन का आशय यह है कि गृहस्थधर्म मर्यादायुक्त है। गृहस्थधर्म का पालन करने से आत्मा का विकास भी होता है और सांसारिक काम भी नहीं रुकता। जैनधर्म वीरों का धर्म है। इस वीरधर्म में कायरता के लिए लेश मात्र भी गुञ्जाइश नहीं। जिसमें वीरता होगी वही जैनधर्म का भली भांति पालन कर

सकेगा। आज कायरता को पोषने का जो अपवाद जैन-धर्म पर लगाया जाता है, उसका प्रधान कारण जैन कहलाने वालों का कायरतापूर्ण व्यवहार ही है। अगर जैनधर्म का यथोचित पालन किया जाय तो देश, समाज और धर्म का उत्थान हुए बिना नहीं रह सकता। धर्मपालन के लिए वीरता और धीरता की आवश्यकता रहती है। जो मनुष्य अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता वह दूसरो की रक्षा कैसे कर सकता है? देश, समाज और धर्म के उत्थान के लिए सर्वप्रथम नैतिक बल प्राप्त करने की आवश्यकता है।

१६

इन्द्रियविजय

जितशत्रु नामक एक राजा था। उसके प्रधान का नाम सुबुद्धि था। सुबुद्धि बड़ा विचारशील था। एक दिन सुबुद्धि राजा के साथ भोजन करने बैठा था। भोजन स्वादिष्ट था। राजा ने प्रधान से कहा—'देखो, कितना स्वादिष्ट भोजन है!' राजा के इस कथन के उत्तर में सुबुद्धि ने कहा—'इसमें क्या है? इष्ट से अनिष्ट हो जाना और अनिष्ट से इष्ट हो जाना तो वस्तुओं का स्वभाव ही है।' राजा ने कहा—'प्रधान, तुम तो नास्तिक जान पड़ते हो। क्या यह भी कभी सम्भव है कि अच्छी वस्तु बुरी और बुरी वस्तु अच्छी बन जाए!'

राजा अपने दूसरे कर्मचारियों से इस सम्बन्ध में बात करता तो वे सब राजा की ही बात का समर्थन करते थे। मगर सुबुद्धि तो यही कहता कि तुम लोग चाहो सो कहो। मेरे गुरु ने तो मुझे यही सिखलाया है और मैं यही मानता हूँ कि इष्ट का अनिष्ट और अनिष्ट का इष्ट हो जाना ही पुद्गल का स्वभाव है।

पुद्गल का स्वभाव नष्ट हो जाता है, अतएव वस्तु का इष्ट-अनिष्ट हो जाना स्वाभाविक है।

राजा ने प्रधान को बहुत समझाने की कोशिश की, पर प्रधान ने अपनी बात नहीं बदली। प्रधान को अपनी बात पर पूरा भरोसा था। उसने राजा से कहा—जिस बात को मैं सत्य मानता हूँ, उस सत्य को मैं असत्य कैसे कह सकता हूँ ? राजा ने समझ लिया कि प्रधान इस समय हठ पकड कर बैठा है। अब इस बात को जाने दिया जाय!

एक दिन राजा नगर-निरीक्षण करने निकला। प्रधान साथ ही था। नगर के चहुँ ओर खाई थी। पानी भर जाने के कारण खाई मे से बदबू निकल रही थी। राजा और प्रधान उसी खाई के पास से निकले। खाई से निकलने वाली दुर्गन्ध असह्य थी। राजा ने प्रधान से कहा—प्रधान, देखो, इस खाई का पानी कितना बदबूदार है ? इतना कह कर राजा ने अपनी नाक दबा ली। उस समय भी प्रधान ने यही उत्तर दिया—'महाराज ! इष्ट से अनिष्ट और अनिष्ट से इष्ट हो जाना तो वस्तु का स्वभाव ही है।' प्रधान का उत्तर सुनकर राजा ने कहा—'प्रधान, तुम बहुत हठी हो। क्या सब चीजे ऐसी हो सकती है ?' प्रधान बोला—महाराज, मै हठ नहीं करता, वस्तु का सच्चा स्वरूप कह रहा हूँ। आप कुछ भी फरमावें, मुझे तो आपके प्रति भी समभाव रखना है और वस्तु के प्रति भी समभाव रखना है।

घर पहुँचकर प्रधान ने विचार किया—वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध मे राजा के साथ मेरा मतभेद बढ़ता चला जा रहा है। मुझे किसी प्रकार राजा को अपनी बात की खातरी

करा देनी चाहिए कि मैं जो कुछ कहता हूँ वह सत्य है—असत्य नहीं। इस प्रकार विचार कर उसने अपना एक विश्वस्त आदमी भेज कर, खाई का बदबूदार पानी एक घड़ा भरवाकर मँगवाया। प्रधान ने उस पानी को अपने ४६ प्रयोगों द्वारा परिष्कृत किया। तत्पश्चात् उसने वह पानी राजा के पानी भरने वाले को दिया और कहा—'महाराज जब भोजन करने बैठें तो पीने के लिए यह पानी रख देना।

राजा जब भोजन करने बैठा तो उस आदमी ने वही पानी पीने के लिये रख दिया। पानी पीकर राजा ने कहा—'अरे, यह पानी तो बहुत मीठा है। यह कहाँ से लाया है? आदमी ने उत्तर दिया—'यह पानी प्रधानजी ने भेजा है।' राजा ने प्रधान को उसी समय बुलवाकर कहा—'तुम इतना मीठा पानी पीते हो और मेरे लिए आज यह भिजवाया है।' प्रधान ने कहा—'इस पानी में ऐसा क्या है? यह तो वस्तु का स्वभाव ही है कि वह अनिष्ट से इष्ट और इष्ट से अनिष्ट हो जाती है।

राजा ने कहा—फिर वही बात कहने लगे?

प्रधान—मैं जो कहता हूँ, ठीक कहता हूँ। यह पानी उसी खाई का पानी है, जिसकी बदबू के मारे आपने नाक दबा लिया था।

राजा—वह बदबू वाला पानी इतना मीठा कैसे बन सकता है?

प्रधान—महाराज! मैं प्रयोग द्वारा आपके सामने भी उस पानी को ऐसा मीठा बना सकता हूँ।

आखिर राजा ने खाई का दुर्गन्ध वाला पानी मँगवाया। प्रधान से उसे शुद्ध और सुगन्धित बनाने के लिए कहा। प्रधान ने

पहले की तरह उस पानी को परिष्कृत कर दिया। इस घटना से राजा को विश्वास हो गया कि वस्तु मे परिवर्तन हो सकता है। राजा ने प्रधान के सिद्धान्त को स्वीकार करके कहा—प्रधानजी! आप धर्मज्ञ और विचारशील है। अतः मुझे केवली-प्ररूपित धर्म सुनाइए। सुबुद्धि प्रधान श्रावक था और धर्मतत्त्व का ज्ञाता था। उसने राजा को धर्मतत्त्व समझाया। श्रावक को धर्म समझाने का अधिकार है, मगर जब वह स्वयं ज्ञाता हो तभी दूसरों को समझा सकता है। सुबुद्धि प्रधान से धर्मतत्त्व समझ कर राजा बारह व्रतधारी श्रावक बना। धीरे-धीरे उसने आत्मकल्याण किया।

कहने का आशय यह है कि धर्म का ज्ञाता व्यक्ति तो यही मानता है कि इष्ट से अनिष्ट और अनिष्ट से इष्ट होना ही वस्तु का स्वरूप है। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप समझ लेने पर मनुष्य इष्ट वस्तु पर राग और अनिष्ट वस्तु पर द्वेष धारण नहीं करता। वह समभाव ही रखता है। वह भली-भाँति जानता है कि जो वस्तु थोड़ी देर के लिए इष्ट प्रतीत होती है और फिर अनिष्ट मालूम होने लगती है उसके खातिर मैं अपने आत्मा मे राग-द्वेष क्यों उत्पन्न होने दूँ? वस्तु आत्मा का उत्थान भी करती है और पतन भी करती है। वस्तु के निमित्त से जब आत्मा मे राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है तो ऐसी अवस्था मे आत्मा का पतन होता है और समभाव उत्पन्न होने से आत्मा का उत्थान होता है। जिस वस्तु के निमित्त से आत्मा का उत्थान हो सकता है, उसे आत्मपतन का कारण क्यो बनाया जाय?

इस प्रकार विचार कर इन्द्रियों का निग्रह करने वाला व्यक्ति अवश्य ही आत्मकल्याण का भागी होता है।

सभी शास्त्रकार और सभी धर्मावलम्बी इन्द्रियों के निग्रह की बात कहते हैं। इस विषय में प्रायः किसी का मतभेद नहीं है। सभी लोगों का कथन है कि इन्द्रियों का निग्रह करने से आत्मा का कल्याण हो सकता है। गीता में भी कहा है—हे अर्जुन! तुझे आत्मा का कल्याण करना हो तो सब से पहले इन्द्रियों का निग्रह कर। इन्द्रियनिग्रह से आत्मा का उत्थान होता है और इन्द्रियों के अधीन बनने से आत्मा का पतन होता है। अतएव इन्द्रियों को वश में रक्खो। उन्हें पदार्थों के प्रलोभन में मत जाने दो। पर्वत पर से एक ही पैर फिसल जाय तो कौन कह सकता है कि कितना पतन होगा? इसी प्रकार एक भी इन्द्रिय अगर काबू से बाहर हो गई तो कौन कह सकता है कि आत्मा का कितना पतन होगा! इसलिए अगर तुम अपने आत्मा को सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा शान्त करके दुःखमुक्त करना चाहते हो तो सर्वप्रथम इन्द्रियों का निग्रह करो। इन्द्रियनिग्रह ही आत्मविजय का अमोघ साधन है।

पुरुषार्थ

भगवान् महावीर का सिद्धान्त, उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम का है। श्री उपासकदशांगसूत्र के सकडालपुत्र के अध्ययन मे इसी सिद्धान्त का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। गोशालक का मत यह है कि उत्थान आदि कुछ भी नहीं है, जो होनहार है वही होता है। इस मत के विरुद्ध भगवान् का सिद्धान्त यह है कि उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम आदि द्वारा आत्मा सिद्ध होता है। संक्षेप मे, भगवान् महावीर पुरुषार्थवादी थे और गोशालक नियतिवादी।

एक बार भगवान् महावीर ने सकडालपुत्र से कहा—आत्मा उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम से सिद्ध होता है। इस कथन के उत्तर मे सकडालपुत्र ने कहा कि उत्थान आदि द्वारा आत्मा सिद्ध नहीं होता वरन् सिद्ध होने वाला हो तो हो जाता है।

सकटालपुत्र पहले गोशालक का श्रावक था। इस कारण उसने गोशालक के मत का समर्थन किया। एक दिन सकडाल पुत्र ने अपनी दुकान में से मिट्टी के बर्त्तन बाहर निकाले और धूप में सुखा दिये। तब भगवान् महावीर ने उससे कहा—हे सकडाल ! यह मिट्टी के बर्त्तन किस तरह बने हैं ?

सकडालपुत्र ने बर्त्तनों के बनने का क्रम बतलाते हुए कहा—जगल से मिट्टी लाया। फिर उसमें दूसरी चीजों का मिश्रण करके मिट्टी का पिंड बनाया। उसे चाक पर चढ़ाया और तब बर्त्तन बनाये हैं।

भगवान् ने कहा—यह बर्त्तन उत्थान आदि से ही बने हैं न ?

सकडाल—नहीं, होनहार ही होता है।

भगवान्—अगर कोई तुम्हारे बर्त्तनों को फोड़ डाले तो ?

सकडाल—मेरे बर्तन फोडने वाले को मैं बिना मारे नहीं छोड़ूँगा। मैं उसके हाथ पैर तोड दूँगा।

भगवान्—सकडाल ! तुम उसे इतना दण्ड क्यों दोगे ? तुम्हारे हिसाब से तो होनहार ही होता है। फिर तुम दण्ड क्यों दोगे ? तुम्हें अपने मतव्य के अनुसार तो यही मानना चाहिए कि लकडी के सयोग से बर्तन फूटने वाले थे सो फूट गए।

भगवान् का यह कथन सुनकर सकडालपुत्र विचार में पड़ गया। इतने में ही भगवान् ने उसके सामने दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हुए कहा—हे सकडालपुत्र ! कल्पना करो, तुम्हारी पत्नी सिंगार करके बाहर निकली और कोई पुरुष उस पर बलात्कार करना चाहता है तो तुम क्या करोगे ?

सकडालपुत्र ने कहा—मै ऐसे दुष्ट पुरुष के नाक-कान काट लूँगा, यहाँ तक कि उसे प्राणदण्ड देने का भी प्रयत्न करूँगा।

भगवान्—हे सकडालपुत्र ! तुम्हारे मत के अनुसार तो होनहार ही होता है। फिर तुम्हे उस दुष्ट पुरुष को दण्ड नहीं देना चाहिए।

भगवान् की युक्तिसंगत वाणी सुनकर सकडालपुत्र को बोध हो गया। उसने भगवान् से कहा—'भगवन् ! मै धर्म श्रवण करना चाहता हूँ।' भगवान् ने उसे धर्म का श्रवण कराया। भगवान् की धर्मवाणी सुनकर वह बारह व्रतधारी श्रावक बन गया। जब तक सकडालपुत्र धर्मतत्त्व को समझा नहीं था तब तक उसमे मताग्रह था। जब उसे वास्तविक धर्मतत्त्व का बोध हुआ तो उसने नियतिवाद का त्याग करके पुरुषार्थवाद का सत्यधर्म स्वीकार किया।

सकडालपुत्र कुम्भार था, फिर भी भगवान् ने उसे श्रावक बनाया। क्या ऐसा करना ठीक था ? उन्होने कुम्भार को श्रावक बनाकर संसार के सामने आदर्श उपस्थित किया कि कोई किसी भी वर्ण या जाति का क्यो न हो, शरीर से छोटा या मोटा क्यो न हो, मुझे किसी के प्रति, किसी भी प्रकार का पक्ष नही है। मैं सबका कल्याण चाहता हूँ। भगवान् के इस कथन पर तुम भी थोड़ा विचार करो।

गोशालक ने सुना कि सकडालपुत्र ने मेरा मत त्याग दिया है। उसे फिर अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए गोशालक उसके पास पहुँचा। गोशालक ने विचार किया—

सकडालपुत्र तो महावीर भगवान् का पक्का श्रावक बन गया है। तब उसने भगवान् की प्रशंसा करना आरम्भ किया।

गोशालक ने सकडालपुत्र से कहा—'क्या यहाँ महामाहण, महायान, महानिर्यामक, महागोप तथा महासार्थवाह आये थे ?'

सकडालपुत्र ने गोशालक से इन विशेषणों का अर्थ पूछा। गोशालक ने अर्थ समझाया। तब सकडालपुत्र ने कहा—तुमने मेरे गुरु की प्रशंसा की है, इस कारण मेरी दुकान में ठहरो और पाट आदि जो चाहिए सो ले लो। यह सब मैं तुम्हें गुरु मानकर नहीं देता हूँ वरन् अपने गुरु भगवान् महावीर की प्रशंसा करने के कारण दे रहा हूँ।

उत्तम क्षमा

क्षमा तीन प्रकार की होती है—तमोगुणी, रजोगुणी और सतोगुणी। तमोगुणी क्षमा वाले वे लोग हैं जो अपनी स्त्री के साथ बलात्कार करते देख हृदय में क्रोध तो करते हैं, मगर भय के मारे सामना नहीं करते। यह तमोगुणी क्षमा प्रशस्त नहीं है, यह कायरता है, घृणित है और नपुंसकता है। अर्जुन माली का कार्य संसार का नाशक नहीं, अत्याचारी को दण्ड देना है और वह दूसरे अत्याचारियों के ऐसे दुस्साहस को रोकने के लिए किया गया था। हमारा उपदेश तो ऐसी क्षमा के लिए है जैसी क्षमा सुदर्शन सेठ ने अर्जुन माली के प्रति धारण की थी। वह सतोगुणी क्षमा थी। जिसमे क्रोध तनिक भी उत्पन्न नहीं होता और क्षमा कर दिया जाता है, वही सतोगुणी क्षमा है। धर्म, अत्याचार-अनाचार को न रोकने की शिक्षा नहीं देता। धर्म किसी को कायर नहीं बनाता। धर्म की ओट में कोई अत्याचार का प्रतीकार न करे या कायरता को छिपाने के लिए धर्म का बहाना करे, यह अलग बात है। मगर जिसने धर्म के तत्त्व को

ठीक तरह समझ लिया होगा वह अपने ऐसे कृत्यों द्वारा धर्म को बदनाम नहीं करेगा।

बौद्ध ग्रन्थों में एक कथा आई है। सोमदेव नामक एक ब्राह्मण की आध्यात्मिक भावना बालकपन से ही बढ़ी चढ़ी थी। अतएव माता पिता के मरते ही सोमदेव और उसकी पत्नी ने सन्यास ले लिया। स्त्री सुन्दरी थी। दम्पती वन में रहकर तप किया करते थे। एक बार रोना नगर में आये। नगर के राजा ने स्त्री को देखा तो उसके चित्त में विकार पैदा हो गया। वह सोचने लगा—यह रमणीरत्न गलियों में क्यों पड़ा फिरना चाहिये? यह तो महल की शोभा बढ़ाने योग्य है। यह सोचकर उसने सोमदेव से कहा—यह स्त्री तेरे साथ शोभा नहीं देती।

सोमदेव ने कहा—हाँ, शोभा नहीं देती।

राजा—तो इसे हम ले जाएँ?

सोमदेव—मेरी नहीं है, भले कोई ले जाय।

राजा ने स्त्री से कहा—चलो, हमारे साथ चलो।

स्त्री ने सहज भाव से उत्तर दिया—चलिए, कहाँ चलना है?

आगे आगे राजा चला और पीछे पीछे स्त्री। महल में पहुँच कर स्त्री ध्यान लगा कर बैठ गई। उसने ऐसा ध्यान लगाया कि कई अनुकूल प्रतिकूल सत्ताएँ हार गई, मगर उसका ध्यान न टूटा। राजा को अपना पागलपन मालूम हुआ। उसका अज्ञान हट गया। वह उस संन्यासिनी के पैरों में गिर कर क्षमा माँगने लगा।

स्त्री ने, मानो कुछ हुआ ही नहीं है ऐसे, सहज भाव से उत्तर दिया—किसने और क्या अपराध किया है, वह मुझे मालूम ही नहीं है। मै क्षमा क्या करूँ!

आखिर राजा संन्यासिनी को लेकर सोमदत्त के पास गया। सोमदत्त को उसकी स्त्री सौंपकर उसने कहा—मैंने आपकी अवज्ञा की है। मेरा यह अपराध है तो गुरुतर, फिर भी मै आपसे क्षमा-याचना करता हूँ।

सोमदेव ने कहा—जब यह मेरी है ही नहीं, तब इसमे मेरी अवज्ञा क्या हुई?

इसे कहते हैं क्षमा! ऐसी क्षमा के द्वारा भी अन्याय अत्याचार का नाश किया जाता है। अन्याय-अत्याचार के समूल नाश का यह सर्वश्रेष्ठ तरीका है। इस तरीके से अन्यायी और अत्याचारी के हृदय का परिवर्तन हो जाता है। परन्तु ऐसी भावना प्राप्त करने के लिये साधना चाहिए।

१९

काली-महाकाली

अन्तगडसूत्र म, अन्त म, दस महारानियों की जो कथा है, वह अत्यन्त गम्भीर है और जैनधर्म की कथाओं पर शिखर के समान है। यह दसों महारानियाँ वैभव और भोगों में डूबी हुई थीं। ससार के सर्वश्रेष्ठ भोग उन्हें सुलभ थे। कभी किसी वस्तु का अभाव उन्होने जाना ही नहीं था। लेकिन भगवान् महावीर के प्रताप से उन्होंने समस्त भोगो का परित्याग कर दिया। वे साध्वियाँ हो गई और आध्यात्मिक साधना में लीन रहने लगीं। भिक्षा द्वारा अपना शरीर निर्वाह करने लगीं। इनमे से भी कृष्णा महारानी के चरित का स्मरण करके तो रोमाच हो आता है। कहाँ राजसी वैभव और कहाँ दुष्कर तप! कहाँ उनकी फूल सी कोमल काया और कहाँ पद पद पर परिषहों का सहन करना! कैसी अनोखी क्रान्ति का सदेश है!

मैं धर्मशास्त्र सुना रहा हूँ, इतिहास नहीं सुना रहा हूँ। जिसके हृदय में भक्ति है वह तो धर्मशास्त्र की कथा को ऊँची

समझेगा ही, परन्तु लोकदृष्टि से देखने वाला भी इतना अवश्य कहेगा कि राजरानी साध्वी बने-स्वेच्छा से भिक्षुणी के जीवन को अंगीकार करे, यह कल्पना ही कितनी उच्च है ! जिस मस्तिष्क ने यह कल्पना की है वह क्या असाधारण नहीं होगा ?

जैनधर्म और बौद्धधर्म की कथाओं से विदित होता है कि भारतवर्ष में अनेक राजरानियाँ साध्वी बनी हैं। महाराजा अशोक की बहिन भी भिक्षुणीसंघ में प्रविष्ट हुई थी। सुना जाता है कि उसके नाम का पीपल आज भी सीलोन में विद्यमान है। ऐसी साध्वियाँ जब संसार में घूम-घूम कर जनता को जागृत करती होंगी, तब भारत में और भारत के प्रति दूसरे देशों में किस प्रकार की भावना उत्पन्न होती होगी, यह कौन कह सकता है ! सचमुच भारतीय इतिहास का वह स्वर्णकाल अनूठा था ! एक राजरानी स्वेच्छापूर्वक वैभव को लात मार कर भिक्षुणी बनती और घर-घर फिरती है। जीवन के किसी अभाव ने उसे भिक्षुणी बनने को बाध्य नहीं किया था। किसी अपूर्व अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर ही उसने ऐसा किया था। और ऐसा करके वह क्या दुःखी थी ? नहीं। भोगों में अतृप्ति थी, त्याग में तृप्ति थी। भोगों में असन्तोष, ईर्षा और कलह के कीटाणु छिपे थे, त्याग में सन्तोष की शांति थी, निराकुलता का अद्भुत आनन्द था, आत्मरमण की स्पृहणीयता थी ! इसी सुख का अनुभव करती हुई वह भिक्षुणियाँ अपने जीवन को दिव्य मानती थीं। उनका त्याग महान् था।

आप कितने भाग्यशाली है कि यह महान् आदर्श आपके सामने उपस्थित है। आप पूर्ण रूप से अगर इस आदर्श पर नहीं चल सकते तो भी उसी ओर कदम तो बढ़ा सकते हैं ! कम

से कम विपरीत दिशा में तो न जाएँ। मगर आप इस ओर कितना लक्ष्य देते हैं? आपसे तो अभी तक बारीक वस्त्रों का भी मोह नहीं छूट सकता। इन वस्त्रों के लिए चाहे किसी की चमड़ी जाती हो, पर आप पतले कपड़े नहीं छोड़ सकते। अगर आप इतना सा भी त्याग नहीं कर सकते तो राजसी वैभव और राजसी भोगों का त्याग करने वाले सन्तों और ऐसी ही सतियों का चरित सुनकर क्या लाभ उठाएँगे? क्या आपको उन त्याग मूर्ति महासतियों का स्मरण भी आता है?

महासेन कृष्णा विरसेन कृष्णा,
राम कृष्णा शुद्धमेवजी।
नित—नित वंदू रे समणी,
त्रिकरण—शुद्ध त्रिकालजी।

कवि ने यह वन्दना किस काली को की है? और आप यह वन्दना किस काली को कर रहे हैं? भारत की इन महा शक्तियों को भगवान् ने किस भाव से शास्त्र में स्थान दिया है? आप इन सतियों को किस प्रकार वन्दना कर सकते हैं? सांसारिक भोगों के प्रति हृदय में जब तक तिरस्कार की भावना उत्पन्न न हो जाय तब तक मनुष्य इन्हें वन्दना करने का सच्चा अधिकारी किस प्रकार हो सकता है? हम किसी के कहने से या भावावेश में आकर इन सतियों के नाम पर चाहे मस्तक झुका लें, किन्तु वास्तव में उन्हें वन्दना करने योग्य तभी समझे जाएँगे, जब उनके त्याग को पहिचानेंगे। उनके त्याग को पहचान कर वन्दना करने से आपके पाप जलकर भस्म हो जाएँगे।

सेठानियों, सेठानियों को तो बहिन बनाती हैं, मगर किसी दिन किसी गरीबिनी को भी बहिन बनाया है?

काली और सुकाली के हृदय मे अपना कल्याण करने की भावना उत्पन्न हुई। तब वे कहने लगी—'यह राजमहल आत्मा के लिए कारागार है और ये बहुमूल्य आभरण हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ है। इनके सेवन से आत्मा अशक्त बनता है, गुलाम बनता है। ऊपरी सजावट के फेर मे पड़कर हम आन्तरिक सौन्दर्य को भूल जाते हैं। स्वाभाविकता की ओर अर्थात् आत्मा के असली स्वरूप की ओर हमारी दृष्टि ही नहीं पहुँच पाती। संसार के भोगोपभोग और सुख के साधन असलियत को भुलाने वाले हैं। यह इतने सारहीन है कि अनादि काल से अब तक भोगने पर भी आत्मा इनसे तृप्त नही हो पाया। अनन्त काल तक भोगने पर भी भविष्य मे तृप्ति होने की सम्भावना नही है। अलबत्ता, इन्हे भोगने के दण्ड-स्वरूप नरक और तिर्यंच गतियों के घोर कष्ट सहन करने पडते है। इन भोगविलासो के चक्कर मे पड़ने वाला स्वार्थी बन जाता है। वह अपनी ही सुख-सुविधा का विचार करता है और अपने दीन-दुखी पड़ोसी की तरफ नजर भी नहीं डालता।'

रानियाँ कहती है—'जिन गरीबों की बदौलत हम राज-रानी कहलाती है, उन्हीं गरीबो को हमने भुला रक्खा है! यही नही, वरन् एक प्रकार से उनके प्रति वैर-विरोध कर रक्खा है। राज-महल मे रहकर हम उन बहिनो से नही मिल सकतीं, जिन्होने हमे महारानी बनाया है। इन चकाचौंध करने वाले गहनो और कपड़ो के कारण वे हमारे पास नही आ सकती—नजदीक आते डरती है!

अगर कोई स्त्री फटे-पुराने कपड़े पहनकर किसी महारानी से मिलने जाना चाहे तो क्या पहरेदार उसे भीतर घुसने देंगे?

से कम विपरीत दिशा में तो न जाएँ ! मगर आप इस ओर कितना लक्ष्य देते हैं ? आपसे तो अभी तक बारीक वस्त्रों का भी मोह नहीं छूट सकता। इन वस्त्रों के लिए चाहे किसी की चमड़ी जाती हो, पर आप पतले कपड़े नहीं छोड़ सकते। अगर आप इतना सा भी त्याग नहीं कर सकते तो राजसी वैभव और राजसी भोगों का त्याग करने वाले सन्तों और ऐसी ही सतियों का चरित सुनकर क्या लाभ उठाएँगे ? क्या आपको उन त्याग मूर्ति महासतियों का स्मरण भी आता है ?

> महासेन कृष्णा विदुसेन कृष्णा,
> राम कृष्णा शुद्धमेवजी ।
> नित—नित वदूं रे समणी,
> त्रिकरण—शुद्ध त्रिकालजी ।

कवि ने यह वन्दना किस काली को की है ? और आप यह वन्दना किस काली को कर रहे हैं ? भारत की इन महा शक्तियों को भगवान ने किस भाव से शास्त्र में स्थान दिया है ? आप इन सतियों को किस प्रकार वन्दना कर सकते हैं ? सांसारिक भोगों के प्रति हृदय में जब तक तिरस्कार की भावना उत्पन्न न हो जाय तब तक मनुष्य इन्हें वन्दना करने का सच्चा अधिकारी किस प्रकार हो सकता है ? हम किसी के कहने से या भावावेश में आकर उन सतियों के नाम पर चाहे मस्तक झुका लें, किन्तु वास्तव में उन्हें वन्दना करने योग्य तभी समझे जाएँगे, जब उनके त्याग को पहिचानेंगे। उनके त्याग को पहचान कर वन्दना करने से आपके पाप जलकर भस्म हो जाएँगे।

सेठानियों, सेठानियों को तो बहिन बनाती हैं, मगर किसी दिन किसी गरीबिनी को भी बहिन बनाया है ?

खादी से अपना शरीर सजा लिया। महारानी काली ने साध्वी होकर सफेद वस्त्र धारण किये।

आज अगर कोई विधवा बाई भी सफेद वस्त्र धारण कर लेती है तो कोहल्ला मच जाता है। काली रानी का वह तेज आज बहिनों में नहीं रहा। न जाने कब और कैसे गायब हो गया है!

आखिर काली रानी ने संसार त्याग दिया। संसार त्याग कर उन्होंने जो अवस्था अपनाई, वह वर्णनातीत है। महाकृष्णा काली नामक सती ने आंबिल तपस्या करना आरम्भ किया। चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिनों तक आंबिल तप करके उन्होंने अपनी कोमल और कान्त काया को झुलसा डाला। एक उपवास और उसके बाद आंबिल, फिर उपवास और दूसरे दिन फिर आंबिल, इस प्रकार उनकी तपस्या निरन्तर जारी रही।

'आंबिल' प्राकृत भाषा का शब्द है। संस्कृत में इसे 'आचाम्ल' व्रत कहते हैं! इस व्रत का अनुष्ठान करने वाला सरस भोजन का त्याग करके नीरस और नमकहीन रूखा-सूखा भोजन करता है। पके हुए चावलों को पानी से धोकर उन्हें स्वादहीन बनाकर दिन भर में एक बार खा लेना और फिर दूसरे दिन उपवास करना, यह महासती काली का तप था।

मित्रो! आपके यहाँ ऐसी शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। फिर भी न मालूम क्यों आप में बल नहीं आता! आप मेरी दी हुई मात्रा सेवन करो। चाहे यह कटुक हो पर इससे रोग का अवश्य [illegible] इसमें सन्देह नहीं।

नहीं। अगर धक्के मारकर न भगा दो तो डाट फटकार बताये बिना भी नहीं रहेंगे। अगर रानी से पूछा जाय कि तुमने जो वस्त्र और आभूषण धारण किये हैं वे आये कहाँ से हैं? वे गरीबों के पसीने से ही बने हैं या राजा की तिजोरी में उगे हैं? रानी इस प्रश्न का क्या उत्तर देगी?

यह बात सिर्फ रानी महारानी को ही लागू नहीं होती। बढ़िया और कीमती गहने कपड़े पहनने वाला, फिर वह कोई भी क्यों न हो, बढ़िया गहना कपड़ों वालों को ही चाहता है। उसे बिना जेवर का गरीब आदमी प्यारा नहीं लगता। यही विकार है। बढ़िया वस्त्र में और आभूषणों में अगर विकार न हो तो भगवान् महावीर को शायद ही सादा वेष चलाने की आवश्यकता पड़ती। जिसकी मैत्री भावना विकसित हो गई है, उसी के हृदय में इस प्रकार की सद्भावनाएँ जागृत होती हैं और वही वस्त्र आभूषण का त्याग करता है।

महारानी काली के हृदय में मित्रभावना विकसित हुई। अतएव उन्होंने विचार किया—मुझे अपनी सब बहिनों से समान रूप से मिलना चाहिए। मेरे और उनके बीच में जो बड़ी दीवाल खड़ी है, उस में गिरा दूंगी। मैं सारे भारत को जगाना चाहती हूँ और भेदभाव की काल्पनिक दीवाल को धूल में मिला देना चाहती हूँ। यह विचार कर महारानी काली ने उत्तम वस्त्र उतार कर सादे वस्त्र धारण किये, इन्द्रानी सरीखा मनोहर शृंगार हटा दिया और जिस केशराशि को बड़े चाव से सजाया करती थी और सुगन्धित तल फुलेल से नहलाया करती थी, उसी केश राशि को नोंच कर फेंक दिया। उन्होंने स्वदेश की बनी मादी

खादी से अपना शरीर सजा लिया। महारानी काली ने साध्वी होकर सफेद वस्त्र धारण किये।

आज अगर कोई विधवा बाई भी सफेद वस्त्र धारण कर लेती है तो होहल्ला मच जाता है। काली रानी का वह तेज आज बहिनों में नहीं रहा। न जाने कब और कैसे गायब हो गया है!

आखिर काली रानी ने संसार त्याग दिया। संसार त्याग कर उन्होंने जो अवस्था अपनाई, वह वर्णनातीत है। महाकृष्णा काली नामक सती ने आंबिल तपस्या करना आरम्भ किया। चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिनों तक आंबिल तप करके उन्होने अपनी कोमल और कान्त काया को झुलसा डाला। एक उपवास और उसके बाद आंबिल, फिर उपवास और दूसरे दिन फिर आंबिल, इस प्रकार उनकी तपस्या निरन्तर जारी रही।

'आंबिल' प्राकृत भाषा का शब्द है। संस्कृत में इसे 'आचाम्ल' व्रत कहते हैं। इस व्रत का अनुष्ठान करने वाला सरस भोजन का त्याग करके नीरस और नमकहीन रूखा-सूखा भोजन करता है। पके हुए चावलों को पानी से धोकर उन्हें स्वादहीन बनाकर दिन भर में एक बार खा लेना और फिर दूसरे दिन उपवास करना, यह महासती काली का तप था।

मित्रो! आपके यहाँ ऐसी शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। फिर भी न मालूम क्यों आप में बल नहीं आता! आप मेरी दी हुई मात्रा का सेवन करो। चाहे यह कटुक हो पर इससे रोग का अवश्य ही विनाश होगा, इसमें सन्देह नहीं।

काली महासती अपने समस्त स्वर्गोपम सुखों को तिलांजलि देकर यह घोर तपस्या किस उद्देश्य से कर रही थीं ?

'कर्मक्षय करने के लिए !'

यह उत्तर है तो ठीक, परन्तु आप पूरी तरह नहीं कह सकते। इस कारण इतनी सी बात कह कर समाप्त कर देते हैं। कर्म का अर्थ दुष्कर्म समझना चाहिए। काली महासती विचारती हैं—मैंने उत्तम भोजन खाया और इसी कारण अनेक गरीबों को दुत्कारा, मुसीबत में डाला और अधिक गरीब बनाया है। यही मेरा दुष्कर्म है। इसका बदला चुकाने के लिए उन्होंने बढ़िया कपड़ों का और उत्तम भोजन का त्याग करके सादे कपड़े पहने और नीरस भोजन किया।

काली महारानी सफल कियो अवतार।
पायो है भव-जल पार ॥ काली० ॥
कोणिक राजा की छोटी माता,
श्रेणिक नृप नी नार।
वीर जिणंद की वाणी सुन ने,
लीनो है संयम-भार ॥ काली० ॥
चन्दनबाला सती मिली है गुरानी।
नित २ नमी चरणार, विनय करी भणी,
अंग इग्यारा जारी निर्मल बुद्धि अपार ॥ काली० ॥१॥

महासती काली कहती है कि मैंने बढ़िया भोजन खाकर और बढ़िया कपड़े पहनकर बहुत लोगों के साथ परोक्ष रूप से विरोध किया है। जिन गरीबों की कृपा से उत्तम वस्त्र और भोजन की प्राप्ति होती थी, उन गरीबों को मैंने धक्के दिलवाये,

और निकम्मे मसखरे लोग पड़े-पड़े माल खाते रहे। गरीबों के घोर परिश्रम के फलस्वरूप ही हमे दूध, घी, शक्कर और चावल आदि वस्तुएँ प्राप्त होती थी, मगर जब उन्हीं गरीबों मे से कोई मुट्ठी भर आटे की आशा से मेरे पास आता था तो उसे आटे के बदले धक्के मिलते थे कि दूध, घी और चावल-शक्कर खाने वालों को नज़र न लग जाय !

मै जब बच्चा था तब भोजन करते समय अगर भीलनी आ जाती तो किवाड़ बन्द कर लिये जाते थे। इसका कारण यह था कि भीलनी को डाकिनी समझा जाता था। तारीफ यह है कि अनाज उन्हीं के यहाँ से आता था। वही अनाज पैदा करते थे और उन्ही के प्रति ऐसी दुर्भावना थी। यह दुर्भावना किसी एक घर या कुटुम्ब मे नहीं थी वरन् व्यापक रूप से घर-घर फैली हुई थी। आज सोचता हूँ—समाज का यह कितना जबर्दस्त अन्याय है ! कितनी भीषण कृतघ्नता है !

अमीर लोग गरीबो को दुत्कारते हैं और दूसरे अमीर के आने पर उसकी मनुहार करते है। अपने पाप का प्रायश्चित्त करते हुए एक महाराष्ट्रीय कवि ने कहा है—

उत्तम जन्मा येऊनी रामा ! गेलो मीं वाया
दुष्ट पातकी शरण मीं आलो,
मत्वर तव पाया।
आर्जविले बहुलवण संजने व्याघ्या जेवाया
क्षुधित अतिथि कदां नाहीं येतला,
उदार कर कधी केला नाहीं प्रेमे जेवाया पैसा एक द्याया
नाम कृष्टचे तेहिन आलें स्वामी वदमाया ॥उत्तम०॥१॥

कवि कहता है—मैंने उत्तम जन्म व्यर्थ गँवा दिया। मेरा नाम उत्तम है, जन्म उत्तम कुल में हुआ है, परन्तु काम मैंने अधम किये। इस कारण मैं पातकी हूँ।

मित्रो ! जिस आत्मा और परमात्मा पर विश्वास होगा, वही अपना अपराध स्वीकार करेगा, उसके लिए पश्चात्ताप करेगा और उससे बचने की भावना भाएगा।

कवि परमात्मा के सामने अपनी आलोचना करता हुआ कहता है—प्रभो ! मैं आपकी शरण आया हूँ। मेरी रक्षा करो। मैंने अपने सगे सम्बन्धियों को पाहुने बनाकर जिमाने की बड़ी २ तैयारियाँ कीं। तरह तरह के व्यजन और मिष्टान्न तैयार करवाए। वे जीमने बैठे। जीमते जीमते तृप्त हो गए और कहने लगे—बस, अब मत परोसिये। अब एक कौर भी नहीं निगल सकता। लेकिन बड़प्पन के मद में छक कर मैं नहीं माना। थोड़ा और खाने का आग्रह किया। न माने तो जबर्दस्ती करके थाल में भोजन डाल दिया। फिर पकड़ कर मुँह में खिलाया। उसी समय क्षुधा से पीड़ित व्यक्ति मेरे द्वार पर आया। भूख से उसकी आँखें निकल रही थीं, बिना मांस के हाड़ों का पींजरा सरीखा उसका शरीर दिखाई देता था। जिस समय सगे सम्बन्धी भोजन परोसने के लिए मना कर रहे थे और मैं जबर्दस्ती उन्हें परोसने में लगा था, ठीक उसी समय वह भूखा द्वार पर आया। उसने कहा—'मेरे प्राण अन्न के अभाव में भूख के मारे जा रहे हैं, अगर थोड़ा भोजन हो तो दे दो।' परन्तु हाय मेरी कठोरता ! मैंने टुकड़ा भी देने की भावना नहीं की और सगे सम्बन्धी के गले में ठूसने में ही व्यस्त रहा।

मित्रो ! कवि ने अपने पाप का प्रदर्शन किया है और ऐसा करके उसने अपने पाप को हल्का कर लिया है, ऐसा समझ लेना उपयुक्त नहीं होगा। कवि जनता की भावनाओं का प्रतिनिधि होता है। वह समाज की स्थिति का शाब्दिक चित्रण करता है। अतएव उसके कथन को समाज का चित्र समझना चाहिए। इस दृष्टि से मराठी कवि का उपर्युक्त कथन सारे समाज का चित्रण है—सम्पूर्ण समाज के पाप का दिग्दर्शन है। आप अपने ऊपर इस कथन को घटाइये। अगर आप पर वह घटित होता हो तो आप भी अपने दुष्कर्मों की आलोचना कीजिए और उनसे बचने का दृढ़ संकल्प कीजिए।

भूख के कारण जिसके प्राण निकल रहे हैं, उसे एक टुकड़ा मिल जाय तब भी उसके लिए बहुत है। मगर लोगों को उसकी ओर ध्यान देने की फुर्सत ही कहाँ ? आजकल के लोगों मे क्षुद्र, संकीर्ण और स्वार्थमय भावना घुसी हुई है, तिस पर भी धर्म के नाम पर इसी प्रकार का उपदेश मिल जाता है। बड़े खेद की बात है कि लोगों को यह धर्म सिखलाया जा रहा है कि—

कोई भेखधारी आवे द्वार जी,
शर्मा शर्मी दीजे आहार जी।
पछे कीजे पश्चात्ताप जी,
तो थोड़ो लागे पाप जी॥

खेद ! धर्म के नाम पर कैसा हलाहल विष पिलाया जा रहा है। अगर द्वार पर आये हुए को लोकलाज के कारण भोजन दिया तो घोर पाप लग जाएगा !! अलबत्ता, भोजन देकर अगर

पश्चात्ताप कर लिया जाय तो पाप म शुद्ध कमी हो जाएगी! स्वार्थपरता की हद हो गई! धर्म के नाम पर यह जो शिक्षा दी गई है और दी जा रही है, उससे धर्म को कितना आघात पहुँच रहा है, यह समझने की चिन्ता किसे है? इससे लोग धर्म के प्रति घृणा करने लगते हैं और कहते हैं कि धर्म अगर इतनी निर्दयता, कठोरता, स्वार्थपरायणता और अमानुषिकता की शिक्षा देता है, तो धम का ध्वस हो जाना ही जगत् के लिए श्रेयस्कर है! भाइयो, जरा उदारतापूर्वक विचार करो। धर्म के मौलिक तत्त्व को व्यापक दृष्टि से देखो। द्वेष से प्रेरित होकर हम यह नहीं कह रहे हैं, परन्तु धम के प्रति फैलती हुई घृणा का विचार करके और साथ ही लोगो मे आई हुई अनुदारता का ख्याल करके, कह रहे हैं। यह धर्म नहा है। धर्म के नाम पर अधम फैलेगा तो धर्म बदनाम होगा। अधर्म फैलाने वालों का भी हित नहीं होगा। अतएव निष्पक्ष दृष्टि मे धर्म के स्वरूप पर विचार करो। धर्म ही पापों का नाश करने वाला है। अगर धर्म क ही नाम पर पाप किया जाएगा और उसी को धर्म समझ लिया जाएगा तो पापो का नाश किस प्रकार होगा?

आपने अपने सम्बन्धियों को अनेक बार भोजन कराया होगा, पर याद आता है कि किसी दिन किसी गरीब को स्नेही सम्बन्धियों की तरह जिमाया हो?

'नहीं!'

लेकिन पुण्य किधर होता है? अपनी श्रीमताई दिखाने के लिए सगे को जबर्दस्ती खिलाने से पुण्य का बंध होता है या गरीब के प्राण बचाने के लिए उसे खिलाने से?

'भूखे को खिलाने से !'

यह जानते और मानते हुए भी अपनी प्रवृत्ति बदलते क्यों नहीं ? फिर कहते हो कि हम पुण्य और पाप को जानते हैं ?

बात काली महारानी की चल रही है। उनके अन्तःकरण में यह भावना उत्पन्न हुई कि मैंने उत्तम-उत्तम भोजन किये परन्तु गरीबों को देना तो दूर रहा, उलटे उनकी नजर पड़ने से बचाव किया। अलबत्ता, मैंने अपनी सरीखी रानियों को बड़े प्रेम से जिमाया है, पर उससे क्या हुआ ? वह तो मोह था या लोकव्यवहार था; दया नहीं थी। हृदय में दया होती तो भूखे को खिलाया होता। मैंने यह पाप किया है। मैं इस पाप को सहन नहीं करूँगी। अब मैं ऐसा भोजन करूँगी जिसे गरीब भी पसन्द नहीं करते। ऐसा भोजन करके मैं संसार को दिखला दूँगी कि इस पाप का प्रायश्चित्त ऐसे होता है।

मित्रो ! बढ़िया भोजन की अपेक्षा सादा भोजन करने से दया कितनी अधिक हो सकती है, इस बात पर विचार करो। आपके घर बाजरे की घाट बनी होगी और वह बच रहेगी तो किसी गरीब को देने की इच्छा हो जाएगी। अगर दाल का हलुआ बचा होगा तो शायद ही कोई देना चाहेगा ! उसे तो किसी सम्बन्धी के घर भेजने की इच्छा होगी। इसलिए तो कहा है—

दया धर्म पावे तो कोई पुण्यवंत पावे,
जाँने दया की बात सुहावेजी।
भारी कर्मों अनन्त ससारी,
जाँने दया दाय नहीं आवेजी ॥

विचार करो कि पुण्यवान कौन है ? मिष्टान्न भोजन करने वाला और अपने भोजन के लिए अनेकों को कष्ट में डालने वाला पुण्यवान् है या सादा भोजन करके दूसरा पर दया करने वाला पुण्यवान् है ? सुनते हैं भारतीयों की औसत आमदनी डेढ़ आना प्रतिदिन है। इस देखते हुए अगर प्रत्येक आदमी डेढ़ आने में अपना निर्वाह करे तब तो सब को भोजन मिल सकता है, लेकिन आप कितने आने प्रतिदिन खर्च करते हैं ? आपका काम तीन आने, छह आने या बारह आने में भी चल जाता है ?

'नहीं !'

अगर कोई चलाना चाहे तो चल क्यों नहीं सकता ? हाँ, इतने व्यय में वह मौज शौक नहीं होगी, जो अभी आप कर रहे हैं। जब प्रति मनुष्य डेढ़ आने की दैनिक आय है तो तीन आना खर्च करने वाला एक आदमी को, छह आना खर्च करने वाला सात आदमियों को भूखा रखता है ! इससे स्पष्ट है कि अमीर लोग ज्यों ज्यों अधिक मौज करते हैं, त्यों त्यों गरीब ज्यादा तादाद में भूखे मरते हैं। एक लम्बी चौड़ी दरी को समेट कर उस पर एक ही आदमी बैठ जाय और दूसरे को नहीं बैठने दे तो क्या उसका बड़प्पन समझा जायगा ? बड़प्पन तो औरों को बिठलाने में है।

काली रानी कहती हैं—'मेरे गले में वह अन्न कैसे उतरा जिसके लिए अनेक मनुष्यों को कष्ट में पड़ना पड़ा !'

इस राजसत्ता ने कैसे कैसे अनर्थ किये हैं ! जब मनुष्य स्वार्थ के वशीभूत हो जाता है तब न्याय अन्याय धर्म अधर्म कुछ नहीं सूझता। एक हार और हाथी के लिए एक करोड़ अस्सी

लाख मनुष्यों का घमासान हो गया ! लड़ाई तो अपनी मौज के लिए करे और नाम प्रजा की रक्षा का हो !

महासती महासेन कृष्णा एक आंबिल एक उपवास, इस प्रकार क्रमशः आंबिल करती-करती सौ आंबिल तक चढ़ गई। चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिन मे उन्होंने अपना शरीर सुखा डाला।

काली महासती राजरानी थी। साध्वी के वेश में जब वे लोगो के घर भिक्षा के लिए जाती होगी, तब लोगों मे त्याग के प्रति कितनी स्पृहा होती होगी ? लोग त्याग के प्रति कितनी आदरभावना अनुभव करते होगे ? एक राजरानी राजसी वैभव को ठुकरा कर, भोगोपभोगों से मुँह मोड़ कर, वस्त्रो और आभूषणों को छोड़कर जब साध्वी का वेष अंगीकार करती है, तो संसार को न मालूम कितना उच्च और महान् आदर्श सिखलाती है !

नयन-दान

महाभारत में एक कथा है। एक तपस्वी जंगल में रहता था और भिक्षा के लिए नगर में आया करता था। एक दिन वह जिस स्त्री के घर भिक्षा लेने गया उस स्त्री की आँखों पर मुग्ध हो गया। वह बार बार उसी के घर भिक्षा लेने पहुँचने लगा। स्त्री चतुर थी। वह समझ गई कि तपस्वी बार बार मेरे घर भिक्षा लेने आता है तो कुछ न कुछ रहस्य अवश्य होना चाहिए। आखिर उसने तपस्वी से पूछ ही लिया—महाराज, ढिठाई के लिए क्षमा कीजिए। मैं यह जानना चाहती हूँ कि आप बार बार मेरे यहाँ भिक्षा लेने क्यों आते हैं? क्या दूसरी जगह आपको भिक्षा नहीं मिलती?

आज असत्य का साम्राज्य फैल गया है। लोग असत्य को 'नीति' समझने लगे हैं। मानो असत्य बोलना कोई पाप ही नहीं है! किन्तु प्राचीन काल के लोग असत्य भाषण करना बड़ा पाप मानते थे। अतएव उस स्त्री के प्रश्न के उत्तर में तपस्वी ने

स्पष्ट कह दिया—मैं तुम्हारे नेत्रो पर मुग्ध हूँ। तुम्हारे कमल के समान नेत्रो को देखने के लिए ही बार-बार यहाँ आता हूँ।

स्त्री ने कहा—अच्छा, यह बात है? आप कल फिर आना।

तपस्वी बोला—मै तो बिना निमन्त्रण ही आया करता हूँ, तो फिर निमन्त्रण पाकर क्यो नहीं आऊँगा?

दूसरे दिन उस स्त्री ने अपने दोनो नेत्र निकाल कर एक पत्ते पर रख लिये। जब तपस्वी आया तो उसे नेत्र देती हुई बोली—आप जिन नेत्रो पर मुग्ध हुए हैं, वह नेत्र आपके चरणों मे भेट धरती हूँ। आज भिक्षा मे इन्हें भी लेते जाइए।

नेत्र बाहर निकाल लेने से उनका खाली स्थान और निकाले हुए दोनो नेत्र बड़े ही भयानक दिखाई देते थे। वास्तव मे जिन ऑखो को कमल के समान समझा जाता है, वे मांस के लोथ के सिवाय और क्या हैं?

स्त्री ने कहा—यह नेत्र बडे अनर्थकारी है। इन्होने आप जैसे तपस्वी को भी मोह मे फँसा दिया!

यह दृश्य और स्त्री का कथन देख-सुन कर तपस्वी के पैरो तले की जमीन खिसक गई। उसके हृदय मे घोर अन्तर्द्वन्द्व मच गया। उसने कहा—माता, तुमने मेरी आत्मा को पवित्र करने के लिए कितना बड़ा त्याग किया है? अपराध मेरा था और प्रायश्चित्त तुमने किया? मुझे क्षमा करना!

इतना कह कर तपस्वी लौटने लगा। तब उस स्त्री ने कहा—इन नेत्रो को तो साथ लेते जाइए!

तपस्वी अब उन नेत्रों का क्या करता ? वह सीधा जंगल में भाग गया। उस दिन से उसने प्रण कर लिया कि अब भूल कर भी मैं नगर में नहीं आऊँगा। जंगल में जो मिल जायगा, उसी से अपना निर्वाह कर लूँगा।

साधारण लोग अपने दोषों की तरफ दृष्टिपात नहीं करते। किन्तु जो विवेकवान् है वह अपने ही दोष देखता है, दूसरों के दोष नहीं देखता। यही नहीं, वह दूसरे के अपराध के लिए आप प्रायश्चित करता है।

अहो सुखम् !

काशी में कुछ तापस चौमासा करने आए। उनमें एक तापस बूढ़ा था और राजा उसका भक्त था। जब चौमासा पूरा हुआ और तापस हिमालय की ओर जाने लगे, तब राजा ने वृद्ध तापस से कहा—आप वृद्ध हैं। पर्वत चढ़ने में आपको कष्ट होगा। इसलिए आप यहीं बाग में रह जाइए और अपने शिष्यो को तपस्या करने भेज दीजिए।

तपस्वी ने विचार किया—वृद्धावस्था के कारण वास्तव में मुझे चढ़ने-उतरने में बड़ा कष्ट होता है। तो मैं यहीं क्यों न रह जाऊँ? और वह वहीं रह गया। अपने शिष्यों को हिमालय की ओर भेज दिया।

बड़े शिष्य की देख-रेख में सब शिष्य तपस्या करते थे। एक बार एक शिष्य को गुरु से भेंट करने की इच्छा हुई। वह काशी आया। जब गुरु के स्थान के समीप पहुँचा तो शाम का समय हो गया था और वह बेहद थक भी गया था। इस कारण

सीधा गुरु के पास न जाकर वह गुरु के स्थान के बाहर की एक चबूतरी पर सो गया।

काशी का राजा उसी समय तपस्वी के दर्शन करने आया। राजा के साथ हाथी घोडे और लाव लश्कर होते ही हैं। इन सब के कोलाहल से शिष्य की नींद खुल गई। शिष्य ने उठ कर राजा को देखा और फिर आँख मूँद कर पड गया और कहने लगा—

अहो सुख, अहो सुख अहो सुखम्!

वह शिष्य राजा को पास आया देखकर भी नहीं उठा। राजा सोचने लगा—यह कितना अशिष्ट है कि मुझे देख कर भी पडा रहा! और फिर यह निर्लज्जता कि 'अहो सुखं, अहो सुख' कर रहा है! इसके लिए उठ कर बैठना ही मुश्किल है तो यह तपस्या क्या करता होगा? राजा ने सोचा—ऐसे ऐसे लोग भी हैं जो घर छोडकर भी खाकर पडे रहते हैं!

राजा ने जाकर वृद्ध तापस से भेंट की। फिर उनसे पूछा—कोई नया तापस भी आया है?

गुरु को उसके आने का पता चल गया था। अतएव उन्होंने कहा—हाँ, आया तो है।

राजा—वही तो नहीं जो बाहर पडा है?

गुरु—हाँ, वही है।

राजा—आश्चर्य है कि जिन्हें उठकर बैठना भी कठिन है, वे क्या तपस्या करते होंगे? जान पडता है—खाया बहुत है, इसी से पडा है और अहो सुख, अहो सुख' रट रहा है। परन्तु

आपने ऐसे आदमी को अपना चेला कैसे बना लिया जो खाने में ही सुख माने !

राजा का प्रश्न सुनकर वृद्ध तापस हँसा। राजा को वृद्ध तापस की इस हँसी पर आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—आप हँसे क्यों ?

तापस—राजन्! तुम उसे पहचानते नहीं हो। तुमने उसका भेद नहीं जाना। भेद को पाये बिना अपनी सम्मति बना लेना मूर्खता है। अज्ञानता उसमें नहीं, तुममे है।

राजा—क्या मेरी कोई भूल है ?

तापस—हाँ, पर क्या भूल है, यह तुम नहीं जानते। एक दिन वह भी तुम्हारे ही समान राज्य का और ऐश्वर्य का स्वामी था। परन्तु संसार की यह उपाधि, जो तुझे आनन्द देने वाली जान पड़ती है, उसे दुःख रूप प्रतीत हुई। उसे वह जंजाल मालूम हुआ। वह सोचने लगा—कब मेरे सिर से यह बोझ हट जाय !

किसी के सिर पर दो-चार मन का बोझ हो और वह हट जाय तो आनन्द होता है। उस आनन्द को वही समझ सकता है जिसके सिर से बोझ उतरा हो।

इस प्रकार राज्य के भार से घबरा कर उसने उसका त्याग कर दिया है और मेरा शिष्य बन गया है। हिमालय से चलकर वह आज सन्ध्या को ही यहाँ पहुँचा है। तुम समझते हो कि खा कर पड़ा हुआ है ! तुम्हे देख कर उसने सोचा होगा—मैंने अपने सिर का बोझा हटा दिया, इस कारण मै आनन्द मे सो रहा हूँ। इस राजा को मेरे जैसा आनन्द कहाँ ?

सीधा गुरु के पास न जाकर वह गुरु के स्थान के बाहर की एक चबूतरी पर सो गया।

काशी का राजा उसी समय तपस्वी के दर्शन करने आया। राजा के साथ हाथी घोडे और लाव लश्कर होते ही हैं। इन सब के कोलाहल से शिष्य की नींद खुल गई। शिष्य ने उठ कर राजा को देखा और फिर आँख मूँद कर पड गया और कहने लगा—

अहो सुख अहो सुख, अहो सुखम् !

वह शिष्य राजा को पास आया देखकर भी नहीं उठा। राजा सोचने लगा—यह कितना अशिष्ट है कि मुझे देख कर भी पड़ा रहा ! और फिर यह निर्लज्जता कि 'अहो सुखं, अहो सुख' कर रहा है ! इसके लिए उठ कर बैठना ही मुश्किल है तो यह तपस्या क्या करता होगा ? राजा ने सोचा—ऐसे ऐसे लोग भी हैं जो घर छोडकर भी खाकर पडे रहते हैं !

राजा ने जाकर वृद्ध तापस से भेंट की। फिर उनसे पूछा—कोई नया तापस भी आया है ?

गुरु को उसके आने का पता चल गया था। अतएव उन्होंने कहा—हाँ, आया तो है।

राजा—वही तो नहीं जो बाहर पड़ा है ?

गुरु—हाँ, वही है।

राजा—आश्चर्य है कि जिन्हें उठकर बैठना भी कठिन है, वे क्या तपस्या करते होंगे ? जान पडता है—खाया बहुत है, इसी से पड़ा है और 'अहो सुख, अहो सुख' रट रहा है। परन्तु

आपने ऐसे आदमी को अपना चेला कैसे बना लिया जो खाने मे ही सुख माने !

राजा का प्रश्न सुनकर वृद्ध तापस हँसा। राजा को वृद्ध तापस की इस हँसी पर आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—आप हँसे क्यो ?

तापस—राजन् ! तुम उसे पहचानते नहीं हो। तुमने उसका भेद नहीं जाना। भेद को पाये बिना अपनी सम्मति बना लेना मूर्खता है। अज्ञानता उसमें नहीं, तुममे है।

राजा—क्या मेरी कोई भूल है ?

तापस—हाँ, पर क्या भूल है, यह तुम नहीं जानते। एक दिन वह भी तुम्हारे ही समान राज्य का और ऐश्वर्य का स्वामी था। परन्तु संसार की यह उपाधि, जो तुम्हे आनन्द देने वाली जान पड़ती है, उसे दुःख रूप प्रतीत हुई। उसे वह जंजाल मालूम हुआ। वह सोचने लगा—कब मेरे सिर से यह बोझ हट जाय !

किसी के सिर पर दो-चार मन का बोझ हो और वह हट जाय तो आनन्द होता है। उस आनन्द को वही समझ सकता है जिसके सिर से बोझ उतरा हो।

इस प्रकार राज्य के भार से घबरा कर उसने उसका त्याग कर दिया है और मेरा शिष्य बन गया है। हिमालय से चलकर वह आज सन्ध्या को ही यहाँ पहुँचा है। तुम समझते हो कि खा कर पड़ा हुआ है ! तुम्हे देख कर उसने सोचा होगा—मैंने अपने सिर का बोझा हटा दिया, इस कारण मै आनन्द मे सो रहा हूँ। इस राजा को मेरे जैसा आनन्द कहाँ ?

एक आदमी आग में जल रहा है और दूसरा बाहर खड़ा है। जो बाहर खडा है वह उस जलते हुए को देखकर सोचता है कि मैं आनन्द मे हूँ। उस समय वह समझता है कि आग में जलने वाले को ताप में कितना दुःख है और अग्नि से बाहर रहने वाले को कितना सुख होता है ! और जब अग्नि से बाहर रहने वाला स्वय कभी आग से जल चुका हो तब तो वह स्पष्ट रूप से दोनों अवस्थाओं की तुलना कर लेता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने जीवन को आलोचना और तुलना करके देखते हैं। तब उन्हें मालूम होता है कि वे कितने सुखी हैं।

राजन ! उस शिष्य ने इसीलिए 'अहो सुख, अहो सुख' कहा था। वह इस ससार को तुच्छ समझता है। पर तुमने उलटा अर्थ किया !

राजा ने यह जानकर वृद्ध तापस से क्षमायाचना की। उसने उस तापस से भी उपदेश सुना। उसे शांति मिली।

मित्रो ! जिन तापसों को पूर्ण ज्ञान नहीं मिला, उन्हें भी 'अहो सुखम्' की भावना उत्पन्न होती है। वे भी ससार के प्रपचों को त्याग कर शान्ति का अनुभव करते हैं, तो जिन्होंने महाव्रत ग्रहण कर लिये हैं, जो त्याग की चरम सीमा पर पहुँच चुके हैं, उन्हें कितना सुख होगा, इस बात को विचारो और शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करके जीवन को सफल बनाओ।

अवांछित विवाह-संबंध
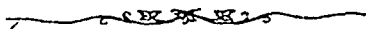
लंका के प्रचण्ड प्रतापशाली सम्राट् रावण का नाम किसने नहीं सुना ? वह एक बार दिग्विजय करने के लिए निकला। दिग्विजय करते-करते वह एक नगरी मे पहुँचा। वहाँ कुबेर नामक राजा राज्य करता था। राजा कुबेर बड़ा ही चतुर था। उसके सामने रावण की दाल न गली। रावण उसे पराजित नहीं कर सका। कुबेर 'असालिका' नामक विद्या जानता था। उस विद्या की सहायता से वह नगरी के चारों ओर अग्नि का कोट बना देता था। इसी विद्या के प्रताप से उसकी नगरी अजेय बनी रही।

रावण को बड़ी निराशा हुई, लेकिन वह भाग्यवान् था, अतः विजय का एक मार्ग निकल आया।

कुबेर की एक रानी रावण को पहले से ही चाहती थी। उसके माता-पिता भी रावण के साथ उसका विवाह करना चाहते थे। पर रावण दिग्विजय के लिए निकल पड़ा था, इस

कारण उसके पिता ने राजा कुबेर के साथ उसका विवाह कर दिया। फिर भी वह हृदय से रावण को ही चाहती थी।

रानी ने देखा कि रावण को विजय नहीं मिल रही है और वह निराश हो रहा है। जिस विद्या के कारण रावण को विजय नहीं मिल रही है, उसकी चाबी तो मेरे हाथ में है, जो मेरे पति ने मुझे प्रसन्न करने के लिए बतलाई है। अगर रावण मुझे अपना लेना स्वीकार कर ले तो मैं उसे विजयी बना सकती हूँ।

अनिच्छित विवाह का परिणाम कैसा होता है, यह बात इस घटना से स्पष्ट मालूम हो जाती है। कुबेर की वह पत्नी रावण के साथ विवाह करना चाहती थी, फिर भी उसका विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध कुबेर के साथ कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि रानी अपने पति के साथ बड़े से बड़ा धोखा करके, ऐसे समय रावण से मिलने के लिए तैयार हुई जब कि वह पति का शत्रु बन कर आया था।

रानी ने दासी के साथ रावण के पास सदेश भेजा–'अगर आप मुझे स्वीकार करें और अपनी पत्नी बना लें तो मैं आपको विजयी बना सकती हूँ। जिस विद्या के प्रताप से नगरी की चारों बाजू अग्नि का कोट बन जाता है, उसकी चाबी मुझे मालूम है।' दासी यह सदेश लेकर गुप्त रूप स रावण क पास गई। उसने सदेश सुनाया। रावण पहले बड़ा नीतिमान् और धर्मनिष्ठ था। उसने रानी के प्रस्ताव को यह कह कर अस्वीकार कर दिया—'विजयप्राप्ति के लिए मैं इस प्रकार का निन्दनीय काम नहीं कर सकता। विजय हो, चाहे न हो पर मैं इसके लिए परस्त्री को स्वीकार नहीं कर सकता।'

रावण का स्पष्ट उत्तर सुनकर दासी चुपचाप लौट गई। [वि]भीषण ने देखा—यह दासी आई तो प्रसन्न वदन थी, मगर [जा] रही है उदास होकर। इसका कारण पूछना चाहिए। विभी-[ष]ण ने उस दासी को अपने पास बुला कर पूछा—'क्यो, उदास होकर क्यो जा रही हो ?'

दासी ने सकुचाते हुए सारी घटना विभीषण से कही। तब विभीषण बोले—रावण क्या समझें ? सारा राज-काज तो मैं चलाता हूँ। मैं ही सब काम करता हूँ। तुम जाओ और रानी से कह दो कि विभीषण उन्हें अपनी भाभी बनाने के लिए तैयार है।

दासी ने महल मे जाकर रानी से सब हाल कहा। रानी ने प्रसन्न होकर विचार किया—जब विभीषण मुझे अपनी भाभी बनाने के लिए तैयार हैं तो फिर चाहिए ही क्या ?

इधर रावण ने विभीषण से कहा—क्या तुम मुझे भ्रष्ट करने के लिए तैयार हुए हो ? क्या तुम परस्त्री के साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ना चाहते हो ?

विभीषण बोले—आप इस विषय में चिन्ता न कीजिए। ऐसा कदापि नहीं होगा। यह तो राजनीति का एक खेल है। राज-नीति मे अनेक उपायो से काम निकालना पड़ता है।

आखिर रानी विभीषण के पास आ पहुँची। विभीषण ने रानी से कहा—मै आपको भाभी मानता हूँ। असालिका विद्या की चाबी आप मुझे बतला दीजिए।

भोली रानी ने समझा—विभीषण जब मुझे भाभी मानते हैं तो रावण के साथ विवाह होने मे अब क्या मीन-मेष हो

सकती है ? बस, रानी ने वह चाबी विभीषण को बतला दी और विभीषण ने नगरी पर विजय प्राप्त कर ली।

विजयी होने के बाद रानी ने विभीषण से कहा—अब आपके भाई के साथ मेरा विधिपूर्वक विवाह हो जाना चाहिए।

विभीषण ने कहा—मैंने आपको भाभी कहा है तो क्या आपको भूल जाऊँगा ? मगर मैं आपको उस मार्ग पर चलते नहीं देख सकता जो मेरी माता के लिए योग्य न हो। मेरी भाभी किसी भी प्रकार का निन्दनीय कार्य नहीं कर सकती। अगर मैं आपका सम्बन्ध अपने भाई के साथ कर दूँ तो भी आप उनकी उपपत्नी ही कहलाएँगी। अतएव आपका भला इसी में है कि आप यह विचार त्याग दें। मैं आपके लिए ऐसी व्यवस्था किये देता हूँ कि कुबेर राजा आपका आदर करेंगे और आप मेरी भाभी भी बनी रहेंगी।

पराजय होने के बाद राजा कुबेर को पता चला कि महल में से रानी गायब है। उसे समझते देर न लगी कि इस पराजय का कारण रानी ही है। वह इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि विभीषण उसके पास पहुँचे। उन्होंने कहा—'भैया, किस विचार में डूबे हो ?' अपने लिए विभीषण द्वारा कहा हुआ 'भैया' विशेषण सुनकर कुबेर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने विभीषण का यथोचित आदर करके बिठलाया और विचार किया—यह मेरे शत्रु के भाई होकर भी कितने मीठे शब्द बोल रहे हैं। और उधर उस दगाबाज रानी को देखो, जो सब तरह से मेरी होकर भी मेरे साथ विश्वासघात कर गई है।

विभीषण ने प्रेमपूर्ण स्वर मे कहा—'आप इस विषय मे अधिक विचार करके परेशान न हो। आपने रानी के मन को सन्तुष्ट और प्रसन्न नहीं किया। इस कारण अगर यह परिणाम आया तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? मगर जो हुआ सो हुआ। मै आपकी पत्नी को यहाँ बुलाये लेता हूँ। आप हृदय से उनका आदर कीजिए। इससे आपकी अप्रतिष्ठा भी न होगी और उनका धर्म भी न जायगा।'

कुबेर ने विभीषण की सलाह स्वीकार कर ली। साथ ही वादा किया—अब मै उसके साथ अच्छा व्यवहार करूँगा।

विभीषण—ठीक है। इस घटना को भूल जाइए। समझ लीजिए, घटना घटी ही नहीं है।

विभीषण ने राजा और रानी का सम्बन्ध फिर स्थापित कर दिया।

विना मन का विवाह समाज के लिए भयानक अभिशाप है!

२३

स्वर्ग की चाह

एक बार महाराजा श्रेणिक ने अपने बुद्धिमान् पुत्र और मन्त्री अभयकुमार से पूछा—'सब की आत्मा क्या चाहती है?'

अभयकुमार न कहा—सब कल्याण चाहते हैं महाराज!

श्रेणिक—फिर कल्याण होता क्यों नहीं? जब सभी कल्याण चाहते हैं तो फिर कल्याण न होने का कारण क्या है?

अभय—लोग जिसको चाहते हैं उसको नहीं करते और जिसको नहीं चाहते उसको करते हैं। ऐसी अवस्था में कल्याण बेचारा क्या करे?

श्रेणिक—'वाह! क्या सारी दुनियाँ मूर्ख है कि जो चाहती है सो नहीं करती और जो नहीं चाहती सो करती है?'

अभय—इसके लिए मैं प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित करूँगा।

कुछ दिन बाद अभयकुमार ने दो महल खाली करवाए। एक को बिलकुल काला रंगवाया और दूसरे को एकदम ऐसा

सफेद कि देखते ही चित्त प्रसन्न हो जाय। महलो को रंगवा कर अभयकुमार ने शहर में ढिढोरा पिटवाया कि जो धर्मात्मा हो और जिसे स्वर्ग में जाने की इच्छा हो, वह सफेद महल मे जावे और जो पापी हो और स्वर्ग न जाना चाहता हो वह काले महल मे जावे।

शहर के सब लोग सफेद महल मे भर गए। भला काले महल में जाकर पापी कौन बने ? फिर भी एक आदमी उस काले महल मे भी गया।

महाराज श्रेणिक को साथ लेकर अभयकुमार सफेद महल में आये। दोनो एक-एक सिहासन पर बैठ गए। हुक्म दिया गया कि महल मे से एक-एक निकले।

सब से पहले एक वेश्या निकली। अभयकुमार ने उससे पूछा—तुम भी यहाँ आई हो ?

वेश्या—हाँ अन्नदाता !

अभय—क्यो ? क्या पुण्य किया है जो स्वर्ग जाना चाहती हो ?

वेश्या—मै जो कुछ करती हूँ, अच्छा ही करती हूँ।

अभय—क्या अच्छा करती हो ?

वेश्या—हमारे विना संसार का सौन्दर्य नहीं है। हम संसार मे सौन्दर्य भावना बढ़ाती है। कोई कह सकता है कि हम गरीबों से पैसे लेती है, मगर थोड़े-से पैसों मे ही उसे स्वर्ग-सुख का अनुभव करा देती है। मै सभी को आनन्द देती हूँ। किसी की चोरी नहीं करती, डाका नही डालती। फिर क्या बुरा करती हूँ जो इस महल में आने की अधिकारिणी नहीं हूँ।

अभयकुमार ने वेश्या को जाने के लिए कह कर महाराज श्रेणिक से कहा—महाराज, देखिए। यह भी स्वर्ग सुख की इच्छुक है—स्वर्ग जाना चाहती है। यह जानती है कि वह नरक के योग्य काम कर रही है, फिर भी यहाँ आई है। आत्मा तो इसकी भी स्वर्ग चाहती है, परन्तु स्वर्ग जाने के योग्य काम नहीं करती। मैंने आपसे ठीक ही निवेदन किया था कि लोग कल्याण क इच्छुक होने पर भी कल्याण के काम नहीं करते।

अभयकुमार ने फिर दूसरे आदमी को बुलवाया। दूसरा आदमी कसाई था। अभयकुमार ने उससे पूछा—क्या पुण्य किया है जो इस महल म आए हो?

कसाई—सरकार! हमने बुरा ही क्या किया है? अगर हम बुरे हैं तो सभी बुरे हैं। हमारी ही तरह बहुत लोग छुरी चलाया करते हैं। अन्तर इतना ही है कि हम प्रकट में चलाते हैं और दूसरे भीतर ही भीतर चलाया करते हैं। हम तो मिहनत भी करते हैं और कसाई क रूप म प्रसिद्ध ही हैं, किन्तु बहुत-स लोग हम से भी बढ़ कर हैं जो प्रकट म कसाई नहीं हैं, मगर कसाई का काम करने में हमें भी मात कर देत हैं। हम सिर्फ पशुओं को ही मारते हैं पर वे मनुष्यों के गले काटा करत हैं। फिर आप हमीं पर क्यों नाराज होते हैं?

कसाई के बाद चोर आया। अभयकुमार उसे भली भांति पहचानता था। उसने पूछा—ओह, आप भी यहाँ आये हैं?

चोर—क्यों महाराज! करें क्या? हर रोज भूख लगती है और पैसा पास में नहीं होता। तब क्या भूखे मर जाएँ? और पत्नी तथा बाल बच्चों का भी गला घोंट दें? उधर उन्हें देखिए

जो गरीबों को सता-सता कर अपनी तिजोरियाँ भरते हैं। उनके पास बेकार धन पड़ा रहता है। उसमे से थोड़ा-बहुत हम ले आते है। साहस करके लाते हैं, जान पर खेल कर लाते हैं। और अपना तथा बाल-बच्चों का पेट पालते हैं। यह कौन-सी बड़ी बुरी बात हो गई ?

अभयकुमार ने श्रेणिक से कहा—महाराज ! जिनके पाप प्रकट हैं वे भी अपना पाप छिपाने का ही प्रयत्न करते हैं, तो जिनके पाप छिपे हैं वे कब प्रकट करने लगे ? दुनिया धर्मी बनना चाहती है, स्वर्ग मे जाना चाहती है, मगर कर्म ऐसे करती है ! अब स्वर्ग मिले तो कैसे ? लोग इस संसार को देखकर घबरा उठेंगे पर मै नही घबराता। क्योंकि—

> सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
> कर्म-मैल का आंतरा, बूझे विरला कोय ॥

चिदानन्द सब का उज्ज्वल है। सब की दौड़ कल्याण की ही ओर है। मगर जीव मोह के कारण कल्याण की इच्छा रख कर भी अकल्याण के काम करता है।

सफेद महल से उठकर दोनों काले महल मे आए। यह महल खाली पड़ा था। केवल एक सुशील श्रावक, जो धर्मात्मा के रूप में प्रसिद्ध था, इसमें आया था। राजा उसे देखकर चौंके और बोले—तुम यहाँ क्यों आए ?

श्रावक—महाराज ! बहुत दिनों से मैं अपने पाप को निकालना चाहता था। मैं धर्मात्मा प्रसिद्ध हूँ परन्तु मुझसे विश्वास-घात का पाप हो गया है। मैं इस पाप को प्रकट करने के लिए

बहुत दिनों से इच्छुक था। पर हृदय की दुर्बलता से ऐसा नहीं कर सका। आज आपका ढिंढोरा पिटने से मैंने अपने हृदय को दृढ़ किया और अपने पाप को आपके सामने प्रकट कर देने का अच्छा अवसर देखा। इसीलिए यहाँ हूँ। मैंने अपने आपको असली रूप में प्रकट कर देने में ही कल्याण समझा। इस पाप को बाहर निकाल कर मैं स्वच्छ हो जाऊँगा।

अभयकुमार ने कहा—महाराज! कल्याण की चाह इनकी भी है और उन लोगों की भी है। चाह में फर्क नहीं है, मार्ग में फर्क है। पाप को छिपाने और पाप को प्रकट करने में से कौन-सा मार्ग ठीक है, इसका निर्णय आप कीजिए।

तात्पर्य यह है कि काम करो काले महल में जाने के और इच्छा रक्खो सफेद महल में जाने की, यह बात नहीं चलेगी। ढोंग करके अपने आपको भले ठग लो, मगर कर्म फल से बचना सम्भव नहीं है।

जैसी मति वैसी गति

एक बार राजा श्रेणिक ने 'अमारी' का ढिंढोरा पिटवाया अर्थात् किसी भी जीव की हत्या न करने की घोषणा की। यह घोषणा सुनकर कालकसुरी नामक कसाई कहने लगा—किसी भी जीव की हत्या न करने की प्रेरणा करने वाले शास्त्र झूठे हैं। सच्ची बात यही है कि जीवों को कत्ल करना चाहिए। उसने राजा से भी कहा—आप कत्ल करना सही न मानते हों तो यह तलवार बाँधना त्याग दीजिए। फिर देखिएगा कि राज्य की क्या दशा होती है और कौन आपका कहना मानता है?

राजा ने कसाई को समझाने का प्रयत्न किया—युद्ध करने के लिए आने वाले का सामना करना जुदी बात है और निरपराध प्राणियों की हत्या करना जुदी बात है।

कालक ने कहा—राजन्, आपका कहना यथार्थ नहीं है। जैसे तलवार से आपका राज्यशासन चलता है, उसी प्रकार

छुरी से कत्ल द्वारा हमारी आजीविका चलती है। ऐसी स्थिति में मैं जानवरों की हत्या करना नहीं छोड़ सकता।

राजा समझ गया कि कसाई बातों से मानने वाला नहीं है। ऐसे लोग तो सज़ा से ही ठिकाने आ सकते हैं।

राजा ने कसाई को जेल में बन्द करा दिया। कालक जेल में पड़ा पड़ा भी अपने शरीर का मैल उतार कर और उसके पाडे (भैंसे) बना बना कर, उनके ऊपर तलवार की तरह हाथ से घाव मारने लगा। वह घाव मारता और जोर जोर से चिल्लाता—एक, दो, तीन　　। यह चिल्लाहट सुनकर राजा ने पूछा—यह कौन है जो एक, दो, तीन, चिल्लाया करता है? सिपाहियों ने उत्तर दिया—महाराज! कालक कसाई कारागार में पड़ा पड़ा ही अपना धन्धा चलाया करता है।

यह कैफियत सुनकर श्रेणिक ने अपने बुद्धिशाली पुत्र और मन्त्री अभयकुमार से कहा—इस कसाई को किस प्रकार सुधारना चाहिए? यह तो कहना मानता ही नहीं है!

अभयकुमार बोले—इन संस्कारों को सुधारने का मार्ग दूसरा ही है। वह मार्ग कौन सा है, यह बात मैं बाद में आपसे निवेदन करूँगा।

इसके बाद अभयकुमार ने कालक के लड़के सुलक के साथ मित्रता की। मित्रता भी इतनी गाढ़ी कि माना दो देह और एक ही आत्मा हों। अभयकुमार की संगति से सुलक धर्मनिष्ठ बन गया।

अभयकुमार ने एक रोज अपने पिता श्रेणिक से कहा—कालक तो अभी तक नहीं सुधरा, परन्तु आप उसके लड़के को

बुलवा कर पूछिए कि कसाई का धन्धा उसे कैसा लगता है ? राजा ने सुलक को अपने पास बुलाया। उससे पूछा—तुम्हारा पिता जेल मे पड़ा है, फिर तुम्हारे घर की आजीविका जीवो को मारे बिना किस प्रकार चलती है ?

सुलक—जीवो को मारने से ही आजीविका चल सकती है, और बिना मारे नहीं चल सकती, ऐसी धारणा मेरी नहीं रही। यह खयाल गलत है। चोर भी यही कहता है कि चोरी किये बिना मेरी आजीविका नही चलती। मगर चोरी नहीं करते वे क्या सभी भूखे मरते है ? इसी प्रकार दुनिया क्या जीव मार-मार कर ही आजीविका करती है ? मैं इस निश्चय पर आया हूँ कि किसी भी बखूबी आजीविका चलाई जा सकती है। और इसी प्रकार मै अपनी आजीविका चला भी रहा हूँ।

सुलक का विचार जानकर राजा श्रेणिक को बहुत प्रसन्नता हुई।

अभयकुमार ने पिता से प्रार्थना की—कालक का पुत्र सुधर गया है, अब इसके पिता को कारागार से मुक्त कर देना चाहिए।

अभयकुमार की प्रार्थना स्वीकृत हुई। राजा ने कालक को कारागार से मुक्त कर दिया। कालक अपने लड़के से मिला और जब उसने लड़के के विचार सुने और रंगढंग देखे तो वह कहने लगा—मै जेल में रहा तब तक तो मेरा छोकरा ही बिगड़ गया।

कुछ दिनों बाद कालक बीमार हुआ और मरने लगा। मगर सरलता से उसके प्राण नहीं निकलते थे। सुलक ने उससे

पूछा—पिताजी, आपको किस बात की चिन्ता ? आपका जी किसमें अटका है ?

कालक—चिन्ता यही है कि मेरे मरने के बाद तू मेरा धन्धा नहीं चलाएगा। इसी सोच विचार से मैं छटपटा रहा हूँ।

सुलक—आप चिन्ता न करें। आपके बाद में धन्धा अवश्य करूँगा।

कालक—पक्का वचन दे।

सुलक ने वचन दिया और कालक ने प्राण त्यागे। सुलक सोचने लगा—अभयकुमार का कहना एकदम सत्य था कि मनुष्य के हृदय म जो संस्कार जड पकड़ जाते हैं, वे अन्तिम समय तक भी नहीं छूटते। और इस कारण जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है।

आयु बधने से पहले जैसी मति होती है वैसी गति होती है और आयु बधने के बाद जैसी गति होनी होती है वैसी मति हो जाती है।

कालक मर गया। सुलक के कुटुम्बियों ने उससे कहा—अब अपना कसाइ का धन्धा करो, तुमने पिता को वचन दिया था।

सुलक ने कहा—मैंने धन्धा करने का वचन दिया है सो करूँगा। जीवों की हत्या करना कोई धन्धा नहीं है।

कुटुम्बी बोले—तुम पाप से क्यों डरते हो ? तुम्हें जो पाप होगा उसका फल हम भोग लेंगे।

सुलक न कहा—ठीक है। और उसने एक छुरा मँगवा कर अपने हाथ में मार लिया। फिर कुटुम्बी जनों से कहा—मुझे बड़ी वेदना हो रही है, थोडी थोडी सब बाँट लो।

कुटुम्बी कहने लगे—पागल तो नहीं हो गया है! अपने हाथ से छुरा मार लिया और दर्द बाँट लेने के लिए हम से कहता है! दर्द किस तरह बाँटा जा सकता है?

सुलक—जब आपके पास ही मैं बैठा हूँ तब भी आप मेरा दर्द नहीं बाँट सकते तो परलोक में दूर हो जाने पर मेरा पाप आप किस प्रकार ले सकेंगे?

कुटुम्बी जन चुप हो रहे। क्या उत्तर देते? फिर भी एक बोला—तो फिर पिता को दिये वचन का पालन किस प्रकार करोगे?

सुलक—मैंने धन्धा करने का वचन दिया है और धन्धा करके अपने वचन का पालन करूँगा। पहले आप लोगों को भोजन कराऊँगा उसके बाद मैं भोजन करूँगा।

अभयकुमार ने सुलक के साथ मैत्री करके उसे सुधार लिया। घृणा पाप से करनी चाहिए, पापी से नहीं। पापी के पाप सीखने के लिए नहीं किन्तु उसके पाप छुड़ाने के लिए उसे मित्र बनाना चाहिए।

२६

सत्य की महिमा

मनुष्य को जब तक अनुभव नहीं हो जाता, तब तक उसकी समझ में सत्य का महत्त्व नहीं आता। जब उसके सिर पर कोई ऐसी आपत्ति आ पड़ती है—जो असत्य का आश्रय लेने से उत्पन्न हुई हो तो, तत्काल ही वह समझ जाता है, कि सत्य का क्या महत्त्व है! इसके लिए, एक प्राचीन कथा का उदाहरण दिया जाता है—

एक श्रावक ने, अपने पुत्र को नाना प्रकार की शिक्षाएँ देने का प्रयत्न किया, अनेक प्रकार से उसे समझाने की चेष्टा की, किन्तु उसके दिमाग में एक भी न जँची और वह कुसंगति छोड़ने को तय्यार न हुआ। कुसंगति का, जो फल हो सकता है, वही हुआ। धीरे धीरे, थोड़े ही दिनों में वह लड़का चोरी करने लगा। पिता ने, फिर भी अनेक प्रकार के प्रयत्न किये, किन्तु सब निष्फल। वह लड़का न सुधर सका और दिन दिन अपने विषय

में नैपुण्य प्राप्त करने लगा। पिता से तिरस्कृत होकर भी, उसने अपना व्यवसाय बन्द न किया और एक दिन राजा के भण्डार पर छापा मारा। किन्तु, राजा की निपुणता से चोरी का पता लग गया, तथा चोर भी पकड़ा गया। पकड़ लिये जाने पर, उस लड़के ने यह जाल रचा कि, जिस दिन राज्य-भंडार मे चोरी हुई, उस दिन मैं इस नगर मे था ही नही। इस बात को उसने, अपने मित्रों की गवाही दिलाकर प्रमाणित कर दी। चालाकी पूरी चली, यह देख कर राजा दंग रह गया। उसने अपने मन मे सोचा कि, यद्यपि चोरी इसी ने की है, तथापि जब तक इसकी चोरी नियमानुसार प्रमाणित न हो जाय, तब तक इसे चोर कैसे ठहराया जा सकता है? इतने ही में राजा को एक युक्ति याद आई। इस लड़के का पिता, सत्य-भाषण के लिए प्रख्यात था। राजा ने उसी की साक्षी पर मुकदमे का दार-मदार छोड़ दिया। लड़के ने जब यह जाना कि, मेरे पिता की साक्षी पर ही मुकदमे का दार-मदार है, तो वह दौड़ा हुआ अपने पिता के पास गया। वहाँ जाकर उसने, पिता के पैरो पर गिर कर प्रार्थना की, कि—"यद्यपि चोरी मैने ही की है, तथापि यदि आप राजा के सन्मुख यह कह देंगे कि, उस दिन मेरा लड़का नगर मे नहीं था, तो मैं बच जाऊँगा। राजा आपका कहना मानेंगे, अतः यदि आप मेरी बात को—जो लगभग प्रमाणित हो चुकी है—थोड़ी और पुष्ट कर देंगे, तो मै, साफ बच जाऊँगा।"

लड़के ने यद्यपि नम्रता-पूर्वक उक्त प्रार्थना की, किन्तु वह श्रावक ऐसा न था। उसे सत्य की अपेक्षा अपना अन्यायी-पुत्र कदापि प्रिय नही हो सकता था। वह एक विद्वान् के निम्न कथन का कट्टर समर्थक था।

आत्मार्थे वा परार्थे वा पुत्रार्थे चापि मानवा ।
अनृत ये न भाषन्ते ते बुधा स्वर्गगामिन ॥

"जो अपने, पराये या अपने पुत्र के लिये भी असत्य नहीं बोलते, वे ही बुद्धिमान देवलोक को जाते हैं।"

उसने उत्तर दिया कि, यद्यपि पिता होने के कारण तरी रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है, लेकिन 'सत्य' मेरा सर्वस्व है। सत्य ही मेरा परम मित्र है, सत्य से मेरी रक्षा होती है, अत उस परम प्रिय सत्य को छोड कर, मैं तेरे अन्याय का समर्थन करने के लिए झूठ बोलूँ, यह कदापि सम्भव नहीं है। यदि सत्य से तू बचता हो तो मैं, तू कहे वैसा कर सकता हूँ।

अन्यायी-मनुष्य मे, क्रोध बहुत होता है। पिता का यह उत्तर सुनकर, इस लडके का क्रोध उमड पड़ा। उसने कहा—"तुम मेरे बाप क्यों हुए? पुत्र पर दया नहीं आती और उसकी जान लिवाने को तयार हो? क्या तुम्हीं अनोखे बाप हो, या दुनिया में और किसी के भी बाप हैं? अच्छी सत्य की पूछ पकड रखी है कि लडका चाहे बचे या मर जाय, किन्तु आप अपने सत्य को ही लिये चाटा करेंगे।"

पिता—पुत्र! तेरे पर मेरी अत्यन्त दया है, लेकिन तेरे सिर पर इस समय क्रोध का भूत सवार है। इसी से मेरा अच्छा स्वरूप भी तुझे उल्टा दीख रहा है और तू ऐसा बोल रहा है। यदि ऐसा न होता, तो तू स्वयं समझता कि, मैं तुझे बचाने के लिए, ऐसा असत्य भाषण कर दूँ कि "यह उस दिन यहाँ नहीं था," तो मेरा 'सत्य-व्रत' भग हो जाय।

पुत्र—तुम्हीं मेरी जान ले रहे हो।

पिता—मैं तेरी जान नही ले रहा हूँ, किन्तु तेरा पाप तेरी जान ले रहा है। मैं तो तेरी रक्षा ही चाहता हूँ। इसीलिए मैं, तुझे बचपन से ही बुरे कर्म से बचने का उपदेश देता रहा, लेकिन तू मेरी शिक्षा की उपेक्षा करता रहा। अब भी मै तुझे यही उपदेश देता हूँ कि, सत्य की शरण जा; सत्य ही तेरी रक्षा करेगा। यदि असत्य से प्राण बच भी गये, तब भी मृतक के ही समान है और सत्य से प्राण गये, तब भी जीवन से श्रेष्ठ है।

निश्चित समय पर श्रावक को राजा ने बुलाया और गवाह के कठघरे मे खड़ा करके पूछा कि,—'कहिये सेठजी, जिस दिन राज्य-भण्डार मे चोरी हुई, उस दिन क्या तुम्हारा लड़का यहाँ नही था? और उसने चोरी नही की है?'

सेठ—उस दिन वह नगर मे ही था और चोरी उसी ने की है।

धन्य है इस श्रावक को! जिसने अपने पुत्र के लिए भी झूठ बोलना उचित न समझा। यदि यह चाहता तो, झूठ बोल कर अपने लड़के को निरपराध सिद्ध कर सकता था; लेकिन उसने अपने लड़के से सत्य को कही विशेष उच्च समझा। यह श्रावक तो अपने लड़के के लिये भी झूठ नही बोला, लेकिन आज के लोग कौडी-कौड़ी के लिये झूठ बोलने मे नही हिचकिचाते। इतना ही नही, बल्कि अकारण ही हँसी-मजाक और अपनी या दूसरे की प्रशसा तथा निन्दा के लिये भी, झूठ को ही महत्त्व देते हैं। कहाँ तो यह श्रावक, जिसने प्राण-प्रिय-सन्तान को भी सत्य से

तुच्छ समझा और कहाँ आज के लोग, जो स य को कौड़ियों मे भी तुच्छ समझते हे । अस्तु ।

यदि श्रावक चाहता, तो झूठ बोल सकता था, लेकिन वह इस बात को जानता था, कि पुत्र का रक्षा, वास्तव म सत्यवादी ही कर सकता है मिथ्यावादी नहीं।

सेठ का उत्तर सुनकर, राजा धन्यवाद देता हुआ सेठ से कहने लगा,—"तुम्हारे जैसे सत्यपात्र सेठ मेरे नगर में मौजूद हैं, यह जानकर मेरे आनन्द की सीमा नहीं रही। मेरे नगर में जैसे चोर हैं, वैसे ही सर्वथा सत्य बोलने वाले मनुष्य भी मौजूद हैं, यह कितने आनन्द की बात है! में तुम पर प्रसन्न हूँ, अत तुम इच्छानुसार याञ्चा कर सकते हो। मैं तुम्हारा इच्छा पूर्ण करने की प्राणपण से चेष्टा करूँगा।"

सेठ प्रतीक्षा कर रहा था कि, देखें लडके को उसके अन्याय का क्या दण्ड मिलता है, किन्तु राजा के मुख से ये सान्त्वना पूर्ण वचन सुनकर, वह एकान्त मे जा बैठा और अपने लडके को बुलाकर उससे बात चीत करने लगा।

पिता—तुझ पर चोरी का अपराध प्रमाणित हो गया है, अब तुझे जीने की इच्छा है या मरने की? तू मुझे कहता था कि, झूठ बोलकर बचाओ, किन्तु अब देख कि, सत्य बोलकर भी में तुझे बचा सकता हूँ। धर्म रहे, तो जीवित रहना उत्तम है, किन्तु यदि धर्म जाने की स्थिति उत्पन्न हो जाय, तो धर्म जाने के पूर्व मृ यु श्रेष्ठ है। यदि, तुझे जीवित रहने की इच्छा हो, तो पाप कर्मों को छोड़ कर सत्यमार्ग ग्रहण कर। यदि तू मेरे धर्म का

अधिकारी बनना चाहे, तो मै राजा से तुझे छोड़ देने की प्रार्थना करूँ। इसके पश्चात् यदि मै तेरा आचरण अच्छा देखूंगा तो तुझे अपना उत्तराधिकारी बनाऊँगा अन्यथा नहीं।

पुत्र—आपने पहले भी मुझे यही उपदेश दिया था, किन्तु मै बराबर कुमार्ग पर चलता रहा। यदि अब मैं जीवित बच जाऊँगा, तो सदैव अच्छा आचरण रखूँगा। पिताजी! थोड़ी देर पहले आप मुझे पिशाच के समान मालूम होते थे, किन्तु अब आपके वचन सुनकर मेरी दृष्टि ऐसी स्वच्छ हो गई है कि, आप मुझे ईश्वर के समान पवित्र मालूम होते है। जहाँ सत्य है वहीं ईश्वर है, यह बात मै आज समझ सका। आप धन्य है, जो अपने सत्य-व्रत के सन्मुख पुत्र-प्रेम को, हेय समझते हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि भविष्य मे मै सत्य का पालन करूँगा। यदि मै अपने इस व्रत का, ठीक तरह से पालन न कर सकूँगा, तो प्राण त्याग दूँगा। अब आपकी इच्छा पर निर्भर है—चाहे जिलावें या मारें।

हृदय की साक्षी हृदय भरता है। जब सामने वाले का हृदय स्वच्छ होगा, तो तुम्हारा भी हृदय स्वच्छ ही रहेगा।

लड़के की स्वच्छ हृदय से कही हुई यह बात सुनकर, सेठ राजा के पास गया और प्रार्थना की, कि मेरा लड़का भविष्य में सत्य मार्ग पर चलने का सच्चे हृदय से प्रण करता है, अतः मैं आप से यही चाहता हूँ कि आप उसे छोड़ दें। मुझे और किसी बात की आवश्यकता नहीं है।

राजा ने कहा—हम अपराधी को इसीलिये दण्ड देते हैं कि वह भविष्य मे अपराध न करे। किन्तु यदि कोई अपराधी,

सच्चे दिल से अपने अपराध पर पश्चात्ताप करले, तो हमें उसके छोड़ देने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। मैं तुम्हारे विश्वास दिलाने पर इसे छोड़ता हूँ और आशा करता हूँ कि यह अब तुम्हारे आदर्श से पवित्र बन जायगा।

पहलेके राजा लोग, अपराधी को कुमार्ग से सन्मार्ग पर लाने के लिये दण्ड दिया करते थे, आजकल की तरह जेलों में ठूसकर केवल बन्दियों की संख्या बढाना उन्हे अभीष्ट न था। वे, राज्य में शान्ति और प्रजा को सुखी बनाने के इच्छुक रहा करते थे। यदि अपराधी सच्चे हृदय से, अपने अपराध का पश्चात्ताप करके, भविष्य में फिर अपराध न करने की प्रतिज्ञा करता, तो उसे क्षमा कर दिया जाता था। ऐसी उदारता का प्रभाव, मनुष्य के मन पर पडा करता है और भविष्य में वह कुमार्ग पर चलने की इच्छा नहीं करता। इसके विरुद्ध, आधुनिक समय के लिये सुना जाता है कि, प्रमाणाभाव से अपराधी को अपराध करते हुए भी चाहे छोड़ दिया जाय, किन्तु अपराधियों के पश्चात्ताप और भविष्य में अपराध न करने की प्रतिज्ञा का कोई परिणाम नहीं होता। बल्कि, उन्हें जेल भेजकर, या शारीरिक और आर्थिक दण्ड देकर, निर्लज्ज बना दिया जाता है। निलज्ज हो जाने पर, अपराध करने से भय नहीं होता और प्राय अपराधी की आयु, अपराध करने में ही व्यतीत होती है। साराश यह, कि ऐसा होने पर न तो राजा को ही शान्ति मिलती है, न प्रजा को ही और जिस अभिप्राय से अपराधी को दण्ड दिया जाता है, फल उसके विपरीत होता है। अस्तु।

राजा ने, उस सेठ को नगर-सेठ बनाया। राजा को यह विश्वास था, कि आवश्यकता पड़ने पर यह सेठ मुझे सच्ची-सम्मति ही देगा, झूठी नहीं।

पूर्वकाल मे, राजा लोग सत्यवादी की ही प्रतिष्ठा करते थे, झूठे की नहीं। लेकिन आजकल तो विशेषतः वे ही लोग राजा के प्रतिष्ठा-पात्र हो सकते हैं, जो झूठ बोलने मे निपुण हों, झूठी प्रशंसा करना, हाँ मे हाँ मिलाना और दूसरे की निन्दा करना, जिन्हे अच्छी तरह आता हो। इस विपरीतता का परिणाम भी स्पष्ट है। इन जी-हुजूरो के ही कारण, प्रायः राजा लोगों को हानि पहुँचा करती है और प्रजा से वैमनस्य रहता है। ऐसे अनेक लोगो की जगह, यदि राजा को एक भी सच्ची-सम्मति देने वाला हो और राजा उसकी सम्मति की अवहेलना न करे तो अशान्ति का कोई कारण न रह जाय। राजा और प्रजा मे प्रेम भी रहे, तथा सुख-समृद्धि की भी वृद्धि हो।

सत्य के प्रताप से, सेठ ने नगर-सेठ का पद प्राप्त किया, दण्ड पाते हुए पुत्र को भी बचा लिया और अपने दुराचारी पुत्र को सदाचारी भी बना लिया।

सत्य-मार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन भी है और फूलो के बिछौने पर चलने के समान सरल भी। इसमे प्रकृति की भिन्नता का अन्तर है। ऐसे मनुष्य भी हैं, जो अकारण ही असत्य बोलते है और सत्य-व्यवहार को तलवार की धार पर चलने के समान कठिन मानते है। उनका विश्वास है कि सत्य-व्यवहार करने वाला मनुष्य संसार में

जीवित ही नहीं रह सकता। दूसरे ऐसे भी मनुष्य हो चुके हैं और हैं, जो असत्य व्यवहार करने की अपेक्षा, मृत्यु को श्रेष्ठ मानते हैं। सत्य-व्यवहार, उनके लिये फूलों की सेज है। फिर उस मार्ग में उन्हें, चाहे कितने ही कष्ट हों, किन्तु, वे उसकी परवाह किये बिना ही, प्रसन्नता पूर्वक अपने मार्ग पर चलते रहते हैं।

सत्यवादी का प्रभाव

सत्यवादी के संसर्ग से असत्यवादी के हृदय का परिवर्तन शीघ्र हो जाता है। सत्यव्रत के पालने वाले मनुष्यों मे, ऐसी ही शक्ति होती है। उनके एक बार के सम्पर्क से ही, पतित से पतित व्यक्ति भी, अपना कल्याण-मार्ग देख लेता है। जिसने सत्य-व्रत का एक देश ग्रहण कर लिया, वह भविष्य मे पूर्ण सत्य-व्रती बन जाता है। सत्य के प्रभाव से, परिस्थितियाँ ही ऐसी उपस्थित होती हैं कि वे उस मनुष्य को उत्थान की ओर ले जाती हैं। इसके लिये जैन ग्रंथों मे वर्णित जिनदास नाम के एक श्रावक की कथा दी जाती है:—

राजगृहनगर मे, एक बड़े व्यापारी के यहाँ जिनदास नाम के श्रावक कार्यवश गये। जिनदास उस समय के बड़े आदमियो मे गिने जाते थे। व्यापारी ने उन्हें, अपना स्वजातीय अतिथि समझकर उनके लिये भोजन का विशेष रूप से प्रबन्ध किया। जिनदास ने व्यापारी से कहा—आप मेरे लिए इतना

जीवित ही नहीं रह सकता। दूसरे ऐसे भी मनुष्य हो चुके हैं और हैं, जो असत्य व्यवहार करने की अपेक्षा, मृत्यु को श्रेष्ठ मानते हैं। सत्य-व्यवहार, उनके लिये फूलों की सेज है। फिर उस मार्ग में उन्हें, चाहे कितने ही कष्ट हों, किन्तु, वे उसकी परवाह किये बिना ही, प्रसन्नता पूर्वक अपने मार्ग पर चलते रहते हैं।

सत्यवादी का प्रभाव

सत्यवादी के संसर्ग से असत्यवादी के हृदय का परिवर्तन शीघ्र हो जाता है। सत्यव्रत के पालने वाले मनुष्यों मे, ऐसी ही शक्ति होती है। उनके एक बार के सम्पर्क से ही, पतित से पतित व्यक्ति भी, अपना कल्याण-मार्ग देख लेता है। जिसने सत्य-व्रत का एक देश ग्रहण कर लिया, वह भविष्य मे पूर्ण सत्य-व्रती बन जाता है। सत्य के प्रभाव से, परिस्थितियाँ ही ऐसी उपस्थित होती हैं कि वे उस मनुष्य को उत्थान की ओर ले जाती हैं। इसके लिये जैन ग्रंथो मे वर्णित जिनदास नाम के एक श्रावक की कथा दी जाती है:—

राजगृहनगर मे, एक बड़े व्यापारी के यहाँ जिनदास नाम के श्रावक कार्यवश गये। जिनदास उस समय के बड़े आदमियों में गिने जाते थे। व्यापारी ने उन्हें, अपना स्वजातीय अतिथि समझकर उनके लिये भोजन का विशेष रूप से प्रबन्ध किया। जिनदास ने व्यापारी से कहा—आप मेरे लिए इतना

कष्ट न कीजिये। मेरा यह नियम है कि जिसकी आय सत्य द्वारा होती है, में उसी के यहाँ भोजन करता हूँ। जिसकी आय असत्य से होती है, उसके यहाँ भोजन नहीं करता। यदि आप मुझे अपने यहाँ भोजन कराना चाहते हैं तो अपना आय व्यय का लेखा मुझे बतलाइये। उससे यदि विश्वास होगया कि आपकी आय सत्य से होती है, तो मुझे भोजन करने में किसी प्रकार की आना कानी न होगी।

जिनदास श्रावक का व्यापारी से यह कहना कि,—"मैं उस मनुष्य के यहा भोजन नहीं करता, जो असत्य से जीविको पार्जन करता है" यथार्थ है। यह बात अनुभव सिद्ध है कि, जो मनुष्य जिस प्रकार का उपार्जित भोजन करता है, उसकी बुद्धि वैसी ही हो जाया करती है। श्रीकृष्ण ने इसी सिद्धान्त को सामने रखकर दुर्योधन के यहाँ भोजन करने से इनकार कर दिया था और विदुर के यहाँ भोजन किया था।

कई लोग कहते हैं कि, सामायिक करते समय न मालूम क्या हमारा चित्त स्थिर नहीं रहता, लेकिन ऐसा कहने वाले लोग, यह विचार नहीं करते कि अनीति से पैदा किया हुआ अन्न पेट में होने पर, मन स्थिर कैसे रह सकता है?

जिनदास इस बात का विश्वास पहले ही कर लिया करते थे कि, इसका भोजन कैसा है। इसीलिय उन्होंने व्यापारी से अपना आय व्यय का लेखा बताने को कहा। व्यापारी ने उत्तर में कहा कि,—"आप तो स्वय नीतिज्ञ हैं, और भली भाँति जानते हैं कि अपनी आय का भेद दूसरे को नहीं बताया

ताता। ऐसा होते हुए भी मुझे, आय-व्यय का लेखा बताने के लिये बाध्य करना, कैसे उचित कहा जा सकता है ?"

जिनदास—यदि ऐसा है, और आप अपना लेखा नहीं बताना चाहते हैं, तो आपकी इच्छा। लेकिन, मै अपने निश्चयानुसार बिना विश्वास किये, भोजन करने में असमर्थ हूँ।

व्यापारी, जिनदास के दृढ़-प्रतिज्ञ शब्दो को सुनकर विचारने लगा कि, इनकी प्रतिज्ञा तो ऐसी है और ऐसे सत्पुरुष को बिना भोजन कराये, घर से जाने देना भी अपने भाग्य को बुरा बनाना है। ऐसी अवस्था मे, क्या करना चाहिए ? क्योकि अतिथि को निराश लौटाना उचित नही है।

व्यापारी विचारता है कि, सामान्य-अतिथि के लिए भी यह बात है तो फिर ये तो महापुरुष हैं। इसके सिवाय, इनकी बातो और आकृति से भी जान पड़ता है कि, ये मेरा लेखा मेरी अप्रतिष्ठा के लिए नहीं देखना चाहते किन्तु अपनी प्रतिज्ञानुसार जानना चाहते हैं कि, मेरा आय-व्यय किस प्रकार से होता है। ऐसी दशा मे मेरा कर्त्तव्य है कि, मै सच्ची बात कह दूं और इन्हें भोजन किये बिना न जाने दूं।

इस प्रकार सोच-विचार कर, व्यापारी ने जिनदास से कहा कि,—आप लेखा देखा कर क्या करेंगे, सच्ची बात मैं जबान से ही सुनाये देता हूँ। वास्तव मे तो मै रात को चोरी करके धन कमाता हूँ, और दिन को व्यापार का ढोग रचकर प्रतिष्ठा प्राप्त करता हूँ।

व्यापारी की बात सुनकर, जिनदास ने कहा—ऐसी दशा में मैं आपके यहाँ भोजन नहीं कर सकता।

व्यापारी—यह तो, आपका अन्याय है। दूसरों की अप्रतिष्ठा भी करना और भोजन भी न करना, यह कैसे उचित है?

जिनदास—यद्यपि मैंने आपकी कोई अप्रतिष्ठा तो नहीं की है, फिर भी यदि आप मेरी एक बात को स्वीकार कर लें, तो मैं भोजन कर सकता हूँ।

व्यापारी के पूछने पर जिनदास ने कहा—आप चाहे अपने चोरी के कार्य को बन्द न करें, परन्तु सदा सत्य बोलने की प्रतिज्ञा कर लें। यदि, आपने इस प्रतिज्ञा को धारण कर ली, तो मैं भोजन कर लूँगा।

व्यापारी के ऊपर, प्रतिभाशाली जिनदास के शब्दों का बहुत प्रभाव पड़ा। उसने, जिनदास की बात स्वीकार करके, असत्य न बोलने की प्रतिज्ञा कर ली। व्यापारी के प्रतिज्ञा करने पर, जिनदास भोजन करके, व्यापारी के यहाँ से विदा हो गये।

सदा की भाँति व्यापारी, आधी रात के समय चोरी करने निकला। परन्तु आज राजा श्रेणिक और अभयकुमार प्रजा का सुख दुःख जानने के लिए, नगर में चक्कर लगा रहे थे।

पहले के राजा लोग, प्रजा की रक्षा का भार कर्मचारियों पर ही न छोड़ कर, उसका सुख दुःख जानने के लिए स्वयं वेश बदल कर, नगर और राज्य में भ्रमण किया करते थे। ऐसा करने से, प्रजा की वास्तविक परिस्थिति की उन्हें जानकारी हो जाती थी, और उसके फल-स्वरूप प्रजा कर्मचारियों के अत्याचारों से, सुरक्षित रह कर, शान्ति-पूर्वक अपने दिन व्यतीत करती थी। लेकिन, आज के राजा लोगों को यह पता शायद ही होगा कि

हमारा राज्य कैसा है, कितना है, और प्रजा की दशा क्या है। पता हो भी कहाँ से ? उन्हे तो, प्रजा की गाढ़ी कमाई बहाने और आनन्द-विलास करने से ही, फुरसत न मिलती होगी। ऐसी दशा मे, प्रजा तो केवल कर्मचारियों के ही सहारे रही, चाहे वे उस पर अत्याचार करें, या सुखी रखें। किन्तु, राजा श्रेणिक आज के राजाओं की तरह विलास-प्रिय और प्रजा के धन को, अकारण उड़ाने वाला न था। वह स्वयं, प्रजा के सुख-दुःख का वृत्तान्त जानकर प्रबन्ध किया करता था।

आधी रात के समय अकेले जाते देख, अभयकुमार ने व्यापारी को रोककर पूछा कि,—"कौन है ? व्यापारी इस प्रश्न को सुनकर भयभीत अवश्य हुआ, परन्तु अपनी प्रतिज्ञा याद आते ही, उसने निर्भय हो उत्तर दिया—'चोर'। व्यापारी का उत्तर सुनकर, राजा और कुमार विचारने लगे कि,—कहीं चोर भी कहीं अपने आपको चोर कहता है ? यह झूठा है। उन्होने व्यापारी से प्रश्न किया, 'कहाँ जाता है ?' व्यापारी ने फिर निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया,—'चोरी करने।'

व्यापारी के इस उत्तर को सुनकर राजा और कुमार ने सोचा, कि यह कोई विक्षिप्त है। विनोद के लिए उन्होंने फिर प्रश्न किया—'चोरी कहाँ करेगा ?' व्यापारी ने उत्तर दिया—'राजा के महल से।'

व्यापारी के इस उत्तर से राजा और कुमार का अनुमान और पुष्ट हो गया कि, वास्तव में यह विक्षिप्त ही है। उन्होंने व्यापारी को, 'अच्छा जाओ' कह कर जाने दिया। इस प्रकार चोर कहते हुए भी न पकड़े जाने से, व्यापारी बड़ा ही प्रसन्न हुआ।

वह जिनदास की प्रशंसा करने लगा कि, मैं अपने आपको चोर बतलाता जाता हूँ, परन्तु मुझे कोई पकड़ता नहीं है। यदि उस समय, मैं भागता या झूठ बोलता, तो अवश्य ही पकड़ लिया जाता, परन्तु सत्य बोलने से बच गया।

व्यापारी, इसी विचार धारा में मग्न राजमहल के पास जा पहुँचा। योग ऐसा मिला कि, व्यापारी जिस समय राजमहल को पहुँचा, उस समय राजमहल के पहरेदार नींद में झूल रहे थे। ऐसा समय पाकर, व्यापारी निधड़क महल में जा घुसा और कोष से रत्नों से भरे हुए दो डिब्बे चुरा कर, चलता बना।

लौटते समय, व्यापारी को राजा और अभयकुमार फिर मिले। उनके प्रश्न करने पर, व्यापारी ने अपने आपको पुनः चोर बताया। राजा और कुमार ने पहले वाला ही विक्षिप्त समझकर, हँसते हुए प्रश्न किया कि, "कहां चोरी की, और क्या चुराया?" व्यापारी ने उत्तर दिया कि,—"राज महल में चोरी करके रत्नों के दो डिब्बे चुरा लाया हूँ।" राजा ने व्यापारी को पहले ही विक्षिप्त समझ रखा था, इसलिए उसके इस उत्तर पर भी उन्हें कुछ सन्देह न हुआ और उसे जाने दिया।

व्यापारी अपने घर की ओर चलता जाता था और हृदय में जिनदास को धन्यवाद देता जाता था, कि, इन्होंने अच्छी प्रतिज्ञा कराई, जिससे मैं बच गया। अन्यथा मेरे बचने का कोई कारण न था। अब मुझे भी उचित है कि, कभी झूठ न बोलकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करूं। इस प्रकार विचारता हुआ, व्यापारी अपने घर को आया।

प्रातःकाल, कोषाध्यक्ष को कोष में चोरी होने की खबर हुई। कोषाध्यक्ष, कोष को देखकर और यह जान कर कि, चोरी में रत्नो के दो ही डिब्बे गये हैं, सोचने लगा कि, चोरी तो निश्चय ही हुई है, फिर ऐसे समय मे मै भी अपना स्वार्थ-साधन क्यो न कर लूं ? राजा को तो, मैं सूचना दूंगा तभी उन्हे मालूम होगा कि चोरी हुई है, और चोरी मे अमुक वस्तु इतनी गई है।

इस प्रकार विचार कर कोषाध्यक्ष ने, कोष में से रत्नों के आठ डिब्बे अपने घर रख लिये और राजा को सूचना दी कि, कोष में से रात को रत्नो से भरे हुए दस डिब्बे चोरी चले गये।

इस सूचना को पाते ही, राजा को रात की बात का स्मरण हुआ। वह विचारने लगा कि, रात को जिसने अपने आप को चोर बताया था, सम्भवतः वही रत्नों के डिब्बे ले गया है। लेकिन उसने तो, रत्नो के दो ही डिब्बे चुरा कर लाने को कहा था, फिर दस डिब्बे कैसे चले गये ? जान पड़ता है कि, आठ डिब्बे बीच ही मे गायब हो गए हैं। इस तरह सोच-विचार कर, राजा ने अभयकुमार को रात वाले चोर का पता लगाने की आज्ञा दी।

नगर मे घूमते घूमते, अभयकुमार उसी व्यापारी की दूकान पर पहुँचा और उसके स्वर को पहचान कर अनुमान किया, कि रात को इसी ने अपने आपको चोर बतलाया था। अभयकुमार ने व्यापारी से पूछा कि, "क्या आपने रात को राजमहल में चोरी की थी ? यदि हां, तो क्या चुराया था और चोरी की वस्तु मुझे बतलाइये।" व्यापारी ने चोरी करना स्वीकार करके, दोनो डिब्बो को अभयकुमार के सामने रख

दिया, वह सत्य का महत्व समझ चुका था, इसलिये उसे ऐसा करने में किंचित् भी हिचकिचाहट न हुई।

रत्नों के डिब्बों को देख कर विश्वास करने के लिए अभयकुमार ने व्यापारी से फिर प्रश्न किया कि, "क्या यही थे ?"

व्यापारी ने, इस प्रश्न का उत्तर भी 'हाँ' कह कर दिया। कुमार ने डिब्बों सहित व्यापारी को साथ लेकर, राजा के सम्मुख उपस्थित किया। राजा, कुमार की चातुरी पर प्रसन्न होकर कहने लगा कि, इसने तो दो ही डिब्बे चुराये थे, जो मिल गये, शेष आठ डिब्बों का पता और लगाओ।

अभयकुमार ने अनुमान किया कि, और डिब्बों में कोषाध्यक्ष की ही चालाकी होगी। उसने, कोषाध्यक्ष को बुलाकर कहा कि, चोरी गये हुए दस डिब्बों में से दो डिब्बे तो मिल गये, शेष आठ डिब्बे कहाँ हैं ? कोषाध्यक्ष घबरा उठा और कहने लगा कि, चोरी हुई तब मैं तो अपने घर था, ऐसी अवस्था में मुझे यह क्या मालूम कि, शेष डिब्बे कहाँ हैं ?

अभयकुमार, कोषाध्यक्ष की घबराई हुई दशा देख और उसका अस्थिर उत्तर सुनकर ताड़ गया कि, आठ डिब्बों के जाने में इसी की बेईमानी है। उसने, कोषाध्यक्ष को भय दिखाते हुए कहा कि,—सत्य कहो, अन्यथा बड़ी दुरदशा को प्राप्त होओगे।

झूठ कहाँ तक चल सकता है ? कोषाध्यक्ष के ओठ भय के मारे पिचक-से गये और वह कहने लगा-आठ डिब्बे मैंने

अपने ही घर मे रख लिये हैं, मैं अपने कर्त्तव्य और सत्य से च्युत हो गया, इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

अभयकुमार ने कोषाध्यक्ष को भी आठ डिब्बों सहित राजा के सामने उपस्थित किया। कोषाध्यक्ष की धूर्तता और व्यापारी की सत्यपरायणता देख, राजा ने कोषाध्यक्ष को तो बन्दीगृह भेजा और व्यापारी को कोषाध्यक्ष नियत किया।

राजा ने, व्यापारी को अपराधी होते हुए भी सत्य बोलने के कारण अपराध का कोई दण्ड न देकर, कोषाध्यक्ष नियत किया, इसका प्रभाव लोगों पर क्या पड़ा होगा, यह विचारणीय बात है। अपराध तो व्यापारी और कोषाध्यक्ष के समान ही थे। लेकिन व्यापारी सत्य बोला था और कोषाध्यक्ष झूठ। झूठ के कारण ही, कोषाध्यक्ष अपने पद से हटाया जाकर जेल भेजा गया और व्यापारी को सत्य के कारण ही, अपराध का दण्ड मिलने की जगह कोषाध्यक्षपद प्राप्त हुआ। राजा के ऐसा करने से, लोगो के हृदय में सत्य के प्रति कितनी श्रद्धा और झूठ से कितनी घृणा हुई होगी, यह आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

व्यापारी ने, चोरी ऐसा अपराध करके, उसके दण्ड से बचने के लिए भी, अपनी प्रतिज्ञा को तोड़कर झूठ का आश्रय लेना उचित नहीं समझा, लेकिन आज-कल के लोग साहूकारी में भी, अपने व्रत का ध्यान न रख, प्रायः असत्य का ही आश्रय लेते हैं। इसका कारण है कि, इन्हें सत्य पर विश्वास नहीं है और व्यापारी को सत्य पर विश्वास हो गया था। लेकिन, सत्य पर विश्वास करने और न करने का परिणाम भी इस कथा से स्पष्ट है।

दिया, वह सत्य का महत्व समझ चुका था, इसलिये उसे ऐसा करने में किंचित् भी हिचकिचाहट न हुई।

रत्नों के डिब्बों को देख कर विश्वास करने के लिए अभयकुमार ने व्यापारी से फिर प्रश्न किया कि, "क्या यही थे ?"

व्यापारी ने, इस प्रश्न का उत्तर भी 'हाँ' कह कर दिया। कुमार ने डिब्बों सहित व्यापारी को साथ लेकर, राजा के सम्मुख उपस्थित किया। राजा, कुमार की चातुरी पर प्रसन्न होकर कहने लगा कि, इसन तो दो ही डिब्बे चुराये थे, जो मिल गये, शेष आठ डिब्बों का पता और लगाओ।

अभयकुमार ने अनुमान किया कि, और डिब्बों में कोषाध्यक्ष की ही चालाकी होगी। उसने, कोषाध्यक्ष को बुलाकर कहा कि, चोरी गये हुए दस डिब्बों में से दो डिब्बे तो मिल गये, शेष आठ डिब्बे कहाँ हैं ? कोषाध्यक्ष घबरा उठा और कहने लगा कि, चोरी हुई तब मैं तो अपने घर था, ऐसी अवस्था में मुझे यह क्या मालूम कि, शेष डिब्बे कहाँ हैं ?

अभयकुमार, कोषाध्यक्ष की घबराई हुई दशा देख और उसका अस्थिर उत्तर सुनकर ताड़ गया कि, आठ डिब्बों के जाने में इसी की बेईमानी है। उसने, कोषाध्यक्ष को भय दिखाते हुए कहा कि,—सत्य कहो, अन्यथा बड़ी दुर्दशा को प्राप्त हो गे।

झूठ कहाँ तक चल सकता है ? कोषाध्यक्ष के ओंठ भय के मारे चिपक-से गये और वह कहने लगा—आठ डिब्बे मैंने

पुरुषार्थ

यह संसार-समुद्र प्रलयकाल के तूफान से क्षुब्ध समुद्र के समान है। संसार-समुद्र मे कर्म रूपी प्रलयकालीन पवन से तूफान उठ रहा है और कुटुम्ब-परिवार रूपी मच्छ-कच्छ जीव हैं। इस संसार-समुद्र को भी अपनी भुजाओ से पार करना कठिन है, फिर भी कोशिश करना कर्त्तव्य है।

हिम्मत करने वाले ही कठिन-कठिन कार्यों मे भी सफलता पाते है। जो कायर पुरुष, पहले से ही हिम्मत हारकर बैठा रहता है और कहता है कि भई, यह काम तो मुझसे नही हो सकेगा, वह साध्य कार्य मे भी सफलता नहीं पा सकता।

किसी सेठ का एक लड़का जहाज़ की मुसाफिरी के लिए तैयार हुआ। उसके पिता ने उसे बहुत समझाया। कहा—बेटा ! अपने घर मे बहुत धन है। जहाज मे मुसाफिरी करना

व्यापारी जब कोषाध्यक्षपद पर पहुँच गया, तब उस अपने दूसरे दुर्गुण भी निकाल दिये और धर्मात्मा बन गया अब उसकी भावना ऐसी हो गई कि, उसने पहले जिस जिस यहाँ चोरी की थी, वे सब वापिस लौटाने लगा।

इस कथा से प्रकट है कि जिनदास का केवल एक ही उप देश मान लेने से व्यापारी पूरा धर्मात्मा बन गया और उसी के प्रताप से राज्य के कोषाध्यक्ष का पद प्राप्त किया।

साराश यह है कि, सत्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और कल्याण कारक सिद्धान्त है। इसके पालन करने वाले को तो सदैव आन है ही, किन्तु जो व्यक्ति सत्य का पालन करने वाले व्यक्ति सम्पर्क में एक बार भी आ जाता है और उसकी एक भी शिक्ष ग्रहण कर लेता है, तो वह भी भविष्य में अपना कल्याण मा पा जाता है।

पहुँचा तो अचानक तूफान घिर आया। जहाज के डूब जाने की स्थिति आ पहुँची। मल्लाहों ने तन-तोड़ परिश्रम किया मगर जहाज की रक्षा करने में सफल नहीं हो सके। अन्त में वे भी हार गये। उन्होंने कह दिया—अब हमारा वश नहीं चलता। जहाज थोड़ी देर में डूब जायगा। जिसे बचने का जो उपाय करना हो करे।

ऐसे विकट प्रसंग पर कायर पुरुष को रोने के सिवाय और कुछ नहीं सूझता। कायर नहीं सोचता कि रोना व्यर्थ है। रोने से कोई लाभ न होगा। अगर बचाव का कोई रास्ता निकल सकता है तो सिर्फ उद्योग करने से ही।

मल्लाहो का उत्तर सुनकर साहूकार का लड़का पहले शौचादि से निवृत्त हुआ। उसने अपना पेट साफ किया। फिर उसने ऐसे पदार्थ खाये जो वजन मे हल्के किन्तु शक्ति अधिक समय तक देने वाले थे। इसके बाद उसने अपने सारे शरीर में तेल की मालिश की, जिससे समुद्र के पानी का चमड़ी पर असर न पड़े। फिर उसने शरीर से सटा हुआ चमड़े का वस्त्र पहना जिससे मच्छ-कच्छ हानि न पहुँचा सकें। इतना करने के बाद वह एक तख्ता लेकर समुद्र में कूद पड़ा। उस तख्ते के सहारे वह किनारे लगने के उद्देश्य से तैरने लगा।

साहूकार के लड़के ने सोचा—ऐसे समय में जहाज बड़ा नहीं, आत्मा बड़ा है। इसलिए जहाज को छोड़ देना ही ठीक है। जहाज छोड़ देने पर भी मृत्यु का भय तो है ही, लेकिन उद्योग करना आवश्यक है।

खतरनाक है। तू क्यों व्यर्थ कष्ट सहन करता है ? मगर लड़का बड़ा उद्योगशील था। उसने पिता को उत्तर दिया—पिताजी, आपका कथन सत्य है, किन्तु इस धन को उपार्जन करने में आपने भी तो कष्ट सहन किये होंगे ? फिर क्या मेरे लिए यह उचित होगा कि मैं स्वयं परिश्रम किये बिना ही इसका भोग करूँ ? अगर मैं इस धन को, बिना परिश्रम किये ही खाने लगा और गुलछर्रे उड़ाने लगा तो किसी दिन आप ही मुझे कपूत कहने लगेंगे। कदाचित् पितृप्रेम क कारण आप न कहेंगे तो भी दुनिया का मुँह कौन बन्द करेगा ? फिर इस धन का उपार्जन करके आपने जो ख्याति प्राप्त की है, वह ख्याति मैं कभी नहीं पा सकूँगा। बिना कमाये खाने से मैं मिट्टी के पुतले के समान बन जाऊँगा। जब मैं उद्योग कर सकता हूँ तो फिर बिना कमाये खाना पहनना मुझे उचित नहीं मालूम होता। अत आप कृपा करके आज्ञा दीजिए और आशीर्वाद दीजिए।

अपने पुत्र की कार्यनिष्ठा और साहस देखकर पिता को सन्तोष हुआ। उसने कहा—ठीक है। सुपुत्र का यही कर्त्तव्य है कि वह अपने पिता के यश और वैभव में वृद्धि करे। उद्योग शील होना मनुष्य का कर्त्तव्य है। तुम्हारी प्रबल इच्छा है तो मैं रोकना नहीं चाहता।

साहूकार के लड़के ने जहाज तैयार करवाया। समुद्र में जहाज किस प्रकार तूफान से घिर जाता है और उस समय किन किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, इसका विचार करके उसने सब आवश्यक वस्तुएँ जहाज में रख लीं और यात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया। चलते चलते जहाज बीच समुद्र में

की मौत मरना उचित नहीं। सफलता मिले या न मिले, मैं अपना उद्योग नहीं छोड़ूँगा।

कार्य मे जो सफलता की ही आशा रखता है, बल्कि सफलता की खातिरी करके ही जो कार्य करना चाहता है, वह कार्य नही कर सकता। वह भूल चूक से कार्य को आरम्भ कर देता है और जब सफलता नहीं पाता तो उसके पश्चात्ताप का पार नही रहता। वह निराशा के गहरे कूप में गिर पड़ता है। इसीलिए कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

अर्थात्—तुझे कार्य करने का अधिकार है, फल की लालसा करने का अधिकार नही है। तू निष्कामभाव से अपना कर्त्तव्य पाल। फल तुझे खोजता फिरेगा। तू फल की आशा की भारी गठरी सिर पर लाद कर चलेगा तो चार कदम भी नहीं चल सकेगा।

साहूकार का लड़का पटिया के सहारे हाथ-पैर मारता हुआ समुद्र मे बह रहा था। उस समय समुद्र का देव उसके उद्योग को देख कर सोचने लगा—इससे पूछना तो चाहिए कि जब मौत सामने मुँह फाड़े खड़ी है, तब यह समुद्र को पार करने की निष्फल चेष्टा क्यो कर रहा है? देव ने आकर पूछा—ओ ! निरर्थक श्रम करने वाला मूर्ख होता है। समुद्र को तैर पार करना सम्भव नही है और फिर तूफान के समय की बात ही क्या है। मृत्यु के समय अनावश्यक परिश्रम क्यो रहा है? अब हाथ-पैर हिलाना छोड़ दे और इच्छा हो तो न् का नाम जप।

मनुष्य के जीवन में कई बार ऐसे विकट सकटमय अवसर आ जाते हैं, जब उसकी बुद्धि थक जाती है। किसी प्रकार का निर्णय करना कठिन हो जाता है। एक ओर कुआ और दूसरी ओर खाई दिखाई देती है। ऐसे प्रसग पर अपनी बुद्धि को ठिकाने रखना ही बुद्धिमत्ता है। 'परिच्छेदो हि पाडित्यम्' अर्थात् जो दो मार्गों में से एक मार्ग अपने लिए चुन लेता है, क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है, यह निर्णय कर लेता है, वही वास्तव में पण्डित पुरुष है। जो विपत्ति के समय अपनी बुद्धि खो बैठेगा और कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का निर्णय न कर सकेगा, वह विपत्ति को और अधिक बढ़ा लेगा और बुरी तरह चक्कर में पड़ जायगा।

यह बात केवल लोकव्यवहार के लिए ही नहीं है, वरन् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी पुरुषार्थों के विषय में लागू होती है। 'सशयात्मा विनश्यति।' सदेह में पड़े रहना और निर्णय न करना अपना नाश करना है। निर्णय किये बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

साहूकार के लड़के के सामने इस समय दो बातें उपस्थित थीं। एक तो जहाज को बचाने की और दूसरी अपने आपको बचाने की। जब जहाज का बचना सभव न रहा तो उसने बिना किसी दुविधा के आत्मरक्षा करने का निर्णय कर लिया। उसने विचार किया—जब जहाज में रहने पर भी मैं मर जाऊँगा तो कायरों की तरह क्यों मरूँ? मरना ही होगा तो मर्दानगी के साथ मरूँगा। यद्यपि इस विशाल समुद्र से तैर कर पार होना अशक्य है, लेकिन प्राण छूटने तक हाथ पैर हिलाते हुए मरूँगा। कायर

की मौत मरना उचित नहीं। सफलता मिले या न मिले, मैं अपना उद्योग नहीं छोड़ूँगा।

कार्य मे जो सफलता की ही आशा रखता है, बल्कि सफलता की खातिरी करके ही जो कार्य करना चाहता है, वह कार्य नहीं कर सकता। वह भूल चूक से कार्य को आरम्भ कर देता है और जब सफलता नही पाता तो उसके पश्चात्ताप का पार नही रहता। वह निराशा के गहरे कूप मे गिर पड़ता है। इसीलिए कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

अर्थात्—तुझे कार्य करने का अधिकार है, फल की लालसा करने का अधिकार नही है। तू निष्कामभाव से अपना कर्त्तव्य पाल। फल तुझे खोजता फिरेगा। तू फल की आशा की भारी गठरी सिर पर लाद कर चलेगा तो चार कदम भी नहीं चल सकेगा।

साहूकार का लड़का पटिया के सहारे हाथ-पैर मारता हुआ समुद्र मे बह रहा था। उस समय समुद्र का देव उसके उद्योग को देख कर सोचने लगा—इससे पूछना तो चाहिए कि जब मौत सामने मुँह फाड़े खड़ी है, तब यह समुद्र को पार करने की निष्फल चेष्टा क्यो कर रहा है? देव ने आकर पूछा—ओ पुरुष! निरर्थक श्रम करने वाला मूर्ख होता है। समुद्र को तैर कर पार करना सम्भव नही है और फिर तूफान के समय की तो बात ही क्या है। मृत्यु के समय अनावश्यक परिश्रम क्यो कर रहा है? अब हाथ-पैर हिलाना छोड़ दे और इच्छा हो तो भगवान् का नाम जप।

महाजातक हाथ पैर हिला रहा था। देव की सलाह सुनकर भी वह निराश नहीं हुआ। उसने देव से पूछा—आप कौन हैं ? देव ने कहा—मैं समुद्र का देव हूँ।

महाजातक—आप देव होकर भी क्या हम मनुष्यों से गये बीते हैं ? आपका काम तो उद्योग करने के लिए उपदेश देने का है, लेकिन आप तो उद्योग छोड़कर डूब मरने का उपदेश देते हैं। आप अपना काम करिये और किसी का भला हो सकता हो तो वह कीजिये। मुझे भुलावे में मत डालिये। मैं अपने उद्योग में लगा हूँ। रही भगवान् का नाम जपने की बात। सो मौत से बचने के लिए भगवान् का नाम जपना मैं कायरता समझता हूँ। यों अपने कल्याण के लिए और मृत्यु से दुःख न पहुँचने देने के लिए मैं परमात्मा का स्मरण अवश्य करूँगा।

महाजातक ने देव से दूसरों का भला करने के लिए तो कहा, मगर अपने लिए सहायता न माँगी।

महाजातक का उत्तर प्रभावित करने वाला था। उसने सोचा—यह मनुष्य ऐसे विकट समय में भी उद्योगशील और मृत्यु की ओर से निर्भय है। इसके विचार कितने उच्च हैं।

देव ने फिर कहा—भाई, उद्योग करना तो अच्छा है, मगर उसके फल का भी तो विचार कर लेना चाहिए। फल की प्राप्ति की सम्भावना न हो तो उद्योग करना वृथा है।

महाजातक—मैं फल देख कर ही उद्योग कर रहा हूँ। उद्योग का पहला फल तो यही है कि मुझे जो शक्ति मिली है, उसका उपयोग कर रहा हूँ। दूसरा फल आपका मिलना है।

अगर मैं जहाज के साथ ही डूब मरता तो आपके दर्शन कैसे होते ? मैने साहस किया, उद्योग किया तो आप मिले। ऐसी दशा मे मेरा श्रम क्या वृथा है ?

महाजातक का उत्तर सुनकर देव बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—तुमने मुझसे बचा लेने की प्रार्थना क्यों नहीं की ?

महाजातक—मैं जानता हूँ कि देवता कभी प्रार्थना करवाने की गरज़ नहीं रखते। उद्योग मे लगे रहने से मेरा मन प्रसन्न है और यही देवता की प्रार्थना है। जिसका मन प्रसन्न और निर्विकार होगा उस पर देवता स्वयं प्रसन्न होगे। इसके अतिरिक्त मेरे प्रार्थना करने पर अगर आप मुझे बचाएंगे तो आपके कर्त्तव्य का गौरव कम हो जायगा। बिना प्रार्थना के आप मेरा उपकार करेंगे तो उस उपकार का मूल्य बढ़ जायगा। मै आपके कर्त्तव्य की महत्ता को कम नहीं करना चाहता और न यही चाहता हूँ कि आपके उपकार का मूल्य कम हो जाय।
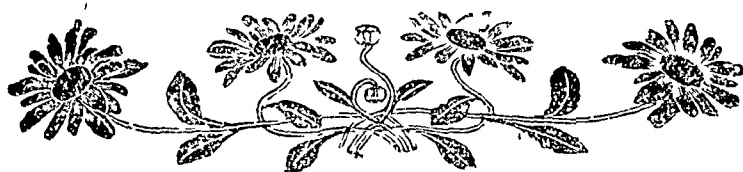
सच्चा मित्र

एक राजा का प्रधान था। राजा उसका खूब आदर-सत्कार करता था। प्रधान विवेकवान् था। उसने विचार किया—

> *राजा जोगी अगनि जल, इनकी उलटी रीति।*
> *बचते रहियो परसराम थोड़ी पाले प्रीति ॥*

अतएव सिर्फ राजा के प्रेम पर निर्भर रहकर किसी दूसरे को भी अपना मित्र बनाये रखना उचित है। मित्र होगा तो समय पर काम आयगा।

इस प्रकार विचार कर प्रधान ने एक नित्य मित्र बनाया। प्रधान अपने इस मित्र के साथ ही खाता, पीता और रहता था। वह समझता था कि नित्य मित्र भी मेरा आत्मा है। इस प्रकार प्रधान अपने मित्र को बड़े प्रेम से रखने लगा।

एक मित्र पर्याप्त नहीं है, यह विचार कर प्रधान ने दूसरा मित्र भी बनाया। यह मित्र पर्व मित्र था। किसी पर्व या

त्यौहार के दिन प्रधान उसे बुलाता, खिलाता-पिलाता और गपशप करता था। प्रधान ने एक तीसरा मित्र और बनाया जो सैन-जुहारी मित्र था। जब कभी अचानक मिल गया तो जुहार उससे कर लिया करता था। इस प्रकार प्रधान ने तीन मित्र बनाये।

समय ने पलटा खाया। राजा, प्रधान पर कुपित हो गया। कुछ चुगलखोरो ने राजा के कान भर दिये कि प्रधान ने अपना घर भर लिया है, राज्य को अमुक हानि पहुँचाई है, वह गया है, वह किया है, आदि आदि। राजा कान के कच्चे होते हैं। उसने एक दिन पुलिस को हुक्म दे दिया कि प्रधान के घर पहरा लगा दो और प्रातःकाल होते ही उसे दरबार में हाजिर करो।

प्रारम्भ में राज्य-व्यवस्था प्रजा की रक्षा के उद्देश्य से की गई थी। लोगो ने अपनी रक्षा के लोभ से राजा की शरण ली थी। मगर धीरे-धीरे राजा लोग स्वार्थी बन गये। पहले राजा और प्रजा के स्वार्थों में विरोध नहीं था। राजाओ का हित प्रजा का और प्रजा का हित राजा का हित था। मगर राजाओं की विलासिता और स्वार्थभावना ने प्रवेश किया। तब प्रजा के हित का घात करके भी राजा अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगे। तभी से राजा और प्रजा के बीच संघर्ष का सूत्रपात हुआ। आज वह संघर्ष अपनी चरम सीमा को पहुँच गया है और राजा के हाथों से शासन-सूत्र हट रहा है। राजतंत्र मरणासन्न हो रहा है और प्रजातंत्र का उदय हो रहा है।

चुगलखोरो ने झूठे-झूठे गवाह पेश करके सिद्ध कर दिया कि प्रधान दुष्ट है। राजा ने प्रधान को गिरफ्तार करने की आज्ञा

दे दी। इधर राजा ने आज्ञा दी और उधर प्रधान के किसी हितैषी ने प्रधान को राजाज्ञा सम्बन्धी सूचना देकर कहा—"गिरफ्तारी में देर नहीं है। इज्जत बचाना हो तो निकल भागो।"

प्रधान अपनी आबरू बचाने के उद्देश्य से घर से बाहर तो निकल पडा मगर सोच विचार में पड गया कि अब कहाँ जाऊँ? और किसकी शरण लूँ? अन्त में उसने सोचा—मेरे तीन मित्र हैं। तीन में से कोई तो शरण देगा ही। मगर मेरा पहला अधिकार नित्य मित्र पर है। पहले उसके पास ही जाना योग्य है।

प्रधान आधी रात और अन्धेरी रात में नित्य मित्र के घर पहुचा। किवाड खटखटाए। मित्र ने पूछा—कौन है?

प्रधान ने दबी आवाज में कहा—धीरे बोलो धीरे! मैं तुम्हारा मित्र हूँ।

मित्र—मैं कौन?

प्रधान—तुम तो मुझे स्वर से ही पहचान लेते थे। क्या इतनी जल्दी भूल गये? मैं तुम्हारा मित्र हूँ।

मित्र—नाम बताओ?

प्रधान—अरे! नाम भी भूल गये! मैं प्रधान हूँ।

मित्र ने किवाड़ खोलकर आधी रात के समय आने का कारण पूछा। प्रधान ने राजा के कोप की कथा कह कर कहा—यद्यपि मैं निरपराध हूँ, मगर इस समय मेरी कौन सुनेगा?

इसीलिए मै तुम्हारी शरण मे आया हूँ। आगे जो होगा, देखा जायगा।

मित्र—राजा के अपराधी को मेरे घर मे शरण ! मैं बाल-बच्चे वाला आदमी हूँ। आपको मेरे हानि लाभ का भी विचार करना चाहिए ! राजा को पता चल गया तो मेरी मट्टी पलीद होगी ! अगर आप मेरे मित्र हैं तो मेरे घर से आपको अभी-अभी चला जाना चाहिए।

प्रधान—मित्र, क्या मित्रता ऐसे ही वक्त के लिये नहीं होती ? इतने दिन साथ रहे, साथ खाया-पिया और मौज की ! आज संकट के समय धोखा दोगे ? क्या आज इसी उत्तर के लिए मित्रता बांधी थी ?

मित्र—आप मेरे मित्र है, इसी कारण तो राज को खबर नहीं दे रहा हूँ। अन्यथा फौरन गिरफ्तार न करवा देता ? लेकिन अगर आप जल्दी रवाना नहीं होते तो फिर लाचार होकर यही करना पड़ेगा।

प्रधान—निर्लज्ज ! मैने तुझे अपनी आत्मा की तरह स्नेह किया और तू इतना स्वार्थी निकला ! विपदा का समय चला जायगा, मगर तेरी करतूत सदा याद रहेगी।

बाहर रात्रि का घोर अन्धकर था और प्रधान के हृदय मे उससे भी घनतर निराशा का अन्धकार छाया था। उसे अपने पर्वमित्र की याद आई। मगर दूसरे ही क्षण खयाल आया—जब नित्यमित्र ने यह उत्तर दिया है तो पर्वमित्र से क्या आशा की जा सकती है? मगर चलकर देखना तो

दे दी। इधर राजा ने आज्ञा दी और उधर प्रधान के किसी हितैषी ने प्रधान को राजाज्ञा सम्बन्धी सूचना देकर कहा—"गिरफ्तारी म देर नहीं है। इज्जत बचाना हो तो निकल भागो।"

प्रधान अपनी आबरू बचाने के उद्देश्य से घर से बाहर तो निकल पडा मगर सोच विचार में पड गया कि अब कहाँ जाऊँ? और किसकी शरण लूँ? अन्त में उसने सोचा—मेरे तीन मित्र हैं। तीन म से कोई तो शरण देगा ही। मगर मेरा पहला अधिकार नित्य मित्र पर है। पहले उसक पास ही जाना योग्य है।

प्रधान आधी रात और अन्धेरी रात म नित्य मित्र क घर पहुचा। किवाड खटखटाए। मित्र ने पूछा—कौन है?

प्रधान न दबी आवाज में कहा—धीरे बोलो धीरे! मैं तुम्हारा मित्र हूँ।

मित्र—मैं कौन?

प्रधान—तुम तो मुझे स्वर से ही पहचान लेते थे। क्या इतनी जल्दी भूल गये? मैं तुम्हारा मित्र हूँ।

मित्र—नाम बताओ?

प्रधान—अरे! नाम भी भूल गये! मैं प्रधान हूँ।

मित्र न किवाड खोलकर आधी रात के समय आने का कारण पूछा। प्रधान न राजा क कोप की कथा कह कर कहा—यद्यपि मैं निरपराध हूँ, मगर इस समय मेरी कौन सुनेगा?

होता और मै सहायता न देता तो आपका मित्र ही कैसा ? आप ऊपर चलिये और निश्चिन्त होकर रहिये। यह घर आपका ही है।

प्रधान की प्रसन्नता का पार न रहा। मन ही मन कहा—इसे कहते हैं मित्रता! समय पर ही मित्रता की पहिचान होती है।

प्रधान अपने मित्र के साथ भीतर गया। मित्र ने उसका सत्कार करके कहा—अगर आपकी कोई आवश्यकता हो तो बिना संकोच कह दीजिए। प्रधान के मना करने पर उसने कहा—मनुष्य मात्र भूल का पात्र है। अगर कोई भूल हो गई हो तो मुझसे छिपाइए नहीं सच-सच कह दीजिए। रोग का ठीक तरह से पता लगने पर ही सही इलाज हो सकता है।

प्रधान सोचने लगा—अपनी बात ऐसे मित्र से नही कहूँगा तो किससे कहूँगा ? और प्रधान ने उसके सामने अपना दिल खोल कर रख दिया। मित्र ने उसे आश्वासन दिया।

प्रातःकाल प्रधान के घर की तलाशी ली गई। तभी पता चला कि प्रधान अपराधी न होता तो भागता ही क्यों ? भागना ही उसके अपराधी होने का सबसे बड़ा सबूत है। राजा के दिल मे बात ठस गई। उसने कहा—ठीक है। पर भागकर जायगा कहाँ ? जहाँ भी होगा पकड़वा कर मँगवा लिया जायगा।

प्रधान का आश्रयदाता मित्र प्रातःकाल ही राजा के दरबार मे जा पहुँचा था। वह चुपचाप सारी बातें सुनता रहा। सारे शहर में हलचल मची थी।

चाहिए। इस प्रकार विचार कर वह पर्वमित्र के घर पहुँचा। सारी घटना सुनने के बाद मित्र ने हाथ जोड़कर कहा—मेरी इतनी शक्ति नहीं कि राजा के विरोधी को शरण दे सकूँ। आप भूखे हों तो भोजन कर लीजिए। वस्त्र या धन की आवश्यकता हो तो मैं दे सकता हूँ। मगर आपको स्थान देने में असमर्थ हूँ।

प्रधान—मैं नंगा या भिखारी नहीं हूँ। मेरे घर धन की कमी नहीं है। मैं तो इस संकट के समय शरण चाहता हूँ। जो संकट के समय सहायता न करे वह मित्र कैसा?

> जे न मित्र-दुख होहिं दुखारी ।
> तिनहिं विलोकत पातक भारी ॥

जो अपने मित्र के दुःख से दुखित नहीं होते, उन्हें देखने में भी पाप लगता है।

मित्र—मैं यह नीति जानता हूँ, मगर राजविरोधी को अपने यहाँ आश्रय देने की शक्ति मुझमें नहीं है।

प्रधान ने सोचा—हठ करना वृथा है। नित्य मित्र जहाँ गिरफ्तार कराने को तयार था वहाँ यह नम्रतापूर्वक तो उत्तर दे रहा है। यह विपत्ति मित्रों की कसौटी है।

निराश होकर प्रधान सेनजुहारी मित्र की ओर रवाना हुआ। उसने सोचा—इस मित्र पर अपना कोई अधिकार तो है नहीं, मगर कसौटी करने में क्या हर्ज है? यह सोचकर वह अपने तीसरे मित्र के घर पहुँचा। राजा के कोप की कहानी सुनाकर आश्रय देने की प्रार्थना की। मित्र ने दृढ़ता के साथ कहा—खैर, यह तो राजा का ही कोप है, अगर इन्द्र का कोप

उत्तर न मिलने पर यही कैद कर लेते तो क्या हानि थी? मगर आपने उस खानदानी प्रधान के पीछे पुलिस लगा दी। यह कहाँ तक उचित है, आप सोचें।

सेठ की बात राजा को ठीक मालूम हुई। उसने कहा—सेठ, तुम राज्य के हितचिन्तक हो। इसी कारण तुम्हें राजा और प्रजा के बीच का पुरुष नियत किया है और सेठ की उपाधि दी गई है। मगर प्रधान न मालूम कहाँ चला गया है! वह होता तो मै उससे सब बात पूछता।

सेठ—प्रधानजी मेरे आत्मीय मित्र है। मुझे उनकी सब बातों का पता है। उनके अभियोगो के विषय मे मुझसे पूछें तो सम्भव है, मै समाधान कर सकूँ।

राजा—प्रधान तुम्हारे मित्र हैं?

सेठ—मैने न तो कभी छदाम दी है, न ली है। आपके प्रधान होने के नाते और मनुष्यता के नाते उनसे मेरी मित्रता है। मित्रता भी ऐसी है कि उन्होंने मुझसे कोई बात नही छिपाई।

राजा—अच्छा देखो, प्रधान ने इतना हजम कर लिया है।

सेठ—ऐसा कहने वालों ने गलती की है। फलां बही मँगवा कर देखिए तो समाधान हो जायगा।

बही मँगवा कर देखी गई। राजा ने पाया कि वास्तव मे अभियोग निराधार है। इसी प्रकार और दो-चार बातो की जाँच की गई। सब ठीक पाया गया। सेठजी बीच-बीच मे कह देते थे—हाँ, इतनी भूल प्रधानजी से अवश्य हुई है और वे इसके लिए मेरे सामने पश्चात्ताप भी करते थे। आपसे भी कहना चाहते थे मगर शायद लिहाज के कारण नही कह सके।

सब बातें सुन चुकने के बाद मौका देखकर प्रधान के मित्र ने मुजरा किया। राजा ने कहा—सेठ, तुम कभी आते नहीं। आज आने का क्या कारण है ?

सेठ—पृथ्वीनाथ कुछ अर्ज करना चाहता हूँ।

राजा—कहो।

सेठ—एकान्त में निवेदन करूँगा।

राजा और सेठ एकान्त में चले गये। वहाँ राजा के पूछने पर सेठ ने कहा—महाराज, प्रधानजी ने क्या अपराध किया है ? क्या मैं जान सकता हूँ ?

राजा ने कई एक अपराध गिना दिये, जिनके विषय में कोई प्रमाण नहीं था।

सेठ—आपके कथन को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? मगर प्रधान के बिना तो काम चलेगा नहीं। आपने इस विषय में क्या सोचा है ?

राजा—दूसरा प्रधान बुलाएँगे।

सेठ—कदाचित् वह भी ऐसा ही निकला तो क्या होगा ?

राजा—उसकी परीक्षा कर लेंगे।

सेठ—नये प्रधान की जिस प्रकार जाँच करेंगे, उसी प्रकार अगर पुराने प्रधान की ही जाँच की जाय तो क्या ठीक न होगा ? वह नया आएगा तो पहले अपना घर बनायगा। उपद्रव मचा देगा। शायद आपको फिर पश्चात्ताप करना पड़े। पुराने प्रधान से अभियोगों के विषय में आप स्वयं पूछते और सन्तोषजनक

प्रधान—क्या गिरफ्तार कराओगे ?

सेठ—क्या मै पापी हूँ ? महाराज द्वार पर आ पहुँचे है और आदर के साथ आपको ले जाएँगे ।

सेठ के साथ बाहर आकर प्रधान ने राजा को मुजरा किया। राज ने हाथी पर बैठने का हुक्म दिया। प्रधान शर्मिन्दा हुआ। तब राजा ने कहा—जो होना था, हो चुका। शर्माने की कोई बात नही है। मूर्खों की बातो मे आकर मैने तुम्हारा अपमान किया है। मगर अब किसी प्रकार की शंका मत रक्खो।

दरबार मे पहुँच कर प्रधान ने निवेदन किया—मेरे विरुद्ध जो भी आरोप हैं, उनकी कृपा कर जाँच कर लीजिये। इससे मेरी निर्दोषिता सिद्ध होगी और चुगलखोरो का मुँह आप ही काला हो जायगा।

जम्बूकुमार अपनी पत्नियो से कह रहे हैं—कहो, मित्र कैसा होना चाहिए ? उनकी पत्नियो ने कहा--पहला मित्र तो मुँह देखने योग्य भी नही है। दूसरे ने हृदय को नहीं पहचाना और अनावश्यक वस्तुएँ पेश की। तीसरे मित्र ने हृदय को पहचाना और उसी के अनुसार उपाय किया। इसलिए मित्र हो तो तीसरे मित्र के समान ही होना चाहिए।

जम्बूकुमार कहने लगे--प्रधान के समान मेरे भी तीन मित्र है। नित्य मित्र यह शरीर है। इसे प्रतिदिन नहलाता धुलाता हूँ, खिलाता-पिलाता हूँ और सजाता हूँ। परन्तु कष्ट का प्रसग आने पर, जरा या रोग के आने पर सब से पहले शरीर ही धोखा देता है। इतना सत्कार सन्मान करने पर भी

राजा—प्रधान ने पश्चात्ताप भी किया था ? मगर इतने बडे काम मे भूल हो जाना सभव है। वास्तव में मैंने प्रधान के साथ अनुचित व्यवहार किया है किन्तु अब तो उसका मिलना कठिन है ? कौन जाने कहाँ चला गया होगा ?

सेठ—अगर आप उनके सम्मान का वचन दें तो मैं ला सकता हूँ।

राजा—क्या प्रधान तुम्हारी जानकारी मे है ?

सेठ—जी हाँ। मगर बिना अपराध सिर कटाने के लिए मैं उन्हें नहीं ला सकता। आप न्याय करने का वचन दें तो हाजिर कर सकता हूँ।

राजा—मैं वचन देता हूँ कि प्रधान के गौरव की रक्षा की जायगी। यही नहीं वरन चुगलखोरों का मुँह काला किया जायगा।

सेठ—महाराज, अपराध क्षमा करें। प्रधानजी मेरे घर पर हैं।

राजा—सारे नगर में उनकी बदनामी हो गई है। उसका परिमार्जन करने के लिए उनका सत्कार करना चाहिए। मैं स्वयं उन्हें लिवाने चलूँगा और आदर के साथ हाथी पर बिठाकर ले आऊँगा। जिसने अपमान किया है, वही मान करे तो अपमान मिट जाता है।

हाथी सजा कर राजा, सेठ के घर की तरफ रवाना हुआ। सेठ ने जाकर प्रधान से कहा—प्रधानजी, आपको दरबार में पधारना होगा।

प्रधान—क्या गिरफ्तार कराओगे ?

सेठ—क्या मै पापी हूँ ? महाराज द्वार पर आ पहुँचे है और आदर के साथ आपको ले जाएँगे।

सेठ के साथ बाहर आकर प्रधान ने राजा को मुजरा किया। राज ने हाथी पर बैठने का हुक्म दिया। प्रधान शर्मिन्दा हुआ। तब राजा ने कहा—जो होना था, हो चुका। शर्माने की कोई बात नही है। मूर्खों की बातो मे आकर मैने तुम्हारा अपमान किया है। मगर अब किसी प्रकार की शंका मत रक्खो।

दरबार मे पहुँच कर प्रधान ने निवेदन किया—मेरे विरुद्ध जो भी आरोप है, उनकी कृपा कर जाँच कर लीजिये। इससे मेरी निर्दोषिता सिद्ध होगी और चुगलखोरो का मुँह आप ही काला हो जायगा।

जम्बूकुमार अपनी पत्नियो से कह रहे हैं—कहो, मित्र कैसा होना चाहिए ? उनकी पत्नियो ने कहा--पहला मित्र तो मुँह देखने योग्य भी नही है। दूसरे ने हृदय को नहीं पहचाना और अनावश्यक वस्तुएँ पेश की। तीसरे मित्र ने हृदय को पहचाना और उसी के अनुसार उपाय किया। इसलिए मित्र हो तो तीसरे मित्र के समान ही होना चाहिए।

जम्बूकुमार कहने लगे--प्रधान के समान मेरे भी तीन मित्र है। नित्य मित्र यह शरीर है। इसे प्रतिदिन नहलाता धुलाता हूँ, खिलाता-पिलाता हूँ और सजाता हूँ। परन्तु कष्ट का प्रसग आने पर, जरा या रोग के आने पर सब से पहले शरीर ही धोखा देता है। इतना सत्कार सन्मान करने पर भी

यह शरीर आत्मा के बन्धन नहीं तोड़ सका। अतएव आत्मा से शरीर को भिन्न और अन्त में साथ न देने वाला समझकर उस पर ममता रखना उचित नहीं है।

माता, पिता, पत्नी आदि कुटुम्बी जन पर्व मित्र के समान हैं। पत्नी, पति पर प्रीति रखती है किन्तु जब कर्म रूपी राजा का प्रकोप होता है तब यह अपने पति को छुडा नहीं सकती।

जा दिन चेतन से कर्म शत्रुता करे।
ता दिन कुटुम्ब से कोउ गज न सरे॥

जिस दिन कर्म चेतन के साथ शत्रुता का व्यवहार करता है, उस दिन कुटुम्बी जन क्या कर सकते हैं? वह व्याकुल भले ही हो जाएँ और सहानुभूति भले प्रकट करें किन्तु कष्ट से छुडाने म समथ नहीं होते।

जम्बूकुमार अपनी पत्नी से कहते हैं—मेरे तीसरे मित्र सुधर्मा स्वामी हैं। उन्होंने आत्मा और कर्म की भिन्न भिन्न व्याख्या करके उसी प्रकार समझाया है, जैसे सेठ ने राजा को समझाया था। इस तीसरे मित्र की बदौलत ही आत्मा दुख से मुक्त होता है और अपने परम पद पर प्रतिष्ठित होता है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुक्खाण य सुहाण य।

हे आत्मा! अगर तू चाहे तो दुख क्षण भर भी नहीं ठहर सकता। मगर तू धन की कुञ्जी भी अपने हाथ में रखना चाहता है और स्वर्ग की कुञ्जी भी अपने हाथ में रखना चाहता है। यह दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं।

वस्तुतः सच्चा मित्र वही है जो उपकार करता है, संकट से बचाता है और जो सन्मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करता है। मित्र का यह स्वरूप आध्यात्मिक दृष्टि से ही समझने योग्य नहीं है किन्तु व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि से भी समझने योग्य है। आचारांगसूत्र मे कहा है—

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि।

अर्थात्—हे पुरुष! तू अपना मित्र आप ही है। दूसरे मित्र की अभिलाषा क्यों करता है ?

२९

यज्ञ

किसी जमाने में नरमेध भी किया जाता था और पशुमेध तो साधारण बात हो गइ थी। नरमेध मे मनुष्य की और पशु मेध मे पशुओं की बलि दी जाती थी। नरमेध का बात जाने दीजिए। वह तो घृणित है हो, पर पशुमेध भी कम घृणित नहीं है। निर्दयता के साथ पशुओं को आग मे झोंक देना शाति प्राप्त करने का कैसा ढांग हे, यह बात एक आख्यान द्वारा समझना ठीक होगा।

एक राजा पशु का यज्ञ करने लगा। राजा का मन्त्री न्यायशील, दयालु और पक्षपातरहित था। उसने विचार किया—शान्ति के नाम पर बध करना कौन सी शाति है ? क्या दूसरों को घोर अशाति पहुँचाना ही शाति प्राप्त करना है ? अपनी शाति की आशा से दूसरों के प्राण लना जघन्यतम स्वार्थ है। क्या इसी निकृष्ट स्वार्थ में शान्ति विराजमान रहती है ? शान्ति देवी की सौम्य मूर्ति इस विकराल और अधम कृत्य में नहीं रह सकती।

उसने यज्ञ कराने वाले पुरोहित से पूछा—आप इन मूक पशुओं को अशान्ति पहुँचाकर शान्ति किस प्रकार चाहते है ?

पुरोहित ने कहा—इन बकरो का परमात्मा के नाम पर बलिदान किया जायगा। इस बलिदान के प्रताप से सबको शान्ति मिलेगी।

मन्त्री—ईश्वर अगर सबका स्वामी है तो इन बकरो का भी स्वामी है या नही ? और जैसे सब लोग शान्ति चाहते हैं उसी प्रकार ये शान्ति चाहते हैं या नही ? अगर यह भी शान्ति चाहते हैं तो इन्हे क्यो मारा जा रहा है ?

पुरोहित, मन्त्री के प्रश्न का समुचित उत्तर नहीं दे सका। अतएव उसने क्रोध मे आकर कर्कश स्वर मे कहा—आप नास्तिक मालूम होते है। यहाँ से दूर चले जाइए, अन्यथा यज्ञ अपवित्र हो जायगा।

मन्त्री—मै नास्तिक नही, आस्तिक हूँ। परन्तु यह जानना चाहता हूँ कि जिन जीवो के लिए तुम शान्ति चाह रहे हो, उनमे यह बकरे भी हैं या नही ?

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउ न मरिज्जिउ।

अर्थात्—सभी जीव जीवित रहना पसन्द करते हैं। मरना कोई नहीं चाहता।

जब सभी जीव जीना चाहते है और मरना नहीं चाहते तो इन्हे अशाति पहुँचा कर, मारकर, शान्ति चाहना कहाँ का न्याय है ? तुम भी शांति चाहते हो, यह बकरे भी शान्ति चाहते हैं, फिर इन्हें क्यो मारते हो ?

यज्ञ

किसी जमाने में नरमेध भी किया जाता था और पशुमेध तो साधारण बात हो गई थी। नरमेध में मनुष्य की और पशुमेध में पशुओं की बलि दी जाती थी। नरमेध का बात जाने दीजिए। वह तो घृणित है ही, पर पशुमेध भी कम घृणित नहीं है। निर्दयता के साथ पशुओं को आग में झोंक देना शांति प्राप्त करने का कैसा ढोंग है, यह बात एक आख्यान द्वारा समझना ठीक होगा।

एक राजा पशु का यज्ञ करने लगा। राजा का मन्त्री न्यायशील, दयालु और पक्षपातरहित था। उसने विचार किया-शांति के नाम पर बध करना कौन सी शांति है? क्या दूसरों को घोर अशांति पहुँचाना ही शांति प्राप्त करना है? अपनी शांति की आशा से दूसरों के प्राण लेना जघन्यतम स्वार्थ है। क्या इसी निकृष्ट स्वार्थ में शान्ति विराजमान रहती है? शान्ति देवी की सौम्य मूर्ति इस विकराल और अधम कृत्य में नहीं रह सकती।

प्र० पुरोहित--क्यों ?

मन्त्री--इनकी आत्मा नहीं चाहती।

प्र० पुरोहित--आप शास्त्र की बात नहीं समझते। हम लोग इन पशुओं की कुछ भी हानि नहीं कर रहे हैं। हम तो इन्हें सीधे स्वर्ग भेज रहे हैं। स्वर्ग मे पहुँच कर इन्हें दिव्य सुख प्राप्त होगा। न आप यह बात जानते हैं और न बकरे ही जानते है। हम ज्ञानी हैं। हमने शास्त्र पढे हैं। अतएव इन बकरों की भलाई मे बाधा मत डालिए।

मन्त्री--आपका ज्ञान तो आपके कामो से और आपकी बातो से प्रकट ही है। परन्तु जब यह पशु स्वर्ग चाहते हों, तब तो इन्हे स्वर्ग भेजना उचित भी कह सकते थे। मगर यह स्वर्ग नही चाहते। जबर्दस्ती करके क्यों भेज रहे हो ?

आखिर बकरे बचा लिये गये। पुरोहित घबराया। उसकी दुकानदारी जो उठ रही थी ! फिर उन्हे पूछता ही कौन ! वे भी राजा के पास पहुँचे। कहने लगे--अन्नदाता ! शांति के लिए यज्ञ प्रारम्भ किया गया था। परन्तु यज्ञ मे बलि दिये जाने वाले बकरों को मन्त्री ने छुड़ा लिया और यज्ञ रोक दिया।

राजा असमंजस मे पड़ गया। सोचने लगा--मामला क्या है ! आखिर उसने मत्री को बुलवाया। बकरे छुड़वाने के विषय में प्रश्न करने पर मत्री ने उत्तर दिया--महाराज ! मैंने आपकी आज्ञा से पशुओं को मरने मे बचाया है।

राजा--मैंने यह आज्ञा कब दी है ?

मंत्री--आपने आज्ञा दी थी कि जबर्दस्ती साधु न बनाया जाय।

पुरोहित के पास इस सरल प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था। वह ऊटपटांग बात करके मन्त्री को टालने का उपाय करने लगा।

मन्त्री ने विचार किया कि यह यज्ञ राजा की आज्ञा से हो रहा है। पुरोहित लोग यों कहने से नहीं मानेंगे। अतएव उसने प्रधान पुरोहित से कहा—मैं लौटकर आता हूँ तब तक इन पशुओं को मारने का काम बन्द रक्खा जाय। यह मेरी अधिकृत आज्ञा है ?

मन्त्री सीधा राजा के पास पहुँचा। उसने राजा से कहा—महाराज ! नगर में बड़ा अत्याचार हो रहा है।

राजा—तो आप किस काम के लिए हैं ? अत्याचार को रोकते क्यों नहीं ?

मन्त्री—अत्याचार करने वाले तो स्वयं राजगुरु हैं। उनके सम्बन्ध में जब तक आप विशेष आज्ञा न दें, मैं क्या कर सकता हूँ ?

राजा—राजगुरु क्या अत्याचार कर रहे हैं ?

मन्त्री—लोगों के बच्चों को जबदस्ती मूँडकर साधु बना रहे हैं। सब बच्चे और उनके माँ बाप रो रहे हैं। आप जैसी आज्ञा दें वैसा ही किया जाय।

राजा को राजगुरु की जबर्दस्ती अच्छी नहीं लगी। उसने मन्त्री से कहा—इस अत्याचार को जल्दी रोको। न मानें तो कानून के अनुसार उचित कार्रवाई करो।

राजा की आज्ञा प्राप्त कर मन्त्री फिर यज्ञस्थल पर आया। उसने यज्ञ करने वाले पुरोहितों से कहा—इन पशुओं को छोड़ दो। इनका हवन नहीं किया जायगा।

पशुओं की यह प्रार्थना है। वे दीन से दीन स्वर मे यज्ञ करने वाले से कहते हैं—क्या तुम ईश्वर के भक्त हो? जिस वेद के नाम पर तुम हमे होमते हो उसमे कहे हुए अहिंसा धर्म को छिपा कर हमे होमने मे तुम्हारी कौन-सी बड़ाई है? मैं स्वर्ग का सुख नहीं चाहता। मै तो घास खाकर जीवित रहना चाहता हूं। हे याज्ञिक! अगर तू सच्चे दिल से समझता है कि यज्ञ मे होमा हुआ जीवधारी स्वर्ग मे जाता है तो अपने कुटुम्ब को ही स्वर्ग भेजने के लिए क्यो नहीं होम देता? हम मूक पशुओ से क्यो रूठा है।

एक आदमी अपने हाथ मे हरी-हरी घास लेकर खड़ा हो और दूसरा स्वर्ग मे भेजने के लिए तलवार लिए खड़ा हो तो इन दोनो में से पशु किसे पसन्द करेगा? वह किसकी ओर मुँह लपकाएगा?

'घास वाले की ओर!'

इससे प्रकट है कि पशु स्वर्ग जाने के लिए मरना नहीं चाहता और घास खाकर जीवित रहना चाहता है। मंत्री कहता है—अगर यज्ञ करने वाले कहते हैं कि पशुओं को अज्ञान है और हम ज्ञानी हैं, इसी लिए उन्हे स्वर्ग भेजते हैं, तो इसके उत्तर मे पशुओ का कहना है कि हमे तो इस बात पर विश्वास है नहीं, अगर इन्हे विश्वास है तो ये लोग अपने कुटुम्ब को स्वर्ग भेजे। अगर इन्होंने अपने बेटे को इस प्रकार मार कर स्वर्ग भेजा होता तो हमे विश्वास हो जाता कि ये दिल से ऐसा मानते हैं। मगर जब यज्ञ करने वाले अपने माता, पिता और पुत्र आदि को स्वर्गसुख से वंचित रखकर हमे

राजा—वह तो साधु बनाने के विषय में थी। बकरों के विषय म तो कोई आज्ञा नहीं दी गई।

मत्री—जैसे दूसरे लोग कहते हैं कि हम साधु बनाकर स्वर्ग भेजते हैं, उसी प्रकार इनका कहना है कि हम बकरों को मार कर स्वर्ग भेजते हैं। जब जबर्दस्ती साधु नहीं बनाने दिया जाता तो फिर जबर्दस्ती बकरों को कैसे स्वर्ग भेजा जा सकता है।

राजा विवेकवान् था। उसने मत्री की बात पर विचार किया। विचार करने पर उसे जँचा कि मत्री की बात सही है।

राजा ने फिर पुरोहित को बुलावाया। पुरोहितों के आने पर राजा ने पूछा—इन पशुओं को मारने का उद्देश्य क्या है? उन्हे अमर क्यो न रक्खा जाय? उन्हें अमर रखने से क्या ईश्वर प्रसन्न नहीं होगा?

प्रधान पुरोहित ने कहा—महाराज, आप भी भ्रम में पड़ गये हैं। हम पशुओं को मारते नहीं, स्वर्ग भेजते हैं।

मत्री ने कहा—महाराज, मैं पशुओं की ओर से कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। उन पशुओं ने बड़ा ही दीनता के साथ प्रार्थना की है। वह प्रार्थना यह है—

कहे पशु दीन सुन यज्ञ के करैया मोहि
होमत हुतासन में कौन-सी बड़ाई है।
स्वर्गसुख मैं न चहूं देहु मुझे यों न कहूं,
घास खाय रहूं मेरे दिल यही भाई है।
जो तू यह जानत है वेद यों बखानत है
जज्ञ-जरो जीव पावै स्वर्ग-सुखदाई है।
डारो क्यों न वीर! या में अपने कुटुम्ब ही को,
मोहि जिन जारे जगदीश की दुहाई है॥

श्रद्धा

एक विद्याधर ने किसी मनुष्य को आकाशगामिनी विद्या सिखाई। उसने विद्या की परीक्षा तो कर ली मगर ऐसा अवसर उसे हाथ न लगा कि वह उससे विशेष काम लेता। अन्त मे मरते समय उसने अपने लड़के को वह विद्या सिखलाई और कहा--बेटा, यह विद्या मै सिद्ध कर चुका हूँ। इसमे सन्देह मत करना। पिता का देहान्त हो गया।

जब कुछ समय बीत गया तो लड़के ने सिद्ध की हुई विद्या की परीक्षा करने का विचार किया। वह पिता के कथनानुसार सब सामग्री लेकर जगल मे गया। वहाँ बड़ के पेड़ के नीचे एक भट्टी खोदी। उस पर तेल की कढ़ाई जमाई और चौरासी तारो का एक छीका बनाकर सूत के धागे मे बाँधकर पेड़ की डालियो पर लटका दिया।

भट्टी मे आग जलाकर, जब तेल खौलने लगे तब मंत्र को पढ़ते-पढ़ते छीके मे बैठना था। और एक-एक बार मंत्र बोलकर

स्वर्ग भेजने की बात कहते हैं तो हम इनकी बात पर विश्वास नहीं होता। इसलिए हमें मारने वाले को परमात्मा की दुहाई है।

मन्त्री कहता है—उन पशुओं की तरफ से यह फरियाद है और वे इसका उत्तर मांगते हैं।

राजा ने यज्ञ करने वाले पुरोहितों से पूछा—क्या आप लोग अपने परिवार को यज्ञ में होम सकते हैं?

पुरोहित—शास्त्र में पशुओं को होमने का विधान है, कुटुम्ब को होमने का कहीं विधान नहीं है।

राजा—तब तो कहना पड़ेगा कि आपका शास्त्र भी पक्षपात से भरा है। बस अब रहने दीजिये। क्षमा कीजिये, मैं ऐसी शान्ति नहीं चाहता। मेरा उद्देश्य किसी को अशांति पहुँचाकर शान्ति प्राप्त करना नहीं है। मेरा कर्त्तव्य मुझे सब को शान्ति पहुँचाने के लिए प्रेरित करता है।

मतलब यह है कि किसी भी जीव का हवन करने से शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। किसी भी प्राणी को दुःख न पहुचाने से ही वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकती है।
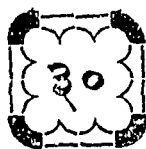
श्रद्धा

एक विद्याधर ने किसी मनुष्य को आकाशगामिनी विद्या सिखाई। उसने विद्या की परीक्षा तो कर ली मगर ऐसा अवसर उसे हाथ न लगा कि वह उससे विशेष काम लेता। अन्त मे मरते समय उसने अपने लड़के को वह विद्या सिखलाई और कहा---बेटा, यह विद्या मै सिद्ध कर चुका हूँ। इसमे सन्देह मत करना। पिता का देहान्त हो गया।

जब कुछ समय बीत गया तो लड़के ने सिद्ध की हुई विद्या की परीक्षा करने का विचार किया। वह पिता के कथनानुसार सब सामग्री लेकर जगल मे गया। वहाँ बड़ के पेड़ के नीचे एक भट्टी खोदी। उस पर तेल की कढ़ाई जमाई और चौरासी तारो का एक छीका बनाकर सूत के धागे मे बाँधकर पेड़ की डालियो पर लटका दिया।

भट्टी मे आग जलाकर, जब तेल खौलने लगे तब मंत्र को पढ़ते-पढ़ते छीके मे बैठना था। और एक-एक वार मंत्र बोलकर

एक एक तार काटते जाना था। यद्यपि यह विद्या उसके पिता की आजमाई हुई थी और किसी प्रकार के सशय का कोई कारण न था, फिर भी लडका बहुत डरा। वह सोचने लगा—मैं छीके पर चढ़ूँ और छीका टूटकर गिर जाय तो मैं सीधा कढाई में जा रहूँगा—जल मरूँगा।

इधर लडका इस पशोपेश में पड़ा था, उधर नगर में, राज महल में चोरी हुई। बहुत सा जवाहरात, आदि चोरी चला गया। सिपाही चोर के पीछे पडे। ढूँढते ढूँढते आखिर चोर दिखाई दिया। अब चोर आगे आगे भागता जाता था और सिपाही उसका पीछा कर रहे थे। चोर जगल में पहुँचा। उसे वह लडका दिखाई दिया। सिपाही जगल को चारों ओर से घेर कर खडे हो गये।

चोर ने लड़के से पूछा—भाई क्या कर रहे हो? लड़के ने उत्तर दिया—मुझे धन चाहिए। धन प्राप्त करने क लिए अपने पिताजी द्वारा सिद्ध की हुई विद्या से आकाश उड़कर धन लेने जाऊँगा। पर भय लगता है—कहीं कढाइ में न गिर पड़ूँ?

चोर ने कहा—तुम्हें धन चाहिए तो लो, मेरे पास बहुत सा धन है। मुझे अपना मन्त्र सिखा दो।

लडका धन लेकर फूला न समाया। उसने चोर को मन्त्र सिखा दिया। चोर बेखटके छीके में जा बैठा। वह एक बार मन्त्र बोलता और एक तार काट देता। जब सभी तार कट गये तो मरे-से आकाश मे उड़ गया। लडके ने सोचा—पिताजी का बताया मन्त्र सच्चा था। मगर मुझे धन की आवश्यकता थी और वह मिल गया। तब जान जोखिम में डालने की क्या आवश्यकता है?

अरुणोदय हुआ। पूर्व दिशा में लाली छा गई। कुछ-कुछ प्रकाश फैलने लगा। सिपाही झाड़ी में दाखिल हुए। उन्होंने चोरी के माल के साथ लड़के को पकड़ लिया।

लड़का हैरान था। कुछ उसकी समझ में नहीं आ रहा था। उसने कहा—मुझे आप क्यों पकड़ते हैं? मैंने अपराध क्या किया है?

सिपाही—चोरी का माल पास में रख छोड़ा है और पूछता है—क्यों पकड़ते हो?

लड़का—चोरी का माल? यह चोरी का है? मुझे एक आदमी ने दिया है और वह आकाश में उड़ गया है।

सिपाही—चल, रहने भी दे। अब भी हमें उल्लू बनाना चाहता है! आदमी कहीं आकाश में उड़ते होंगे! चालाक कहीं का!

लड़के के होश उड़ गये। वह पश्चात्ताप करने लगा कि अगर मैंने पिताजी के वचनों पर विश्वास किया होता तो यह दिन नहीं देखना पड़ता।

दृष्टि-भेद

किसी गाँव मे एक हाथी आया। उसे देखने के लिए गाँव के लोग जमा हो गए। उस गाँव मे कुछ अन्धे भी रहते थे। वे भी हाथी देखने चले। रास्ते में किसी ने उनसे कहा—तुम्हारे आँखें नहीं हैं, हाथी कैसे देख सकोगे? अन्धो ने कहा—हम हाथ फेरकर हाथी देख लेगे।

अन्धे हाथी के पास पहुँचे और हाथ फेरकर उसे देखने लगे। एक अन्धे के हाथ मे हाथी का दाँत आया। वह कहने लगा—मै समझ गया, हाथी कैसा होता है। हाथी मूसल जैसा होता है।

दूसरे अन्धे के हाथ मे हाथी की सूंड आई। वह पहले अन्धे से कहने लगा—तेरा कहना गलत है। हाथी मूसल जैसा नहीं, कोट की बाड़ सरीखा होता है।

तीसरे अन्धे के हाथ मे हाथी का पैर आया। उसने कहा—तुम दोनों झूठे हो। हाथी खम्भा सरीखा है।

चौथे के हाथ हाथी का पेट लगा। वह बोला—तुम तीनों झूठ कहते हो। हाथी तो कोठी सरीखा होता है।

पांचवें अन्धे के हाथ मे हाथी के कान आये। वह बोला—तुम सभी झूठे हो। हाथी तो सूप (छाजला) सरीखा है।

इस प्रकार और भी अन्धे एक-दूसरे को झूठा कहने लगे और आपस मे झगड़ने लगे। इतने में वहां एक आँख वाला मनुष्य आ पहुंचा। आँख वाले ने उन अन्धो से कहा—तुम लोग आपस मे लड़ते क्यों हो? तुम सब एक-एक अंश मे सही कहते हो। पर जब सबकी मान्यताओं का समन्वय करोगे तभी हाथी का परिपूर्ण स्वरूप समझ मे आएगा।

आखिरकार उस आँख वाले पुरुष ने उन अन्धों को हाथी के एक ही अंग को हाथी मान लेने से कैसी भ्रमणा उत्पन्न होती है, यह बात समझाई और यह भी समझाया कि किस प्रकार सब के मन्तव्य का समन्वय करने से पूर्ण वस्तु का पता चलता है।

इस दृष्टान्त का सार यह है कि जो व्यक्ति अन्धों की तरह वस्तु के एक अंश को स्वीकार करके अन्य अंशो का सर्वथा खण्डन करता है और एक ही अंश को पकड़ रखने का आग्रह करता है, वह मिथ्यात्व मे पड़ जाता है। दूसरे नयों का निषेध करने वाला व्यक्ति स्वयं जिस नय का अवलम्बन करता है, उसका वह नय दुर्नय बन जाता है। अतएव अपनी ही बात का हठ न पकड़कर दूसरो के कथन पर भी सम्यक्प्रकार से विचार करना चाहिए और विवेक के साथ पूर्वापर विचार करके सत्य

वस्तु पर श्रद्धा रखनी चाहिए। यही सम्यक्त्व है। पुण्योदय होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। स्याद्वाद सिद्धान्त किसी किस्म का दुराग्रह न करके यह मानने का उपदेश देता है कि जो सच्चा है सो मेरा, यह नहीं कि मेरा सो सच्चा। अतएव सम्यक्त्व प्राप्त करके मोक्ष की सिद्धि के लिए पुरुषार्थ करो। सम्यक्त्व में पराक्रम करना ही मोक्ष प्राप्ति का राजमार्ग है।

●

अर्हन्नक की धर्मवीरता

जैसे आप धन चाहते हो, उसी प्रकार अरणक भी चाहता था। आप व्यापार करते हैं, अरणक भी व्यापार करता था। एक वार अरणक का जहाज देवता ने दो उंगलियों से उठाकर रोक दिया। तमाम लोग घबरा उठे। बोले—ऐ अरणकजी! तुम क्यों जिद करते हो! तुम्हारी जिद हमे भी ले बैठेगी।

अरणक ने विश्वस्त भाव से उत्तर दिया—भाइयो! घबराते क्यो हो? तुम्हे डुवाने वाला कौन है?

लोग कहने लगे—वाह भाई, जहाज दो उंगलियों से उठाया हुआ है। पलभर मे उलट सकता है। फिर पूछते हो—कौन उलट सकता है?

अरणक ने कहा—मुझसे अधर्म को धर्म मानने के लिए कहा जा रहा है। मै अधर्म को धर्म कैसे मानूँ? जहाज को

डुबाता कौन है ? अधर्म ही डुबाता है। धर्म तो तारने वाला है। अगर जहाज डूब भी गया तो चिन्ता क्या है ? अधर्म ही तो डूबेगा।

आखिर हार मानकर देवता ने कहा—धन्य है तुझे ! तू परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। तेरा धर्म दृढ़ है।

मित्रो ! जिद करो तो ऐसी करो। सत्य की जिद करने वाले का कल्याण हो जाता है।

परमात्मा की विभुता

परमात्मा को अविनाशी और विभु जानने का प्रमाण है—पाप मे प्रवृत्ति न करना। जिसे परमात्मा की नित्यता और व्यापकता पर विश्वास होगा, उससे पापकर्म कदापि न होगा। आपके साथ राजा का सिपाही हो, तब आप क्या चोरी करेंगे? आपको भय रहेगा कि सिपाही देखता है, चोरी कैसे? करें इसी प्रकार जिसने परमात्मा को व्यापक जान लिया वह किसी के साथ कपट कैसे कर सकता है? जब कभी उसके हृदय में विकार उत्पन्न होगा और कपट करने की इच्छा का उदय होगा, तभी वह सोचेगा—ईश्वर व्यापक है, उसमे भी है, मुझमे भी है, मैं कैसे कपट करूँ? मै जो ठगाई की बुराई करना चाहता हूँ उसे परमात्मा देख रहा है। ऐसी स्थिति मे मै कैसे इस पाप में प्रवृत्त होऊँ?

परमात्मा की सच्ची प्रार्थना करके हमे इस उच्च स्थिति तक पहुँचना है। एक उदाहरण के द्वारा यह बात सरलता से समझ में आयेगी।

एक गुरु के पास दो व्यक्ति शिष्य बनने के लिए गये। गुरु के पास पहुँचकर उन्होंने निवेदन किया—' महाराज ! हम आपकी विद्या, बुद्धि और शक्ति की प्रशंसा सुन कर आकर्षित हुए हैं और आपके शिष्य बन कर सब विद्याएँ प्राप्त करना चाहते हैं। कृपा करके आप हमें अपना शिष्य बनाइये।

गुरु को शिष्य का लोभ नहीं था। अतएव उसने कहा—आपको चेला बनना सरल मालूम होता है पर मुझे गुरु बनना कठिन जान पड़ता है। इसलिए पहले परीक्षा कर लूँगा।

आप लोग रुपये बजा बजा कर लेते हैं और बहिनें हंडियाँ ठोक बजा कर लेती हैं। ऐसा न करने से बाद में कभी कभी पछताना पड़ता है और उपालम्भ सहना पड़ता है। इसी प्रकार चेले खराब निकलें तो गुरु को उपालम्भ मिलता है। यों तो भगवान् का शिष्य जमाली भी खराब निकला, परन्तु पहले जाँच पड़ताल कर लेना आवश्यक है।

ऐसा विचार कर गुरु ने उन दोनों से कहा—"पहले परीक्षा कर लूँगा, फिर शिष्य बनाऊँगा।

शिष्य—जी, ठीक है। परीक्षा कर देखिए।

गुरु ने कोठरी में जाकर एक मायामय कबूतर बनाया और बाहर आकर चेले से कहा—इसे ले जाओ और ऐसी जगह मार लाओ, जहाँ कोई देखता न हो।

पहले चेले ने कबूतर हाथ में लिया और सोचा—"यह कौन कठिन काम है, ऐसी जगह बहुत है, जहाँ एकान्त है—कोई देखता नहीं और मारना तो कबूतर ही है, कोई शेर तो मारना

है नहीं।" यह सोचकर वह कबूतर को ले गया और किसी गली मे जाकर, उसने कबूतर की गर्दन मरोड़ डाली। मरा हुआ कबूतर लेकर वह गुरु के पास आया। बोला—"लीजिए, गुरुजी, यह मार लाया। किसी ने देखा नहीं।"

गुरु ने कहा—तुम शिष्य होने योग्य नहीं। अपने घर का रास्ता पकड़ो।

चेला—क्यों, मै अयोग्य कैसे? मैंने ठीक तरह आपकी आज्ञा का पालन किया है।

गुरु—नहीं, तूने मेरी आज्ञा का पालन नहीं, उल्लंघन किया है।

चेला—मगर आज्ञा तो कबूतर को मारने की ही दी थी आपने! और मैंने उसका पूरी तरह पालन किया है।

गुरु—लेकिन मैंने यह भी तो कहा था कि ऐसी जगह मारना जहाँ कोई देखता न हो। 'कोई देखता न हो' यहाँ 'कोई' मे तो सभी शामिल हो जाते है। मारने वाला तू, मरने वाला कबूतर और परमात्मा—जो विभु है—वह भी 'कोई' में शामिल हैं। जब तुमने कबूतर मारा तो तुम स्वयं देखते थे, कबूतर देखता था और ईश्वर भी देखता था। इन सब के देखते कबूतर को मारने पर भी किस प्रकार तुमने मेरी आज्ञा का पालन किया?

चेला अविनीत था। कहने लगा—ऐसा ही था तो आपको पहले ही साफ-साफ बता देना चाहिए था। पहले मारने की आज्ञा दी और जब मार लाया तो कहने लगे कि आज्ञा का उल्लंघन किया है! आप कैसे गुरु है, मैं अब समझ गया।

गुरु—मैंने स्पष्टीकरण नहीं किया था, फिर भी तुम्हें तो समझना चाहिए था। यह सुन कर चेला और ज्यादा भड़का। गुरु ने अन्त में कहा—भैया, तुम जाओ। मैं तुम्हारा गुरु बनने योग्य नहीं हूँ।

गुरु ने दोनों नवागन्तुक शिष्यों को अलग अलग जगह बिठला दिया था। एक से निपट कर वह दूसरे शिष्य के पास पहुँचे। उसे भी वही कबूतर दिया और पहले की तरह मार लाने की आज्ञा दी।

शिष्य कबूतर लेकर चला। वह बहुत जगह फिरा—खेतों में गया, पहाड़ों में घूमा और अन्त में एक गुफा में घुसा। गुफा में बैठ कर वह सोचने लगा—यह जगह एकान्त तो है, मगर गुरुजी का अभिप्राय क्या है? उनकी आज्ञा यह है कि जहाँ कोई न देखे, वहाँ मारना। मगर यहाँ भी मैं देख रहा हूँ, कबूतर देख रहा है और सर्वदर्शी परमात्मा भी देख रहा है। गुरुजी दयालु हैं। मालूम होता है उन्होंने अपने आदेश में कबूतर की रक्षा करने का आशय प्रकट किया है, मारने का नहीं। चाहे उनके शब्द कुछ भी हों, मगर उन शब्दों से अखण्ड दया का ही भाव निकलता है, मारने का नहीं।

जिसमें इतनी सहज बुद्धि हो, वही शास्त्र का गम्भीर अर्थ समझने में समर्थ होता है। वासना से मलीन हृदय शास्त्र का पवित्र अर्थ नहीं समझ सकता।

शिष्य सोचने लगा—गुरुजी ने कबूतर की रक्षा की शिक्षा देने के साथ ही यह भी जता दिया है कि एकान्त में ही

गम्भीर विषय समझ मे आता है। गुरुजी ने जो कुछ कहा था, उस पर मैंने एकान्त मे विचार किया तो मालूम हुआ कि संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ परमात्मा न देखता हो। जब परमात्मा सब जगह है तो हिंसा किस जगह की जा सकती है ? इस तरह गुरुजी ने मुझे परमात्मा का भी दर्शन कराया है। उन्होंने अपने आदेश द्वारा परमात्मा की विभुता का भान कराया है। दयालु गुरुजी ने प्रारम्भ में ही कितनी सुन्दर शिक्षाएँ दी हैं !

शिष्य प्रसन्न-चित्त और कबूतर को सुरक्षित लिए गुरु के पास लौट आया। गुरुजी भीतर ही भीतर अत्यन्त प्रसन्न हुए। लेकिन ऊपर से बनावटी क्रोध प्रदर्शित करते हुए कहने लगे— 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः।' तुमने तो मंगलाचरण ही बिगाड़ दिया। मेरी पहली आज्ञा का पालन नहीं किया तो आगे चल कर क्या निहाल करोगे ? तुम शिष्य होने के अयोग्य हो, अपना रास्ता नापो।

शिष्य—आप जो कहेंगे, वही होगा। लेकिन मुझे मेरी अयोग्यता समझा देंगे तो कृपा होगी। अयोग्य तो हूँ इसी कारण आपको गुरु बनाना चाहता हूँ।

गुरु—मैंने यह कबूतर मार लाने के लिए कहा था या नहीं ?

शिष्य—जी हाँ, मगर साथ ही यह भी तो कहा था कि जहाँ कोई न देखे, वहाँ मारना। मैं जगह-जगह भटका—खेतों मे गया, पहाड़ों मे गया और गुफा में गया। किन्तु ऐसा कोई

स्थान नहीं मिला, जहाँ कोई देखता न हो। लाचार हो वापस लौट आया।

गुरु—गुफा में कौन देखता था ?

शिष्य—प्रथम तो मैं ही देख रहा था, दूसरा कबूतर स्वयं देख रहा था और तीसरा परमात्मा देख रहा था। गुफा में जाकर मैंने विचार किया तो मालूम हुआ—आपकी आज्ञा मारने के लिए नहीं, रक्षा करने के लिए है। आपने मुझे ईश्वरीय ज्ञान दिया है। अगर आप मुझे शिष्य रूप में स्वीकार करेंगे तो आपकी असीम कृपा होगी। मैं तो आपको गुरु बना चुका हूँ। आपने पहली आज्ञा द्वारा जो तत्त्व समझाया है, वह अकेला ही जीवनशुद्धि के लिए पर्याप्त हो सकता है। लेकिन थोड़ा सा ज्ञान मिल जाता तो मेरा आचार चमकने लगता।

गुरु ने उसे छाती से लगाकर कहा—बेटा ! तू ईश्वर को समझने वाला जिज्ञासु शिष्य है। मैं तुझे ज्ञान दूँगा। अगर तू न ईश्वर को सब जगह न माना होता तो गुरु तेरे साथ कहाँ कहाँ फिरता ! तू ने ईश्वर को साक्षी स्वीकार कर लिया है। अब तेरे मन में पाप का प्रवेश न होगा।

भील-कन्या

एक भील-कन्या थी। वह अपने माँ-बाप के घर रहती थी। वह जब जङ्गल मे घूमती तो प्रकृति की शोभा देख कर विचार करती—यह वृक्ष और यह पहाड़ तो मुझे कुछ निराला ही पाठ सिखाते हैं! प्रकृति की रचना पर विचार करते-करते उसके दिल मे दयाभाव उत्पन्न हुआ। वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। धीरे-धीरे उसे ईश्वर के नाम की भी धुन लग गई। जिसके दिल मे दया होती है, उसे परमात्मा के प्रति प्रीति भी जल्दी हो जाती है। यों तो सभी किसी न किसी प्रकार से परमात्मा का नाम लेते हैं, लेकिन प्रयोजन मे बड़ा अन्तर होता है। कहा है—

राम नाम सब कोई कहे, ठग ठाकुर अरु चोर।
बिना नाम रीझे नहीं, तुलसी नन्दकिशोर ॥

ठग भगवान् का नाम लेकर ठगाई करने निकलता है और ठाकुर ठगाई से बचने के लिए उसका नाम लेता है। दोनों

का प्रयोजन कितना भिन्न है ? दया के साथ परमात्मा को जपना और बात है तथा लोभ लालच से जपना और बात है ।

शबरी में दया थी इसलिए उसे परमात्मा के नाम की लौ लग गई। और उसकी परमात्म प्रीति बढ़ती गई। यह सब दया का ही प्रताप था।

> दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।
> तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण ॥

अगर घट में दया है तो जो भी कार्य किया जायगा, अच्छा ही होगा। दया के अभाव में धर्म की जड़ ही कट जाती है।

पाँच और पाच दस होते हैं। कोई गणित का प्रोफेसर किसी से कहने लगे—तुम मूर्ख हो कि पाच और पाच दस मानते हो। हम पढे लिखे विद्वान हैं। हम कहते हैं—ग्यारह होते हैं। ऐसा कहने वाले प्रोफेसर से आप यही कहेंगे कि हम बिना पढे लिखे ही भले जो पाँच और पाँच के योग को ग्यारह तो नहीं कहते। ज्ञानी कहते हैं कि दया का धर्म भी 'पाच और पाँच दस' की तरह सरल है। उसे सभी सहज ही समझ सकते हैं। वह सब के अनुभव की चीज है। कोइ न्यायशास्त्र और व्याकरण का पण्डित आकर आप से कहने लगे कि धर्म अहिंसामय नहीं, हिंसामय है, तो आप उसे मान लेंगे ? नहीं, आप यही कहेंगे कि तुम पण्डित हो करके भी असत्य कहते हो ? भारत का भाग्य अच्छा है कि यहाँ सब लोग अहिंसा को ही धम मानते हैं। किन्तु स्वार्थी लोग भुलावे में डालने की कोशिश करते हैं।

अगर कोई भुलावे में डालने की कोशिश करे तो आप यही कहिए कि तुम वृथा कहते हो। धर्म तो अहिंसा में ही है।

दयाधर्म के प्रताप से शबरी का ईश्वर-प्रेम बढ़ता ही गया। वह बड़ी हुई। माँ-बाप ने उसका विवाह करना निश्चित किया। शबरी मन में सोचने लगी—माँ-बाप मेरा विवाह अब किसके साथ करना चाहते हैं? जिसके साथ विवाह होना था, उसके साथ मैं हृदय से विवाहित हो चुकी हूँ। लेकिन मेरी बात वे मानेंगे कैसे? इस प्रकार के विचार से वह शबरी-कन्या चिन्ता में पड़ गई। उसने परमात्मा से प्रार्थना की—प्रभो! मेरी लाज रक्खो।

मीरां ने भी ईश्वर को अपना पति बनाया था। उसने कहा था—

संसारी नो सुख काचो,
परणीने रंडावूं पाछो ।
तेने घेर शिद जइए,
रे मोहन प्यारा, मुखड़ा नी प्रीत लागी रे ॥
परणूं तो प्रीतम प्यारुं,
अखण्ड अहिवात म्हारुं ।
रांडवा नो भय टालो,
रे मोहन प्यारा ॥
मुखड़ा नी प्रीति लागी रे ॥ मोहन० ॥

शबरी भी सोचती थी—क्या कोई ऐसा पति मिल सकता है जो मुझे कभी रांड न बनावे? पहले सुहागिन बनूँ और

फिर रांड होऊँ, यह ठीक नहीं है। मैं विवाह करूंगी तो ऐसे के साथ करूँगी कि अहिरात अखण्ड रहे।

शबरी के पिता ने उसकी सगाई कर दी। फिर भी शबरी घबराई नहीं। वह सोचती थी कि मेरे हृदय में भगवान् है तो सब ठीक ही होगा। अगर पिता ने ब्याह भी दिया तो भी क्या है? मेरे हृदय में तो परमात्मा बस रहा है। मैं उसी की हूँ।

विवाह का समय आया। बरात आ पहुँची। शबरी कन्या के पिता ने बरातियों को जिमाने के लिए मुर्गी, तीतर आदि पक्षी इकट्ठे कर रक्खे थे। उन सब को एक पींजरे में डाल रक्खा था।

रात का समय था। शबरी सोई हुई थी। किसी कारण से सब पक्षी चूँ-चाँ करने लगे। प्रकृति न मालूम किस तरीके से क्या काम करती है? शबरी की नींद खुल गई। पक्षियों का कोलाहल सुन कर शबरी सोचने लगी—पक्षी क्या चिल्ला रहे हैं? यह क्या कहते हैं? अचानक उसे ध्यान आया—पक्षी शायद कह रहे हैं कि तू विवाह करती है और हम मारे जायेंगे! शबरी उठी और उसने पींजरा खोल दिया। पक्षी अब स्वतन्त्र थे। अपनी जान लेकर भागे।

इधर शबरी ने सोचा—मेरे विवाह करने से पहले इतने जीव बन्धन में पड़ेंगे। अगर विवाह कर लूँगी तो न जाने कितने बन्धन में पड़गे! मैंने इन्हें स्वतन्त्र कर दिया है। मेरे ऊपर जो बीतेगी, भुगत लूँगी। पर इन्हें स्वतन्त्र करने वाली स्वयं बन्धन में क्यों पड़ूं?

इस प्रकार विचार कर शबरी-कन्या रात्रि मे ही घर मे निकल पड़ी। वह सोचने लगी—लेकिन मैं जाऊँगी कहां ? जहाँ जाऊँगी वहीं से पिता पकड़ लाएँगे। मगर--

समझ सोच रे मित्र सयाने,
आशिक हो फिर रोना क्या रे।
जिन अंखियन में निद्रा गहरी,
तकिया और बिछौना क्या रे।
रूखा-सूखा गम का टुकड़ा,
फीका और सलौना क्या रे।
पाया है तो दे ले प्यारे,
पाय पाय फिर खोना क्या रे!

शबरी-कन्या सोचती है—मेरा मन भगवान् पर आशिक हुआ है तो डर किसका ? वे जानवर मौत के नज़दीक थे। मैंने उनकी पुकार सुनी और उन्हे स्वतन्त्र कर दिया है। तो मैं भी कुछ पुण्य लेकर ही जनमी होऊँगी! नहीं तो उन पक्षियों को खोल देने की भावना मुझ मे कहाँ से आई? इसलिए चलना चाहिए।

कहत कबीर सुनो भाई साधो,
शीश दिया फिर रोना क्या रे!

सिर दिया है तब सोच कैसा ? चल, निकल चल। रात है, अंधेरा है, यही भाग निकलने का उपयुक्त अवसर है। शबरी निकल चली। उसने निश्चय किया—इन पक्षियो की रक्षा हुई तो मेरी भी रक्षा होगी।

सवेरा हुआ। घर के लोग जागे। देखा, पींजरा खाली पड़ा है। सोचा—हाय, अनर्थ हो गया! किस पापी ने यह कुकर्म कर डाला! अब मेहमानों का सत्कार कैसे होगा? ऐन वक्त पर सारी बात बिगड़ गई!

जब किसी के स्वार्थ में बाधा पड़ती है तो वह दूसरों को पापी कहने लगता है। पाप—पुण्य की कसौटी उसका स्वार्थ ही होता है।

थोड़ी देर बाद पता चला कि कन्या भी गायब है। अब घर वाले बड़े चिंतित हुए। बरात वालों को कैसे मुख दिखलाएँगे! क्या कहकर उनसे क्षमा मागेंगे? सब इधर उधर भागे। सब जगह खोज की। कन्या का पता न चला। शबरी जंगल में स्वतन्त्रता के साथ रहने लगी। वह सोचने लगी—मैंने घर त्याग दिया है। सत्संग करने की मेरी तीव्र लालसा है। लेकिन मैं भील के घर जनमी हूँ। ऋषि मुझे पास भी नहीं फटकने देंगे। ऐसी दशा में मुझे क्या करना चाहिए? ऋषि कुछ भी करें, मुझे सत्संग करना ही है। वह भले मुझे न छूने दें, मैं उनकी सेवा दूर से ही करूँगी। यह विचार कर वह सेवा करने के उद्देश्य से ऋषियों के पास गई। मगर उन्होंने पापिनी कह कर उसे दुत्कारा। ऐसे समय में क्रोध आना स्वाभाविक था, मगर सच्चा भक्त कभी क्रोध नहीं करता। वह शान्त रही।

> मन मस्त भयो फिर क्या बोले,
> हीरा पाया गाठ गँठियाया,
> बार-बार याको क्यों खोले?
> ओछी थी जब चढ़ा तराजू,

पूरी हुई अब क्या तोले ?
हँसा माया मान सरोवर,
डाबर-डाबर क्यो डोले ?
तेरा साहिब तेरे घट मे,
बाहर नयना क्यों खोले ?
मन... ... . .बोले ॥

शबरी सोचने लगी—मेरी समीपता से ऋषियो का धर्म जाता है तो मैं दूर ही रहूँगी। मै क्यो उनका धर्म बिगाड़ूँ ? मैंने भक्ति करने की ठानी है। वह तो कही भी हो सकती है ? वह पिछली रात मे जल्दी ही उठ बैठती और जिस रास्ते ऋषि आते-जाते थे, उसे साफ कर देती थी। वह सोचती—यही उनकी भक्ति है कि उन्हे काँटे न लगे।

ऋषियों ने पहले दिन सवेरे उठ कर देखा कि मार्ग एकदम साफ है। किसी ने झाड़-बुहार दिया है। तब वे आपस में कहने लगे—यह हमारी तपस्या का प्रताप है। हमारी तपस्या के प्रताप से देव आकर मार्ग साफ कर गये है। इस प्रकार सभी ऋषि अपनी-अपनी तपस्या का फल बतला कर आपस मे वाद-विवाद करने लगे। शबरी यह जानकर हँसी। उसने सोचा—चलो ठीक है। मुझे देव की पदवी मिली ! जब ऋषि लोग आपस मे विवाद करने लगे तो एक वृद्ध ऋषि ने कहा—हम कल निर्णय कर लेंगे कि किसके तप के प्रताप से कौन देव आकर मार्ग साफ करता है। अभी आप लोग अपना-अपना काम कीजिए।

दूसरे दिन शबरी फिर मार्ग साफ करने लगी। शृंगी ऋषि रखवाली कर रहे थे। उन्होने दूसरे ऋषियों से कहा—देख

लो, यह देवता मार्ग साफ कर रही है। आप सब इसे प्रणाम कीजिए। यह हम लोगों से भी ऊँची है।

शृंगी ऋषि की बात सुनकर बहुत-से ऋषि कुपित हो गए। कहाँ एक शबरी और कहाँ हम ऋषि! हमसे कहते हैं—शबरी को प्रणाम करो! यह तो कहते नहीं कि उसने मार्ग अपवित्र कर दिया, उलटी उसकी प्रशंसा करते हैं। शृंगी प्रायश्चित्त करें, अन्यथा उन्हें अलग कर दिया जाय!

शृंगी ऋषि ने शांतिपूर्वक कहा—तुम झूठे तपस्वी हो। सच्ची तपस्विनी तो यही है।

ऋषिगण—ऋषियों की निन्दा करने वाला हमारे आश्रम में नहीं रह सकता। तुम आश्रम से बाहर निकल जाओ।

शृंगी—मिथ्या अभिमान रखने वालों के साथ रहने से कोई लाभ भी नहीं है। लो, मैं जाता हूँ।

शृंगी ऋषि आश्रम से बाहर निकल पड़े। उन्होंने शबरी से कहा—माता, आओ। अगर तुम मुझे अपना पिता समझती हो तो तुम मेरी पुत्री हो।

दोनों कुटी बना कर रहने लगे। शृंगी ऋषि शबरी को ज्ञान सुनाने लगे। शबरी कहती—पिता न मालूम किसके साथ मेरा विवाह कर रहे हैं। अब आपकी दया से ज्ञान के साथ मेरा विवाह हो गया।

इसी तरह कुछ दिन बीत गये। ऋषि का अन्तिम समय आ गया। शबरी ने कहा—अब कौन मुझे ज्ञान देगा!

ऋषि ने धीमे स्वर मे कहा—अब तुझे ज्ञान सुनाने की आवश्यकता नही। दशरथपुत्र राम वन मे आएँगे और तेरे अतिथि बनेगे। इस तरह तेरा कल्याण होगा।

ऋषि का देहान्त हो गया। शबरी को पूर्ण विश्वास था कि ऋषि की अन्तिम बात अवश्य सत्य होगी। वह सोचने लगी—'राम मेरे अतिथि होंगे तो मैं उनका क्या सत्कार करूँगी ? यहाँ बेर के सिवाय और क्या है ? बेरो से ही राम का सत्कार करूँगी। उसे ध्यान आया—अगर बेर खट्टे हुए तो ? खट्टे बेर राम को नहीं देने चाहिए। फिर खट्टे-मीठे का निर्णय कैसे हो ? अन्त मे उसने कहा—यह निर्णय करने के लिए मेरी जीभ है ही, फिर चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ? जीभ से बेर चखती जाऊँगी। मीठे-मीठे राम के लिए बचाती जाऊँगी और खट्टे-खट्टे मैं खाती जाऊँगी।'

शबरी ने सोचा—ऋषि के कथनानुसार राम, सीता और लक्ष्मण के साथ आएँगे। उनके लिए अभी से बेर तोड़ कर रख लूँ। कौन जाने, किस समय आ जाएँगे ? वक्त पर कहाँ से लाऊँगी ? इस प्रकार विचार कर वह मीठे-मीठे बेर संग्रह करने लगी।

आप एक भीलनी की कथा सुन रहे हैं। यह उदाहरण अपनी सद्बुद्धि जगाने के लिए हैं। इनसे स्पष्ट मालूम होता है कि इन नीच कहलाने वालों मे भी कैसी उज्ज्वल भावनाएँ भरी रहती हैं। भील-भीलनी में प्रायः दया नहीं होती। उन्हें मार-काट की शिक्षा मिलती है। लेकिन इस भीलनी में कैसी दया थी कि उसने पक्षियों को स्वतन्त्र

कर दिया और बरात आ जाने पर भी विवाह न करके घर से बाहर निकल आई। जब एक भीलनी भी इतना त्याग कर सकती है तो आपको कितना त्याग करना चाहिए? अपनी आत्मा से पूछो—हे आत्मन्! तू क्या कर रही है? उस भीलनी ने विवाह करना त्याग दिया तो तुम क्या लड़की के बदले में पैसा लेना भी नहीं त्याग सकते?

शबरी राम के लिए बेर बीन बीन कर इकट्ठा कर रही थी। उसे अगर दुःख था तो यही कि शृंगी ऋषि ने मुझ पर इतना उपकार किया लेकिन उनके साथी ऋषियों ने उन्हें लाछन लगाया। मेरे और उन ऋषि के पवित्र प्रेम का साक्षी राम के सिवाय और कौन हो सकता है? राम आएँगे तो पता चलेगा।

शबरी जिस वन में रहती थी, राम, सीता और लक्ष्मण उसी वन में पहुँचे। ऋषियों को राम का आगमन मालूम हुआ। सब ऋषि यह सोच कर प्रसन्न हुए कि राम का सत्संग होगा और उनसे तत्त्वज्ञान की बातें होंगी। उन्होंने संसार के राज्य आदि सुखों को त्याग दिया है, इसलिए वे महापुरुष हैं। सभी ऋषि सोचने लगे कि राम हमारे आश्रम में टिकेंगे क्योंकि हमारी तपस्या बहुत है।

मगर राम वहाँ पहुँचे तो सीधे शबरी की कुटिया पर गये। शबरी में सत्य का बल था। ऋषि कहने लगे—राम भी भूल गए जो हमारे यहाँ न आकर भीलनी के यहाँ गये हैं। आखिर वह भी तो मनुष्य ही ठहरे।

राम शबरी के पास पहुँचे। राम को शबरी का हाल कैसे मालूम हुआ, यह कौन कह सकता है? मगर सत्य छिपा नहीं

रहता। सत्य में अद्भुत आकर्षण होता है उसी आकर्षण से राम शबरी के पास खिंचे चले गये। राम के पहुँचते ही शबरी हर्ष-विभोर हो गई। जैसे अँधे को आँख मिलने पर हर्ष होता है, उसी तरह राम के मिलने पर शबरी को हर्ष हुआ। वह भक्ति से विह्वल होकर राम के पैरों मे गिर पड़ी।

राम ने कहा—'शबरी, तेरा हृदय मुझ से पहले ही मिल चुका है। अब कुछ बिछाने को ला तो बैठें।'

शबरी के पास बिछाने को क्या था ? उसने कुश की एक चटाई बना रक्खी थी। वह उठा लाई और बिछा दी। राम उस पर बैठ गए। वह लक्ष्मण से कहने लगे—'लक्ष्मण! यह कुशासन कितना नम्र है ? हम लोग उत्तम से उत्तम बिछौनों पर सोये हैं मगर जो आनन्द इसमे है वह उनमे कहाँ ?

लक्ष्मण—इस चटाई के आनन्द के आगे मैं तो अवध का आनन्द भी भूल गया हूँ।

सीता—जिसके दिये बिछौने से आपने और देवर ने इतना आनन्द माना उस शबरी का भाग्य मेरे भाग्य से भी बड़ा है ! मै महल में कितनी तैयारी किया करती थी, लेकिन कभी आपने ऐसी सराहना नही की। वास्तव मे शबरी मेरे लिए ईर्षा का कारण बन गई है।

शबरी—प्रभो ! कुछ खाने को लाऊँ ?

राम—हाँ, मुझे ऐसी भूख लगी है कि तेरे हाथ के भोजन के बिना मिट ही नहीं सकती।

शबरी अपने वल्कल वस्त्र में बेर भर लाई। शबरी के झूठे बेर कौन खाता? मगर वह राम थे। वास्तविकता को समझने वाले और भावना के भूखे थे। बेर खाकर राम कहने लगे—बड़े मीठे बेर हैं शबरी! तबीयत प्रसन्न हो गई। बड़ा आनन्द हुआ!

शबरी के बेरों में क्या विशेषता थी? औरों ने राम को मीठा खिलाया होगा और स्वयं भी मीठा खाया होगा। लेकिन शबरी ने खट्टे बेर खाये और राम के लिए मीठे रक्खे। इसके सिवाय शबरी का प्रेम निस्वार्थ था। किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर उसने राम का सत्कार नहीं किया था।

चन्दनबाला के उड़द के बाकले भी ऐसे ही थे। भगवान् महावीर पाँच महीना और पचीस दिन से उपवासी थे। फिर भी उन्होंने बाकलों में आनन्द माना। देवों ने उस दान की सराहना की थी।

लक्ष्मण कहने लगे—आपने बेरों की प्रशंसा कह बताई, लेकिन मैं तो इनकी तारीफ ही नहीं कर सकता! इतना कह कर लक्ष्मण ने शबरी से कहा—माता, और बेर ले आ। सीताजी ने भी बेर खाये। उन्हें भी मालूम हुआ, जैसे भीलनी ने बेरों में अमृत भर दिया है।

राम ने कहा—सीता, तुमने उत्तमोत्तम भोजन कराये हैं, मगर पति-पत्नी के सम्बन्ध से। शबरी ने किस सम्बन्ध से बेर खिलाये हैं?

> जानत प्रीति रीति रघुराई।
> नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई,
> घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे भई सब जहँ पहुँनाई।

तब तहँ कहि शबरी के फलन की रुचिमाधुरी बताई ।
जानत ·· ··· ·· ···· ·· · ··· · ····· · ···· रघुराई ।

राम की पहुँनाई कहाँ न हुई होगी ? आज राम नहीं हैं फिर भी उनकी पहुँनाई के नाम पर लाखो खर्च हो जाते है तो उस समय कैसी न हुई होगी ? मगर जब और जहाँ उनकी पहुँनाई हुई तब वहाँ उन्होने शबरी के फलो की ही सराहना की ।

आज लोग राम को रिझाने के लिए चतुराई से काम लेते हैं । वे सरलता का त्याग कर देते है । किन्तु—

चतुराई रीझै नहीं,
महाविचक्षण राम ।

राम हृदय की सरलता पर रीझते थे । कपट उन्हें रिझा नहीं सकता था ।

ऋषि आलोचना करने लगे—शृंगी ऋषि भूला ही था, राम भी भूल गये ! कलियुग आ रहा है न ? राम को ऋषियो का आश्रम प्यारा नहीं लगा और भीलनी की कुटिया अच्छी लगी । खैर,,राम गये तो जाने दो । चलो, हम लोग स्नान-भोजन करें ।

ऋषि स्नान करने सरोवर पर गये । सरोवर पर नज़र पड़ी तो चकित रह गए । सरोवर का पानी रक्त की तरह लाल-लाल हो गया और उसमें कीड़े बिलबिला रहे है ।

काठियावाड़ के इतिहास की एक बात स्मरण हो आती है । काठियावाड़ के एक चारण की दो भैंस चोर चुरा कर ले

जा रहे थे। एक काठी सरदार ने चोरों से वह भैंसें छुड़ा लीं और अपनी भैंसों के साथ रख लीं। चारण को मालूम हुआ कि हमारी भैंसें अमुक सरदार के पास हैं। वह कुछ लोगों को साथ लेकर सरदार के पास पहुँचा। उसने कहा—हमारी दो भैंसें आपके यहाँ हैं, वह हमें दे दीजिए।

भैंसे दोनों अच्छी थीं। सरदार लालच में फँस गया। उसने कहा—हमारे यहाँ तुम्हारी कोई भैंस नहीं है।

चारणों ने कहा—हैं, आपके यहाँ हैं। आप अपनी भैंसें हमें देखने दें।

सरदार न सोचा—इन्हें भैंसें दिखलाईं तो पोल खुल जायगी। मैं झूठा ठहरूँगा। बदनामी होगी। उसने इधर चारणों को बातों में लगा रक्खा और उधर दोनों भैंसें कटवा डालीं और जमीन में गड़वा दीं। इसके बाद चारणों को अपनी भैंसें दिखला दीं।

चारणों को विश्वास नहीं हुआ। अन्त में शाप देकर वे वहाँ से चले। चारणों के शाप से या किसी अज्ञात कारण से, सरदार जब दूध खाने बैठता तो दूध में कीड़े बिलबिलाने लगते।

शृंगी ऋषि जैसे तपस्वी को लाञ्छन लगाने वाले, शबरी जैसी सरल और भक्त महिला की अवहेलना करने वाले और अन्तत राम के विरुद्ध विचार करने वाले उन ऋषियों के लिए सरोवर का जल अगर रक्तवत् हो गया और उसमें कीड़े बिलबिलाने लगे तो क्या आश्चर्य है?

सरोवर के स्वच्छ जल की यह दशा देखकर एक ऋषि ने कहा—हमने पहले ही कहा था कि शृङ्गी और शबरी को दोष मत लगाओ। मगर तुम लोग नहीं माने। यह उसी का परिणाम है।

दूसरों ने कहा—जो हुआ सो हुआ। बीती बात की आलोचना करना वृथा है। अब वर्तमान कर्त्तव्य का विचार करना चाहिए।

अन्त मे ऋषियों ने स्थिर किया कि राम को यहाँ लाना चाहिए। ऋषि मिलकर राम के पास पहुँचे और निवेदन किया—महाराज, पधारो। सरोवर का जल बिगड़ गया है। उसमे कीड़े कुलबुला रहे हैं। हमारा सब काम रुका हुआ है। आप वहाँ पधारो और जल को शुद्ध करो।

राम ने कहा—मेरे चलने से कोई लाभ नहीं होगा। आप लोग इस शबरी के स्नान का जल ले जाइए और सरोवर में छिटक दीजिए। जल शुद्ध हो जायगा।

ऋषि दंग रह गये। सोचने लगे—हम शबरी को पतिता समझते हैं और राम ऐसा कह रहे हैं!

शबरी ने कहा—महाराज! आप मेरे ऊपर बहुत बड़ा बोझा डाल रहे हैं। मै पतिता अपने स्नान का जल इन ऋषियों के हाथ मे कैसे दे सकती हूँ? आप ही पधारिए।

राम—माया मे फँसे लोग वास्तविक बात नहीं समझ सकते। मुझे तुम्हारे बीने बेर खाने में जो आनन्द अनुभव

हुआ है, वह दुर्लभ है। यह सब तुम्हारी पवित्र भावना का प्रताप है। तुम पवित्र हो। अपने स्नान का जल इन ऋषियों को देकर सरोवर का जल शुद्ध कर दो।

शबरी—वैसे तो मैं आपकी आज्ञा नहीं लाघ सकती। आप जो कहें वह मुझे शिरोधार्य है परन्तु मुझे अपने स्नान का जल ऋषियों के हाथ मे देना उचित मालूम नहीं होता। अगर आपका आदेश हो तो मैं स्वय चली जाऊँ?

राम ने अनुमति दे दी। शबरी ऋषियों के साथ सरोवर पर पहुँची। जैसे ही सरोवर में उसने अपना पाव रक्खा कि जल निर्मल हो गया। यह चमत्कार देखकर ऋषियों की आँखें खुलीं। अपने किये पर पछताने लगे। कहने लगे—ओह! हमने वृथा ही इस सती की अवहेलना की।

शबरी लौट कर राम के पास आई। उसने कहा—महाराज! मैं अब समझ गई। मुझे इस विचार से बहुत कष्ट होता था कि मेरे कारण शृङ्गी ऋषि को कलक सहना पड़ा। आपने मेरा यह दु ख आज दूर कर दिया है। शृङ्गी ऋषि मुझे सिखा गए हैं—

> ग्रथ पथ सब जगत के, बात बतावत तीन।
> राम हृदय मन में दया, तन सेवा में लीन।।

अर्थात् हृदय में राम, मन में दया और तन सेवा में लगा रहे। बस, इतनी ही बात मैं जानती हूँ। इससे अधिक कुछ नहीं जानती। मेरा विवाह होने वाला था। विवाह के भोज के लिए पिता ने पक्षी पकडे थे। वे तड़फड़ा रहे थे।

मुझसे नहीं रहा गया और उन्हे मैंने मुक्त कर दिया। मैंने सोचा—बेचारे पक्षी बिना किसी अपराध के मारे जाएँगे और मैं इनकी हत्या मे निमित्त बनूँगी।

भगवान् अरिष्टनेमि के विवाह के अवसर पर भी मारे जाने के लिए बहुत से पशु एकत्र किए गए थे। उन्हे देखकर भगवान् ने कहा था—'मेरे निमित्त से इतने जीवो की हिंसा हो, यह बात मेरे लिए परलोक मे शान्तिदायक नहीं हो सकती। क्या हिंसा होने से परमात्मा का भी परलोक बिगड़ता था ? नहीं, लेकिन उन्होंने जगत् के जीवों को समझाने के लिए ऐसा कहा है।

शबरी के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लोग क्रोध, ईर्षा या अभिमान के कारण चाहे जिसे कलंक लगा देते हैं, परन्तु सत्य अन्त मे सत्य ही ठहरता है। झूठ अधिक समय तक नहीं ठहर सकता।

जब शबरी ने तालाब का जल निर्मल कर दिया तो उसका सत्य स्थूल रूप मे चमक उठा। उसकी झोपड़ी तीर्थ स्थान के समान बन गई। सब ऋषि उसके आश्रम मे आकर कहने लगे—हमने आज ही राम का मर्म समझ पाया है। हम लोग जप-तप करते थे पर यह नहीं जानते थे कि राम किस बात से प्रसन्न होते हैं ? आज यह बात समझ गए।

आत्मबल

पुराण में लिखा है कि एक हाथी परमात्मा का भक्त था। वह भगवान् का नाम लिया करता था। उसे मालूम था कि आपत्ति आने पर भगवान् सहायता देता है, अतएव उसने भगवान् की खुशामद करके भगवान् को राजी रखना उचित समझा। जिस प्रकार लोक व्यवहार में अपना मतलब निकालने के लिए दूसरों को प्रसन्न रखना पड़ता है, उसी भाव से हाथी भगवान को खुश रखने लगा।

जैसे लोग अच्छे स बडे मकान मे दिखावट के लिए थोड़ा सा फर्नीचर रख छोडते हैं, उसी प्रकार कई लोग अच्छा दिखने के लिए, समाज में अपना मान सम्मान बढ़ाने के लिए 'धर्म' करते हैं। ऐसा लोग सोचते हैं—ससार क सभी काम हम करते हैं, पर यदि धर्म न करेंगे तो अच्छे न दिखेंगे। लोग हृदय से हमारा आदर नहीं करेंगे। इस प्रकार के विचार से प्रेरित होकर वे धर्म कर लिया करते हैं, जैसे मकान को अच्छा दिखाने

के लिए थोड़ा-सा फर्नीचर रख लिया जाता है। मगर सच्चा धर्मिष्ठ पुरुष ऐसा विचार नही करता। उसका विचार इससे भिन्न होता है। उसकी दृष्टि मे धर्म फर्नीचर नहीं है, वरन् धर्म मकान के समान होता है और अन्यान्य सांसारिक व्यवहार फर्नीचर के समान होते हैं। अर्थात् वह धर्म को मुख्य और अन्य व्यवहारो को गौण समझता है। हाथी, सजावट के लिए फर्नीचर रखने वालों के समान धर्म करने वालो मे से एक था। एक दिन हाथी पानी पीने गया। वहाँ एक मगर ने उसका पाँव पकड़ लिया। मगर उसे गहरे पानी की ओर खींच ले चला। यद्यपि हाथी भी बलवान् था, उसने अपना पाँव छुड़ाने के लिए पूरा जोर लगाया, लेकिन जिसका जोर जहाँ के लिए होता है उसका जोर वही चलता है। हाथी स्थलचर प्राणी है, इसलिए उसका जोर जितना स्थल पर काम आ सकता है, उतना जल मे काम नहीं आ सकता। दोनों की खींचातानी हुई, लेकिन मगर जल का जीव था, उसका बल जल मे सफल हो रहा था। उसके आगे हाथी की एक न चली और वह उसे खींच ले चला। हाथी जब खिचने लगा और अपनी सारी शक्ति लगाकर निराश हो गया तो उसने इतने दिनो तक भगवान् की खुशामद की थी। वह पुकारने लगा—'प्रभो! मुझे बचाओ। मगर मुझे लिए जाता है। वह मुझे मार डालेगा। त्राहि! त्राहि! मां त्राहि!'

हाथी ने इस प्रकार आर्त्तनाद करके भगवान् को बहुत पुकारा, पर भगवान् तक या तो उसकी पुकार पहुँची नही या भगवान् ने उस पर ध्यान नही दिया। तब वह मन मे सोचने लगा—'मैने सुना था, भगवान् भीड पड़ने पर भक्त का भय हटाने के लिए भागे-भागे आते है, पर यहाँ तो उनके आने का

कुछ भी चिह्न नहीं दिखाई देता। मैं बराबर परमात्मा को पुकार कर रहा हूँ, फिर भी मगर मुझे खींचे ही चला जा रहा है। इस समय भगवान् न जाने सो गये हैं, या कहीं चले गये हैं। जान पड़ता है, मैं धोखे में रहा। मैंने भगवान् पर भरोसा करके वृथा उनकी खुशामद की।'

इस प्रकार फर्नीचर के समान जो भक्ति हाथी ने की थी, वह बिगड़ गई। मगर ज्ञानीजनों का कथन है कि आस्तिकता से किसी न किसी प्रकार उत्थान अवश्य होता है। हाथी के अन्तर की आस्तिकता जागृत हुई। अन्त में उसने सोचा—'मैं भगवान् भगवान् रट तो रहा हूँ, पर भगवान् मेरी जिह्वा पर ही हैं या हृदय में भी हैं? अगर मेरे अन्तरंग में ईश्वर का स्थान होता तो मैं मगर के साथ क्यों खींचातानी करता? मैं मगर के साथ खींचातानी भी कर रहा हूँ और भगवान को पुकार भी रहा हूँ। यही क्या इस बात का प्रमाण नहीं है कि मैं भगवान् पर पूर्ण रूप से निर्भर नहीं हूँ? क्या मैं अपने शरीर बल को ईश्वरी-बल से अधिक महत्त्व नहीं दे रहा हूँ? अगर मैं ईश्वर की शरण में जाता और अपनी समस्त शक्तियाँ उन्हीं के पावन चरणों में समर्पित कर देता तो ईश्वर अवश्य आता। मैं तो अपने शरीर के बल का भरोसा करता हूँ। मल मूत्र से बने हुए इस शरीर पर मेरा जितना विश्वास है उतना परमात्मा पर भी नहीं है। इसके अतिरिक्त जिस शरीर को मैं अपना समझता हूँ, उसी को मगर अपना आहार समझता है। मैं कितने भारी भ्रम में हूँ कि मगर के आहार को मैं अपना मान रहा हूँ—उस पर मुझे ममत्व हो रहा है।

इस प्रकार की विचारधारा प्रवाहित होते ही हाथी कहने लगा—'अरे मगर! मै तुझे धिक्कार रहा था; मगर अब मैं समझा कि तुझे धिक्कार देने की आवश्यकता नहीं है। अभी तक मै तुझे इसलिए भला-बुरा कह रहा था कि मुझे शरीर पर ममता थी और इसी कारण मै ईश्वर को भूला हुआ था और शरीर-बल पर ही भरोसा लगाये बैठा था। अब मै समझ चुका हूँ। तेरे द्वारा जो खाया जा सकता है वह मेरा नहीं हो सकता। और जो मेरा है उसे तू खा नहीं सकता। इसलिए भाई, मै तुझ से क्षमा याचना करता हूँ। तू मेरी कुछ भी हानि नहीं कर रहा है।'

अभी मैने कहा था—

चाहे फांसी पर लटका दे, भले तोप के मुंह उड़वा दे।
आत्म-बली सब को ही दुआ दे, कभी न दे धिक्कार॥

तोप से उड़ाना क्या कोई भलाई करना है? फिर भी आत्मबली तोप से उड़ाने वाले को क्यो दुआ देता है? लेकिन अगर तोप से उड़ाने वाले की और तोप से उड़ने वाले की भावना समान ही हो जाय तो फिर आत्मबली मे और तोप से उड़ाने वाले में अन्तर ही क्या रह जाता है?

गजसुकुमार मुनि के सिर पर सोमल ब्राह्मण ने जलते अँगारे रख दिये, फिर भी गजसुकुमार मुनि ने सोमल को उपकारी माना या अपकारी?

'उपकारी'

मित्रो! तुम जो धर्मक्रिया करते हो, वह लोक को दिखाने के लिए मत करो। अपनी आत्मा को साक्षी बना कर करो।

निष्काम कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर करो। अपनी अमूल्य धर्मक्रिया को लौकिक लाभ के लघुतर मूल्य पर न बेच दो। चिन्तामणि रत्न को लोहे के बदले मत दे डालो।

'चाहे फाँसी पर लटका दो' यह पद चाहे आधुनिक वातावरण को लक्ष्य करके कहा गया हो, पर हमारे लिए तो हमारे ही शास्त्रों में इसके प्रमाण मौजूद हैं। गजसुकुमार के सिर पर अँगारे रक्खे गये, अनेक मुनियों को कोल्हू में पेरा गया, फिर फाँसी पर लटकाने में क्या कसर रह गई? इतने उज्ज्वल उदाहरण विद्यमान होने पर भी आप धर्म में बनियाई चला रहे हैं!

हाथी ने मगर से कहा—'मुझ में भक्ति है या नहीं, इसकी परीक्षा तू ही कर रहा है। तू ही है जिससे मेरी भक्ति की परीक्षा होगी। जा, ले जा, और खा जा। मैं अब अपना बल न लगाऊँगा।'

हाथी ने अपना बल लगाना छोड़ दिया। खींचातानी बन्द होगई। हाथी ने कहा—'प्रभो भले ही मेरा शरीर चला जाय, पर तू न जाने पाय। मैं यह शरीर देता हूँ और इसके बदले तुझे लेता हूँ।'

इस प्रकार विचार कर हाथी ने भगवान् के नाम का उच्चारण आरम्भ किया। उसने जैसे ही आधे नाम का उच्चारण किया कि उसी समय हाथी में एक प्रकार का अनिर्वचनीय बल प्रकट हुआ। उस बल के प्रभाव से हाथी अनायास ही छूट गया और विपत्ति से छूट कर आनन्द में खड़ा हो गया। अपने यहाँ भी कहा है कि पाँच ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण करने में

जितना समय लगता है, उतना ही समय आत्मा को मोक्ष प्राप्त करने मे लगता है।

हाथी मगर के फन्दे से छूट कर अलग-जा खड़ा हुआ। वह सोचने लगा—कैसी अद्भुत घटना है। मैं मगर से कहता हूँ—खा जा, और वह मुझे छोड़ गया।

सांसारिक बल का अभिमान त्याग देने पर आत्मबल प्रकट होता है। वही भगवद्बल है। उसकी शक्ति अचिन्त्य है।

३६

शूकरी-इन्द्राणी

एक ऋषि थे। उनसे कोई चूक हो गई। चूक के प्रताप से वह मर कर शूकरी हुए। कर्म की गति बड़ी विचित्र है। जैन शास्त्र के अनुसार भी मुनि को चण्डकौशिक साँप होना पड़ा था।

तो वह ऋषि मर कर शूकरी हुए। उनके तप का कुछ पुण्य तो था ही, मगर चूक के कारण उन्हें इस निकृष्ट योनि में जन्म लेना पड़ा। शूकरी बड़ी हुई। इधर उधर कूड़ा कचरा खाने लगी और उसी में प्रसन्न रहने लगी। इस अवस्था में वह ऐसा आनन्द मानने लगी कि मानों इन्द्राणी हो। थोड़े दिनों बाद उसे मस्ती चढ़ी। सूअर के साथ क्रीडा करने लगी। गर्भवती हुई। बच्चे हुए। वह उन बच्चों पर बहुत प्रेम करने लगी।

इतने में उसका चूक के कर्म का भोग पूरा हो गया। धर्मराज के घर से विमान आया। धर्मराज के दूतों ने उससे कहा—चल अब स्वर्ग में चल, तेरा वह कर्मभोग पूरा हो गया है।

सूअरी यह सुन कर रोने लगी। रोती-रोती बोली—अभी मुझे मत ले चलो। मेरे बच्चे अभी छोटे है। देखो, वह मैला पड़ा है, मुझे वह खाना है। थोड़े दिन और दया करो। मुझे बचाओ।

सूअरी की बात पर देवदूत हँसने लगे। उन्होने सोचा—इसकी दृष्टि मे स्वर्ग के सुख इन सुखो से भी तुच्छ है!

फिर देवदूतो ने कहा—नही, तुझे अभी चलना पड़ेगा। साथ लिये बिना हम मानने वाले नही।

अन्ततः सूअरी रोती रही और देवदूत उसे ले चले। स्वर्ग पहुँचने पर उसका हृदय पलट गया। उन यमदूतो ने उससे कहा—चल, तुझे वापिस लौटा आते है। अपने अधूरे काम पूरे कर ले। मगर वह अब लौटने को तैयार नहीं थी। स्वर्ग मे पहुँचने के बाद कौन अभागा ऐसा होगा जो सूअर का काम करने के लिए स्वर्ग छोड़कर आएगा!

इस कथा के आधार पर प्रत्येक मनुष्य को अपनी स्थिति पर विचार करना चाहिए कि हमारी स्थिति भी कही इस कथन की 'नायिका' जैसी ही तो नहीं है?

दो छोरा दो छोकरी, सो करती ममता माया,
लाख-लाख बेटा हुआ, पछ काम नहीं आया।
परतख देखलो, दुख पडे सारा, बिललावे जावे चेतन एकलो।
गाफिल मत रह रे, मुश्किल यह अवसर फिर पावणो॥

देवदूत की पालकी सामने खड़ी है। जिसे उसमे सवार होना हो, हो सकता है। लेकिन, सवार होने की इच्छा रखने

वाले को आसुरी प्रकृति की बातें छोड़ कर दैवी प्रकृति की बातें आचरण में लानी पड़ेंगी। अगर कोई यह कहता है कि आसुरी प्रकृति के बिना काम नहीं चलता तो यह तो सूअरी की जैसी ही बात हुई या नहीं ? इस गन्दे जीवन के लिये उच्च जीवन को भूलते हो ? संसार बड़ा विषम है। यहाँ बड़ी बड़ी स्थिति वाले भी नहीं रहे तो तुम्हारी हैसियत ही क्या है ? इस बात को भूल कर अगर ऐसी ही स्थिति में पड़े रहे तो समय बीत जाने पर पछताने से भी क्या लाभ होगा ?

मम्मन सेठ

जब तक कोई वस्तु प्राप्त नहीं है, तब तक मनुष्य को उसकी इच्छा होती है, लेकिन जब वह अप्राप्त हो जाती है, तब उससे भी आगे की अप्राप्त वस्तु की इच्छा होती है। जैसे-जैसे पदार्थ प्राप्त होते जाते हैं, वैसे ही वैसे इच्छा बढ़ती जाती है। इस तरह संसार की सामग्रियों का अन्त तो आ सकता है, लेकिन इच्छा का अन्त नहीं आता। यह बतलाने के लिए ग्रन्थों में एक कथा आई है।

मम्मन नाम के एक सेठ के पास ९९ क्रोड़ सोनैया की सम्पत्ति थी। उसने सोचा—मेरी यह विशाल सम्पत्ति मेरे लड़के खर्च कर देंगे, इसलिए कोई ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे लड़के इस सम्पत्ति को खर्च न कर सकें, किन्तु इसकी वृद्धि करते रहें। मम्मन सेठ ऐसा ही उपाय सोचा करता। अन्त में उसने उपाय सोच लिया। उसने अपने घर के भूमिगृह मे एक सोने का बैल बनवाया, जिसके चारो ओर मणि-माणिक आदि मूल्यवान्

रत्न लगे हुए थे। मम्मन सेठ ने प्राय अपनी समस्त सम्पत्ति लगा कर यह बैल तैयार कराया। जब बैल बन कर तैयार हो गया, तब मम्मन सेठ बहुत ही प्रसन्न हुआ, लेकिन साथ ही उसे यह विचार हुआ कि अकेला होने के कारण यह बैल शोभाहीन है। इसलिए ऐसा ही एक बैल और बनवा कर इस बैल की जोडी मिला देनी चाहिए।

स्वर्ण रत्न से बने हुए बैल की जोडी मिलाने के विचार से प्रेरित होकर मम्मन सेठ फिर धन कमाने लगा। वह धन के लिए न्याय अन्याय, झूठ सत्य आदि किसी भी बात की परवाह न करता। उसका एकमात्र उद्देश्य पुन उतनी ही सम्पत्ति प्राप्त करना था, जितनी सम्पत्ति लगाकर उसने भूमिगृह में स्वर्ण रत्न का बैल बनवाया था। दिन रात वह इसी चिन्ता में रहता, कि मेरा उद्देश्य कैसे पूरा हो ? उसे रात के समय पूरी तरह नींद भी न आती। यद्यपि वह धन के लिए अन्य समस्त बातों की उपेक्षा करता था, फिर भी ९९ क्रोड़ के लगभग सम्पत्ति एकत्रित करना कोई सरल बात न थी, जो चटपट एकत्र कर लेता।

वर्षा के दिन थे। रात के समय बिस्तर पर पडा हुआ मम्मन सेठ यही सोच रहा था कि किस प्रकार बैल की जोडी का दूसरा बैल बने। सहसा उसे ध्यान हुआ कि वर्षा हो रही है और नदी में पूर है। नदी मे लकडियाँ बह कर आती होंगी। मैं पडा पडा क्या करता हूँ। नदी से लकडियाँ ही क्यों न निकाल लाऊँ! दस पाँच रुपये की भी लकडियाँ मिल गई, तो क्या कम होंगी!

जिसकी इच्छा बढ़ी हुई है, वह चाहे जैसा बडा हो और स्वयं को चाहे जैसा प्रतिष्ठित मानता हो, लेकिन उसे मम्मन सेठ

की तरह किसी कार्य के करने मे विचार या संकोच न होगा। फिर चाहे वह कार्य उसकी प्रतिष्ठा के अयोग्य ही क्यो न हो!

मम्मन सेठ नदी पर गया। वह, नदी के बहाव मे आने वाली लकड़ियों को पकड़-पकड़ कर निकालने और एकत्रित करने लगा। जब लकड़ियाँ बोझ भर हो गईं, तब मम्मन सेठ बोझ को सिर पर रख कर घर की ओर चला। चलते-चलते वह राजा के महल के पास आया। उस समय रानी झरोखे की ओर से वर्षा की बहार देख रही थी। संयोगवश उसी समय बिजली चमक उठी। बिजली के प्रकाश में रानी ने देखा कि एक आदमी सिर पर लकड़ियो का बोझ लिये नदी की ओर से चला आ रहा है। यह देख कर रानी ने राजा से कहा—महाराज, आपके नगर मे कैसे-कैसे दुःखी हैं, यह तो देखिये! अन्धेरी रात का समय है, बादल गरज रहे हैं और वर्षा हो रही है, फिर भी यह आदमी लकड़ी का बोझ लिये जा रहा है। यदि यह दुःखी न होता तो इस समय घर से बाहर क्यों निकलता और कष्ट क्यो उठाता! आपको अपनी प्रजा का कष्ट मिटाना चाहिए।

रानी के कहने से राजा ने भी मम्मन सेठ को देखा। 'वास्तव मे यह दुःखी है और इसका दुःख अवश्य मिटाना चाहिए' इस विचार से राजा ने एक सिपाही को बुलाकर उससे कहा कि महल के नीचे जो आदमी जा रहा है, उससे कह दो कि वह सवेरे दरबार मे हाजिर हो।'

सिपाही गया। उसने मम्मन सेठ को राजा की आज्ञा सुनाई। मम्मन सेठ ने कहा—मै महाराज की आज्ञानुसार सवेरे हाजिर होऊँगा।

दूसरे दिन सवेरे, अच्छे कपडे लत्ते पहन कर मम्मन सेठ दरबार में पहुँचा। राजा ने उससे आने का कारण पूछा। मम्मन सेठ ने कहा—आपने रात के समय सिपाही द्वारा मुझे दरबार म हाजिर होने की आज्ञा दी थी। मैं हाजिर हुआ हूँ। राजा ने कहा कि—मैंने तो उस आदमी को हाजिर होने की आज्ञा दी थी जो रात के समय लकडी का बोझ लिये नदी की ओर से आया था। तुम्हारे लिए हाजिर होने की आज्ञा नहीं दी थी। मम्मन सेठ ने उत्तर में कहा—वह व्यक्ति मैं ही हूँ। राजा ने साश्चर्य पूछा—भयकर रात में सिर पर लकडी का गट्ठा रखे हुए नदी की ओर से क्या तुम्हीं चले आ रहे थे?

मम्मन—हाँ महाराज।

राजा—तुम्हे ऐसा क्या कष्ट है, जो उस समय नदी में से लकडी निकालने गय थे? यदि कोई जानवर काट खाता अथवा नदी के प्रवाह में बह जाते तो?

मम्मन—महाराज, मुझे एक बैल की जोड मिलानी है। उसके लिए धन की आवश्यकता है। इसीलिए मैं रात को नदी के बहाव से लकडियाँ निकालने के लिए गया था।

मम्मन सेठ के कथन स राजा ने समझा—बनिये लोग स्वभावत कृपण हुआ करते हैं इसलिए कृपणता के कारण यह सेठ अपने पास से पैसे लगा कर बैल नहीं लाना चाहता, किंतु इधर उधर से पैसे एकत्रित करके उनसे बैल लाना चाहता है। यह विचार कर राजा ने मम्मन सेठ से कहा—बस इसालिए अपने प्राणों को इस प्रकार आपत्ति म डाला था? तुम्हें जैसा भी चाहिए वैसा एक बैल मेरी पशुशाला से ले जाओ।

मम्मन—मेरे यहाँ जो बैल है, उसकी जोड़ का बैल आपके यहाँ नहीं हो सकता।

राजा—मेरे यहाँ वैसा बैल नहीं है, तो खजाने से रुपये लेकर वैसा बैल खरीद लाओ!

मम्मन—महाराज, वैसा बैल मोल भी नहीं मिल सकता।

राजा—तुम्हारा बैल कैसा है, जिसकी जोड़ का बैल मेरी पशुशाला में भी नहीं मिल सकता और मोल भी नहीं मिल सकता! तुम्हारे उस बैल को यहाँ मंगवाओ। मै देखूँगा।

मम्मन—वह बैल यहाँ नहीं आ सकता। हाँ, यदि आप मेरे घर पधारें, तो उस बैल को अवश्य देख सकते हैं।

राजा ने मम्मन सेठ के यहाँ जाना स्वीकार किया। राजा को साथ लेकर मम्मन सेठ अपने घर गया। वह राजा को तह-खाने मे ले गया और स्वर्ण-रत्न का बैल बता कर कहा—महा-राज, मैं इस बैल की जोड़ी मिलाना चाहता हूँ। उस रत्नजटित स्वर्ण-बैल को देखकर, राजा दंग रह गया। वह सोचने लगा कि—इस बैल को बनवाने मे जितनी सम्पत्ति लगी है, उतनी सम्पत्ति से जब इसको सन्तोष नहीं हुआ, तब ऐसा दूसरा बैल पाकर इसे कब सन्तोष होगा।

इस प्रकार विचार कर राजा लौट आया। उसने रानी से कहा कि—रानी, रात के समय तुमने जिस आदमी को सिर पर लकड़ी का गट्ठा लेकर जाते देखा था, वह आदमी यहाँ का एक धनिक सेठ है। उसको और किसी कारण दुःख नहीं है,

किन्तु तृष्णा के कारण दुःखी है। इस विषय में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। उसने ११ करोड़ सोनैया की लागत का एक बैल बनवाया है, जो सोने का है और जिस पर रत्न जड़े हुए हैं। इतनी सम्पत्ति होने पर भी उसकी तृष्णा शान्त नहीं हुई और वह वैसा ही दूसरा बैल बनवाना चाहता है। कौन कह सकता है, कि वैसा दूसरा बैल बनवा लेने पर उसकी तृष्णा शान्त हो जावेगी और वह सुखी हो जावेगा? ऐसा आदमी, जब तक उसकी तृष्णा बढ़ी हुई है, कदापि सुखी नहीं हो सकता।

पूणिया श्रावक

एक समय मगधाधिप महाराजा श्रेणिक ने श्रमण भगवान् महावीर से अपने भावी भव के सम्बन्ध मे पूछा। वीतराग भगवान्-महावीर को राजा श्रेणिक की प्रसन्नता अप्रसन्नता की कोई अपेक्षा न थी। इसलिए राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर मे, भगवान् ने कहा कि—राजन्! यहाँ का आयुष्य पूर्ण करके तुम रत्नप्रभा पृथ्वी यानी नरक मे उत्पन्न होओगे। राजा श्रेणिक ने भगवान् से फिर प्रश्न किया—प्रभो! क्या कोई ऐसा उपाय भी है जिससे मै नरक की यातना से बच सकूँ? भगवान् ने उत्तर दिया—उपाय तो अवश्य है, लेकिन वह उपाय तुम कर न सकोगे। जब श्रेणिक ने भगवान् से उपाय बताने के लिए आग्रह किया तब भगवान् ने उसे ऐसे चार उपाय बताये, जिनमे से किसी भी एक उपाय के करने पर वह नरक जाने से बच सकता था। उन चार उपायों मे से एक उपाय पूनिया श्रावक की सामायिक लेना था।

महाराजा श्रेणिक ने पूनिया श्रावक के पास जाकर कहा—भाइ पूनिया ! तुम मुझ से इच्छानुसार धन ले लो और उसके बदले में मुझे अपनी सामायिक दे दो। राजा के इस कथन के उत्तर म पूनिया श्रावक ने कहा—सामायिक का क्या मूल्य हो सकता है, यह मैं नहीं जानता हूँ । इसलिए जिनने आपको मेरी सामायिक लेना बताया है, आप उन्हीं से सामायिक का मूल्य जान लीजिय।

राजा श्रेणिक फिर भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने भगवान् को पूनिया श्रावक का कथन सुनाकर पूछा—पूनिया श्रावक की मामायिक का क्या मूल्य हो सकता है ? भगवान् ने राजा श्रेणिक से पूछा—तुम्हारे पास इतना सोना है कि जिसकी छप्पन पहाडियाँ (डुगरियाँ) बन जावें, परन्तु इतना धन तो सामायिक की दलाली के लिए भी पर्याप्त नहीं है। फिर सामायिक का मूल्य कहाँ से दोगे ? भगवान् का यह कथन सुनकर राजा श्रेणिक चुप हो गया।

यह घटना इसी रूप में घटी हो या दूसरे रूप में या कथानक की कल्पना मात्र ही हो, किन्तु बताना यह है, कि सामायिक के फल के सामने सासारिक सम्पदा तुच्छ है, फिर वह कितनी भी और कैसी भी क्यों न हो ।

राजा जनक

इच्छा को परिमित करके भी, यथाशक्ति उन पदार्थों में आसक्त नहीं होना चाहिए जो पदार्थ मर्यादा मे रखे गये हैं। मर्यादा मे रखे गये पदार्थों मे, वृद्धि न होनी चाहिए। यदि मर्यादा मे रहे हुए पदार्थों में वृद्धि न की, उनके प्रति निर्ममत्व रहा, तो पदार्थों का सर्वथा त्याग न कर सकने पर भी, वह व्यक्ति एक प्रकार से अपरिग्रही के समान ही माना जावेगा और उसको बहुत अंश मे लाभ भी वैसा ही होगा।

भरत चक्रवर्त्ती छः खण्ड पृथ्वी के स्वामी थे, लेकिन वे उस राज्य-सम्पदा के प्रति ममत्वहीन रहते थे। इस कारण उन्हें कांच-महल में ही केवलज्ञान हो गया। नमीराज के पास समस्त राज्य-सम्पदा विद्यमान थी और वे राज्य भी करते थे, फिर भी 'राजर्षि' कहे जाते थे। इसका कारण यही था कि वे राज्य मे मूर्छित नहीं रहते थे।

नमीराज की ही तरह राजा जनक के विषय मे भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि उनके पास शुकदेवजी ज्ञान सीखने के

लिए गये। उन्होंने जनक के द्वार पर जाकर अपने आने की सूचना जनक के पास भेजी। उत्तर में राजा ने उन्हें द्वार पर ही ठहरे रहने को कहलाया। शुकदेवजी तीन दिन तक जनक के द्वार पर ही ठहरे रहे। चौथे दिन जनक ने उन्हें अपने पास बुलवाया। राजा जनक के सम्मुख जाकर शुकदेवजी ने देखा कि राजा अच्छे सिंहासन पर बैठा है और उस पर चँवर छत्र हो रहा है। शुकदेवजी सोचने लगे कि पिता ने मुझे इसके पास क्या ज्ञान सीखने भेजा है! यह माया में फँसा हुआ है, मुझको क्या ज्ञान देगा!

शुकदेवजी इस प्रकार सोच ही रहे थे कि इतने ही में राजा के पास खबर आई कि नगर में आग लग गई है और नगर जल रहा है। फिर खबर आई कि आग महल तक आ गई है। तीसरी बार खबर आई—आग ने महल का द्वार घेर लिया है। राजा जनक, इन सब खबरों को सुनकर किंचित् भी नहीं घबराये, किन्तु वैसे ही प्रसन्न बने रहे, लेकिन शुकदेवजी चिन्तित हो गये। राजा ने उनसे पूछा—नगर या महल में आग लगने से आपको चिन्ता क्यों हो गई?

शुकदेवजी ने उत्तर दिया—मेरा दण्ड और कमण्डलु द्वार पर ही रखा है। मुझे उन्हीं की चिन्ता है, कहीं वे न जल जावें।

राजा ने उत्तर दिया—मुझको नगर या महल के जलने की भी चिन्ता नहीं है, न दुःख ही है, और आपको दण्ड कमण्डलु की ही चिन्ता हो गई! इस अन्तर का क्या कारण है? यही कि मैं राज्य करता हुआ और नगर तथा महल में रहता

हुआ भी इनसे ममता नहीं रखता, इनको अपना नहीं मानता, और आप दण्ड कमण्डलु को अपना मानते है। आपको आपके पिता ने मेरे पास यही ज्ञान लेने के लिए भेजा है कि जिस प्रकार मै निर्मम रहता हूँ, उसी प्रकार ममतारहित होकर रहो। संसार के किसी भी पदार्थ को अपना मत समझो, न किसी पदार्थ से अपना स्थायी सम्बन्ध मानो किन्तु यह मानो कि आत्मा अजर अमर तथा अविनाशी है और संसार के समस्त पदार्थ नाशवान हैं। इसलिए आत्मा का सांसारिक पदार्थों से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।

शास्त्र में नमीराज विषयक वर्णन भी ऐसा ही है। नमीराज को जब संसार की असारता का ज्ञान हो गया था और वे विरक्त हो गये थे उस समय उनकी परीक्षा करने के लिए इन्द्र ने ब्राह्मण का वेश बना कर उनसे कहा था कि वह देखो तुम्हारी मिथिला नगरी जल रही है! तब नमीराज ने उत्तर दिया था—

सुहं वसामो जीवामो जेसिं मो नत्थि किंचणं।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचणं॥

अर्थात्—मै सुख से रहता हूँ और सुखपूर्वक ही जीवित हूँ, महल और मिथिला नगरी से मेरा कोई सम्बन्ध नही है। मिथिला नगरी के जलने से, मेरा कुछ भी नही जलता है।

तात्पर्य यह, कि मर्यादा मे रहे हुए पदार्थों से भी ममत्व न करना, किन्तु निर्मम रहना। उनकी प्राप्ति से प्रसन्न न होना, न उनके वियोग से दुःख करना।

———

भरत और सुनार

भगवान ऋषभदेव समवसरण में विराजमान थे। द्वादश प्रकार की परिषद् भगवान् का उपदेश श्रवण कर रही थी। भगवान ने अपने उपदेश में कहा—महारम्भी और महापरिग्रही की अपेक्षा, अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही शीघ्र मोक्ष जाता है। भगवान् का यह उपदेश एक सुनार ने भी सुना। उसने सोचा—मेरे पास बहुत थोड़ी सम्पत्ति है, और मैं आरम्भ भी बहुत कम करता हूँ। दूसरी ओर भरत चक्रवर्ती के पास छ खण्ड पृथ्वी का राज्य है, चौदह रत्न हैं, और अनेक प्रकार की सम्पत्ति है, इसलिए वे महापरिग्रही हैं और राजकार्यादि में आरम्भ भी बहुत होता है। इस प्रकार भरत चक्रवर्ती की अपेक्षा मैं अल्पारम्भी, अल्प परिग्रही हूँ, तथा मेरी अपेक्षा भरत चक्रवर्त्ती महारम्भी महापरिग्रही हैं। इसलिए भरत चक्रवर्त्ती से पहले मैं ही मुक्त होऊँगा।

सुनार ने अपने मन में इस प्रकार सोचा। फिर उसने विचार किया कि इस विषय में भगवान् से ही क्यों न पूछूँ।

देखें भगवान् क्या कहते हैं ? इस प्रकार विचार कर सुनार ने अवसर पाकर भगवान् से प्रश्न किया—प्रभो, पहले मेरा मोक्ष होगा, या भरत चक्रवर्त्ती का ? त्रिकालज्ञ भगवान् ने सुनार के प्रश्न के उत्तर मे कहा—पहले भरत चक्रवर्त्ती को मोक्ष होगा। भगवान का उत्तर सुनकर सुनार ने कहा—यह तो आपने पक्षपात की बात कही। आपने उपदेश मे तो यह कहा था कि अल्पारम्भी अल्पपरिग्रही को पहले मोक्ष होगा, और अब आप ऐसा कह रहे है ? भरत चक्रवर्त्ती महा परिग्रही है, और इस प्रकार महारम्भी है, तथा मै इस-इस प्रकार अल्पारम्भी अल्प-परिग्रही हूँ। फिर भी, भरत आपके पुत्र हैं इसलिये आपने उनका मोक्ष पहले बताया, यह पक्षपात नही तो क्या है ?

सुनार की बात के उत्तर मे भगवान् ने कहा—तुम इस विषय मे, स्थूल दृष्टि से जो कुछ दिखता है उसी पर विचार कर रहे हो, लेकिन स्थूल दृष्टि से वास्तविकता को नही देख सकते। मैने जो कुछ कहा है, वह ज्ञान से देख कर कहा है। वास्तव मे भरत महारम्भी महापरिग्रह नही है, किन्तु तुम हो।

भगवान् का कथन सुनार की समझ मे नही आया। उस समय वहाँ भरत चक्रवर्त्ती भी मौजूद थे। भरत ने भगवान् से प्रार्थना की—प्रभो, इसको मै समझा दूँगा। यह कह कर भरत चक्रवर्त्ती उस सुनार को अपने साथ ले गये। उन्होने तेल से भरा हुआ कटोरा सुनार को देकर उससे कहा—इस तेल से भरे हुए कटोरे को लेकर सारे नगर मे घूम आओ। लेकिन याद रखो, अगर इस कटोरे मे से तेल की एक भी बूँद नीचे गिरी, तो तुम्हारी गर्दन उड़ा दी जावेगी। यह कह कर और तेल का

कटोरा देकर, भरत चक्रवर्त्ती ने सुनार को विदा किया। उ होंने सुनार के साथ एक दो सिपाही भी लगा दिये।

तल का कटोरा लेकर सुनार नगर के बाजारो में घूमने लगा। उसके साथ भरत चक्रवर्त्ती के सिपाही लगे ही हुए थे। नगर के सब बाजारों में घूम कर सुनार, तेल का कटोरा लिए हुए भरत चक्रवर्त्ती के पास आया। भरत ने उससे पूछा—तुम नगर के सब बाजारों में घूम आये ?

सुनार—हाँ महाराज, घूम आया।

भरत—इस कटोरे मे से त्तल तो नहीं गिरने दिया ?

सुनार—तेल कैसे गिरने देता ? तल गिरता तो आपके ये सिपाही वहीं गर्दन उड़ा देते, आप तक आने ही क्यों देते ?

भरत—अच्छा यह बताओ कि तुमने नगर के बाजारों में क्या क्या देखा ?

सुनार—मैंने तो कुछ भी नहीं देखा।

भरत—सब बाजारों म घूम कर आ रहे हो, फिर भी तुमने कुछ नहीं देखा ?

सुनार—हाँ महाराज ! मैंने तो कुछ भी नहीं देखा।

भरत—क्यों ?

सुनार—देखता कैसे ? मरी दृष्टि तो इस कटोरे पर थी। मुझे भय था कि कहीं तल न गिर जावे, नहीं तो साथ का सिपाही मेरी गदन उड़ा देगा। इस भय के कारण मेरी दृष्टि

कटोरे पर ही रही, बाजार मे क्या होता है, या क्या है, इस ओर मैने ध्यान भी नही दिया।

भरत—बस यही बात मेरे लिए समझो। यह समस्त ऋद्धि सम्पदा-जिसे तुम मेरी समझ रहे हो—एक बाजार के समान है। मै इस बाजार मे विचरता हूँ, फिर भी मैं इसको अपनी नही मानता, न इसकी ओर ध्यान ही देता हूँ। जिस तरह तुमको सिपाही द्वारा गर्दन उड़ाये जाने का भय था, इसलिए तुम्हारा ध्यान कटोरे पर ही था, बाजार की ओर तुमने नहीं देखा, उसी प्रकार मुझे भी परलोक का भय लगा हुआ है। इसलिए मै भी ऋद्धि-सम्पदा में रचा पचा नहीं रहता हूँ, ऋद्धि-सम्पदा की ओर ध्यान नही देता हूँ किन्तु जिस तरह तुम्हारा ध्यान कटोरे पर था, उसी प्रकार मेरा ध्यान मोक्ष की ओर है। इस कारण मैं चक्रवर्ती होता हुआ भी, भगवान् के कथनानुसार तुमसे पहले मोक्ष जाऊँगा। इसके विरुद्ध तुम्हारे पास ऐसी सम्पत्ति नही है, लेकिन तुम्हारी लालसा बढ़ी हुई है। जिसकी लालसा बढ़ी हुई है, वही महारम्भी महापरिग्रही है, फिर चाहे उसके पास कुछ हो अथवा न हो या बहुत थोड़ा हो। इसके विपरीत जिसके पास बहुत सम्पत्ति है, फिर भी यदि वह उस सम्पत्ति मे मूर्छित नहीं रहता है, उसकी लालसा बढ़ी हुई नही है, किन्तु सांसारिक पदार्थों मे रहता हुआ भी जल में कमल की तरह उनसे अलग रहता है, तो वह अल्पारम्भी अल्पपरिग्रही है। इसीलिए भगवान् ने तुम्हारे लिए मोक्ष न बता कर, पहले मेरे लिए मोक्ष बताया।

भरत चक्रवर्त्ती के इस कथन से, सुनार समझ गया।

उसने जाकर भगवान से क्षमा माँगी, और इस प्रकार वह पवित्र हुआ।

मतलब यह, कि मोक्ष प्राप्ति अप्राप्ति का कारण सांसारिक पदार्थों का पास होना, न होना नहीं है, किन्तु ममत्व का होना, न होना ही मोक्ष प्राप्त न होने या होने का कारण है। इस लिए चाहे परिग्रह का सर्वथा त्याग न हो, केवल इच्छापरिमाण व्रत ही लिया गया हो, फिर भी यदि शेष परिग्रह से जल में कमल की तरह अलिप्त रहता है, तो वह उसी भव से मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। इसके विरुद्ध चाहे अपरिग्रह व्रत स्वीकार भी किया हो, लेकिन इच्छा मूर्छा बढ़ी हुई हो, इच्छा मूर्छा न मिटी हो, तो वह संसार में पुन पुन जन्म-मरण करता है और नरक तिर्यञ्च गति में भी जाता है।

दिशा-पूजन

राजगृही के वेणुवन में सिगाल नामक एक सद्गृहस्थ रहता था। उसने अपने पुत्र को शिक्षा दी कि यदि तुम कुलधर्म की रक्षा करना चाहो तो छह दिशाओं की पूजा करते रहना।

पुत्र पितृभक्त था। वह पिता की बात का मर्म तो समझा नहीं, मगर दिशाओं की पूजा करने लगा। वह चारों दिशाओं में तथा ऊपर और नीचे फूल और पानी उछाल देता और समझता कि मैंने कुलधर्म का पालन किया।

एक बार उसे कोई महात्मा मिले। उन्होंने फूल और पानी उछालते देखकर पूछा—यह क्या करता है? तब उसने कहा—मैं पिता के आदेशानुसार छह दिशाओं की पूजा करता हूँ।

महात्मा बोले—तुझे दिशाओं की पूजा करना नहीं आता। जो पूजा तू कर रहा है वह उन्नति का साधन नहीं है।

लड़का सरलहृदय था। उसने कहा—मैं नहीं समझा तो आप समझा दीजिए। जैसा आप कहेंगे, वैसा करूँगा।

महात्मा बोले—पहले तू छह दिशाओं को समझ ले। माता, पिता और धर्मगुरु पूर्व दिशा हैं। विद्यागुरु दक्षिण दिशा हैं। स्त्री पश्चिम दिशा है। सगे-सम्बन्धी उत्तर दिशा हैं। ऊर्ध्व दिशा सन्त महात्मा हैं और अपन से नीचे नौकर-चाकर आदि अधोदिशा हैं। इनकी पूजा करना ही छह दिशाओं की पूजा करना कहलाता है।

थोड़े शब्दों में इस व्याख्या को याद रक्खे तो तेरा इस लोक और परलोक में कल्याण होगा।

माता पिता पूर्वदिशा हैं और इनकी पूजा पाँच प्रकार की है, क्योंकि माता पिता, पुत्र पर पाँच प्रकार का अनुग्रह करते हैं। इनकी पूजा का अर्थ है—इनकी सेवा सुश्रूषा करना, मान सम्मान करना और कुलधर्म का पालन करते हुए मर्यादा में चलना। दो भाई हों तो उनके हिस्से की सम्पत्ति आप ही न हड़प जाना, उनका हिस्सा उन्हें देना। बहिन सुसराल चली गई हो तो उसके लिए भी कुछ भाग लगा देना।

सचमुच कुलीन पुत्र वही कहलाता है जो पिता की सम्पत्ति को मौज मजा मौजा में नहीं उड़ा देता, किन्तु ऐसी व्यवस्था करता है जिससे धर्म की भी रक्षा हो। ऐसा पुत्र पिता का आशीर्वाद प्राप्त करता है। पिता का आशीर्वाद, पिता के धर्म का पालन करने से ही मिलता है। पिता, पुत्र का पालन पोषण करता है, शिक्षित दीक्षित बनाता है, विवाह शादी करके ऐसी

व्यवस्था करता है कि जिससे पुत्र बाद में भी सुखी रह सके। अतएव पिता की पूजा न करना अनुचित है। मगर पूजा का अर्थ यह नहीं कि उसके सामने धूप जला दी जाय और फूल चढ़ा दिये जाएँ। पिता के प्रति सदैव आदर का भाव रखना और कभी उनकी अवज्ञा न करना, पिता की सच्ची पूजा है।

दक्षिण दिशा विद्यागुरु है। विद्यागुरु का भी बड़ा उपकार है। वह एक तरह से पशु से मनुष्य बनाते हैं। हृदय मे विद्या की ज्योति जगाते हैं। अतएव विद्यागुरु का सन्मान-सत्कार करना, उनको अन्न-वस्त्र आदि देना, शक्ति के अनुसार धन से उनकी सहायता करना उनकी सच्ची पूजा है। स्त्री पश्चिम दिशा है। स्त्री की पूजा का अर्थ यह नहीं कि उसके पैरों मे मस्तक रगड़ा जाय या उसे हाथ जोड़े जाएँ। स्त्री का सन्मान करना, कभी अपमान न करना ही स्त्री की पूजा है। मनु ने कहा है:—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते,
रमन्ते तत्र देवताः।

जहाँ नारी का सन्मान किया जाता है, अपमान नहीं किया जाता है, वह स्थान देवलोक बन जाता है। शास्त्र में स्त्री को देवानुप्रिया, धर्मशीला, धर्मसहायिका, कहकर संबोधन किया गया है। जो धर्म की सहायिका है, उसका अपमान करना कहाँ तक उचित है? स्त्री का अपमान करना मानव-जाति की महत्ता का अपमान करना है। अतएव अपनी पत्नी का कदापि अपमान न करके उसकी सुख-सुविधा की चिन्ता रखना स्त्री-पूजा है।

जो लोग अपनी पत्नी के प्रति दुर्व्यवहार करते हैं, उन्हें उसका बदला पत्नी की ओर से मिलता है। आप कठोर रहेंगे तो

क्या आपकी छाया कठोर नहीं रहेगी ? फिर स्वयं कड़े बने रह कर संसार को कोमल कैसे बना सकते हो ? आप स्त्री का सन्मान करेंगे तो वह आपकी गृहस्थी का उत्तम प्रबन्ध करेगी।

सगे सम्बन्धी उत्तर दिशा हैं। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने सम्बन्धी और स्नेही जनों पर समभाव रखता हुआ उनके सुख दुःख में सम्मिलित रहे, उन्हें आपत्ति से बचावे। यही उनकी पूजा है। अपने कुटुम्बी जनों को बोझ न समझे। उनकी पूरी तरह सार सम्भाल करे। उन्हें अपने ही समान समझे। ऐसा होने पर वे प्राणों को संकट में डालकर भी तुम्हारी सहायता करेंगे। कुटुम्बियों और सगे सम्बन्धियों को अपनाये रहने से समय पर उनसे बड़ी सहायता मिलती है।

प्राचीन काल के समधी (व्याई) यह समझते थे कि हमने अपनी पुत्री देकर पुत्र लिया है और पुत्री लेकर पुत्र दिया है। दोनों, दोनों घरों की जिम्मेवरी समझते थे। ऐसी भावना थी तो आनन्द रहता था। मगर आज वह आनन्द कहाँ नजर आता है ? लडकी वाले ने अच्छी पहरावणी दे दी, तब तो गनीमत है, नहीं तो लडके वाला उलटा वैरी बन जाता है।

नीची दिशा नौकर चाकर आदि हैं। लोग उन्हें हल्की और अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं, मगर इन लोगों की सेवा पर ही बड़े कहलाने वालों की जिन्दगी निर्भर है।

पहला नौकर भंगी है। कठोर से कठोर सेवा भंगी करता है। गन्दगी तो आप फैलाते हैं और उसे साफ करता है भंगी। प्रकृति से वह भी आपके ही समान है। उसके कुल में भी हरि

केशी जैसे महान् पुरुषों ने जन्म लिया है। वह भी आपकी ही तरह धर्म का अधिकारी है।

दूसरे नौकर-चाकर भी आपको सुख पहुँचाते हैं। स्वयं कष्ट सहते हैं, मगर आपको कष्ट से बचाते हैं। अतएव उन पर भी स्नेह की दृष्टि होनी चाहिए। इस प्रकार महत्तर, पानी वाला, रसोई वाला आदि कोई भी नौकर क्यों न हो, उसका उचित सम्मान करना अधोदिशा की पूजा करना है। स्मरण रखना चाहिए कि नौकर-चाकर आदि जो नीचे समझे जाते हैं, उन्हीं पर तुम्हारी ऊँचाई टिकी है। आकाश से बातें करने वाला महल पृथ्वी के सहारे ही खड़ा होता है। आप नौकर के सुख-दुख का विचार करेंगे तो वे आपका काम भी ज्यादा करेंगे और आपको अधिक प्रसन्न और सुखी रखने की चेष्टा करेंगे। आपका काम करता-करता कोई नौकर बीमार हो जाए और आप उसकी सार-सँभाल न करें और ऊपर से वेतन काट लें तो यह बेवफ़ाई है। मालिक वफ़ादार रहेगा तो नौकर भी वफ़ादार रहेगा।

छठी ऊर्ध्व दिशा है। यह दिशा मनुष्य को ऊँचा उठाने वाली है। श्रमण, निर्ग्रन्थ, साधु, संन्यासी आदि किसी भी शब्द से कहो, परन्तु जिन्होंने संसार त्याग दिया है, मोह-ममता का परित्याग कर दिया है, उनकी सेवा-पूजा करना ऊर्ध्वदिशा की पूजा है। उनकी पूजा का अर्थ यह है कि उनको यथोचित नमस्कार-वन्दन करना, उन पर श्रद्धा रखना और जब वे भिक्षा के लिए आवें तो भोजन-पानी आदि धर्म-सहायक वस्तुएँ देकर उनका सहायक बनना।

इस प्रकार गृहस्थों से आदर सम्मान लेने वाले साधु का धर्म क्या है ? साधु पर उत्तरदायित्व है कि वह अपने भक्तों को सच्चा कल्याण का मार्ग दिखलावे। उन्हें किसी प्रकार का सन्देह हो तो शास्त्र के अनुसार उसका निवारण करें। ऐसा न हो कि —

दस बोगें दस बोगले, दस बोगे के बच्चे।
गुरुजी बैठे गप्पें मारें, चेले जानें सच्चे॥

शिष्यों को आत्मा, परमात्मा, नीति, धर्म, संसार, मोक्ष, गृहस्थ धर्म आदि का स्वरूप समझाना धर्मगुरु का कर्त्तव्य है।

यह छह दिशाएँ हैं। इनकी यथाविधि पूजा करते रहने से कोई बेपरवाह नहीं होगा और सब अपने अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहेंगे। पिता पुत्र, गुरु शिष्य, पति पत्नी, स्वामी-सेवक आदि सब का कुशल अक्षत रहेगा।

ज्ञान और क्रिया

उदयसेन नामक एक राजा था। उसके दो पुत्र थे वीरसेन और सूरसेन। वीरसेन सब इन्द्रियों से परिपूर्ण था और सूरसेन अन्धा था।

विवेकवान् पुरुष, जो जिस काम के योग्य होता है उसे वही काम सौंपते हैं। तदनुसार उदयसेन ने अपने दोनो पुत्रो को अलग-अलग प्रकार की शिक्षा दी। अंधे मनुष्य प्रायः संगीत-कला मे निपुण होते हैं। भक्त-कवि सूरदास के विषय मे कहा जाता है कि वे अंधकवि थे। उदयसेन ने सूरसेन को गायन-कला सिखलाई और वीरसेन को क्षत्रियोचित युद्धकला सिखलाई।

सूरसेन ने जब सुना कि वीरसेन को तो युद्धकला सिखलाई जा रही है और मुझे वह कला नहीं सिखलाई जा रही है। तो वह विचार करने लगा—मै कायर ही रह जाऊँगा! फिर क्षत्रिय कुल में जन्म लेने से मुझे क्या लाभ हुआ?

इस प्रकार विचार करके वह अपने पिता के पास पहुँचा और कहने लगा—'पिताजी ! मैं भी यह युद्ध कला सीखना चाहता हूँ।' पिता ने विचार किया कि जब इसका हृदय युद्ध-कला की ओर प्रेरित हुआ है तो सिखलाने में क्या हर्ज है ? बालक की मनोवृत्तियों को, नैसर्गिक प्रेरणाओं को दबा रखना उचित नहीं है। इस प्रकार विचार कर उदयसेन ने युद्धकला सिखलाने वाले के सिपुर्द कर दिया। युद्धकला सिखलाने वाला योग्य और होशियार था। अतएव उसने सूरसेन को बाणविद्या सिखला दी। मगर सूरसेन अन्धा था, अत वह केवल शब्द के आधार पर ही बाण मार सकता था।

धीरे धीरे दोनो कुमार योग्य हो गए। कुछ दिनों बाद युद्ध करने का अवसर आ पहुँचा। तब वीरसेन ने अपने पिता से कहा—पिताजी ! आपने हम योग्य बनाया है और हम योग्य बन भी गये हैं, ऐसी स्थिति मे आपका युद्ध में जाना उचित प्रतीत नहीं होता। इस बार आप हमे ही युद्ध में जाने की आज्ञा दीजिए।

वीरसेन की वीरोचित बात सुनकर पिता को बहुत प्रसन्नता हुई। उसने सोचा—ऐसे अवसर पर पुत्र को घर मे रखना उचित नहीं है। मेरे सामने युद्ध कर लेने से इसका साहस भी बढ जायगा और मेरे दिल में भी पुत्र के विषय में कोई खटका नहीं रह जायगा। यह सोचकर उदयसेन ने वीरसेन को युद्ध मे जाने की स्वीकृति दे दी।

इसके बाद सूरसेन भी पिता के पास गया और उसने भी युद्ध में जाने की आज्ञा माँगी। पिता ने उसे समझाया—बेटा,

तू आँखों से हीन है। तेरा युद्ध मे जाना उचित नहीं है। तू यहीं रह और अपने भाई की विजयकामना कर।

सूरसेन मन ही मन सोचने लगा—मेरा भाई युद्ध में जाएगा तो उसकी प्रशंसा होगी और मुझे कोई टके सेर भी नहीं पूछेगा। इस प्रकार के विचारों से प्रेरित होकर उसने युद्ध में जाने के लिए राजा से बहुत अनुरोध किया। उसके अनुरोध को टाल न सकने के कारण राजा ने उसे भी जाने की आज्ञा दे दी।

सूरसेन युद्ध में गया। अंधा होने के कारण वह देख तो कुछ सकता नहीं था, जब शब्द सुनता तो बाण चला देता और जब शब्द न सुन पाता तब बाण भी नहीं चला पाता था। आखिर शत्रु समझ गये कि यह अधा है और शब्द सुने बिना वह बाण नहीं चला सकता। इस तरह समझ लेने पर शत्रुओ ने चुप-चाप रहकर उसे पकड़ लेने की योजना बना ली और बिना शब्द किये उसके पास जाकर उसे पकड़ भी लिया।

इधर वीरसेन को पता चला कि मेरा भाई सूरसेन शत्रुओं द्वारा पकड़ लिया गया है। इससे वीरसेन का क्रोध और भड़क उठा। उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर युद्ध किया और अन्त में सूरसेन को छुड़ा लाया। जब सूरसेन लौट कर पिता के पास आया तो पिता ने प्यार के साथ उससे कहा—बेटा, मैं समझ गया कि तू वीर है। फिर भी तू वीरसेन की बराबरी नहीं कर सकता।

सूरसेन ने भी अपनी स्थिति समझ ली। उसने कहा—ठीक है, पराक्रम होने पर भी नेत्रों के अभाव में वीरसेन की बरा-

बरी नहा की जा सकती। अगर वीरसेन न आये होते तो मैं शत्रुओं के हाथों में पड़ हो चुका था।

पिता ने कहा—अच्छा ही हुआ। यह उदाहरण ज्ञानियों के काम आएगा।

इसी प्रकार जिनको ज्ञान नेत्र प्राप्त नहीं हैं, वे त्याग भी करें, धन और भोगों से विरक्त भी रहें, तब भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। अतएव क्रिया को ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

और इसी तरह ज्ञान को भी क्रिया की आवश्यकता है। वीरसेन नेत्रवान होते हुए भी अगर पराक्रम न करता और टुकुर टुकुर देखा करता तो क्या उसे सफलता प्राप्त हो सकती थी? नहीं। सिद्धि ज्ञान और क्रिया—दोनों के सहयोग से ही प्राप्त होती है।

मर्त्यलोक-स्वर्गलोक

कहते हैं—एक बार इन्द्र ने गोपियो की भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें स्वर्ग मे लाने के लिए विमान भेजा। इन्द्र ने कहलाया—तुमने नन्दलाल की बड़ी भक्ति की है, इसलिए चलो। तुम्हे स्वर्ग मे रक्खा जायगा। इसके उत्तर मे, गोपियो ने भक्तो की वाणी मे कहा:—

> व्रज व्हालुं म्हारे वैकुण्ठ नथी जावुं।
> त्यां नन्द नो लाल क्यांथी लावुं ॥ व्रज० ॥

गोपियाँ बोलीं—हमारे सामने स्वर्ग की बात मत कहो। हमे तो व्रज ही प्रिय है। स्वर्ग मे नन्दलाल को कैसे पाएँगे ?

विमान लाने वाले देवों ने कहा—क्या तुम सब पागल हो गई ? विचार तो करो, कहाँ व्रज और कहाँ स्वर्ग ? दुष्काल पड़े तो यहाँ तिनका भी न मिले ! यहाँ सिंह, वाघ आदि का भय अलग ही बना रहता है। फिर नाना प्रकार के रोग यहाँ सताते है और मृत्यु सिर पर नाचती रहती है। स्वर्ग में किसी

प्रकार का भय नहीं है, सब तरह का आनन्द ही आनन्द है। वहाँ रत्नों के महल है और इच्छा होते ही अमृतरस से पेट भर जाता है। किसी प्रकार का परिश्रम नहीं करना पड़ता और सब तरह के सुख मौजूद हैं। फिर स्वर्ग छोड कर व्रज में रहना क्यों पसन्द करती हो?

गोपियों ने उत्तर दिया—हम पागल नहीं हैं, पागल हुए हो तुम! यह तो बतलाओ कि तुम विमान लेकर हमें ले जाने को क्यो आये हो? हमने नन्दलाल की भक्ति की है, इसीलिए तो लेने आये हो न? अब तुम्हीं सोचो कि जिस भक्ति के कारण तुम हम स्वर्ग मे ले जाने को आए हो वह भक्ति बड़ी या स्वर्ग बड़ा? अगर भक्ति बड़ी है तो फिर भक्ति छोड कर स्वर्ग में क्यों आएँ? हमें अपनी भक्ति बेचना पसन्द नहीं है।

गोपिया का उत्तर सुनकर देव चुप रह गये। बोले—तुम भाग्यशालिनी हो। वास्तव म हमारा स्वर्ग तुम्हारे व्रज के सामने किसी बिसात में नहीं है। तुम्हारी भक्ति और श्रद्धा धन्य है। हमारा शरीर रूप रग म सु दर है, पर किस काम का? इस शरीर से तुम्हारी जैसी भक्ति नहीं हो सकती।

मित्रो! स्वर्ग के सुखों का वर्णन सुनकर ललचाओ मत। स्वर्ग की खेती मर्त्यलोक में ही होती है। धर्मसाधना के लिए यही लोक उपयुक्त है। धर्म साधना की दृष्टि से मनुष्य, देवों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। मुसलमानो के हदीसों में कहा है—

जब अल्लाह दुनियाँ को बना चुके तो उन्होंने फरिश्तों को बुला कर कहा—'तुम इन्सान की बन्दगी करो।' अल्लाह का

हुक्म भला कैसे टाला जा सकता था ? दूसरे फरिश्तो ने तो बंदगी कर ली मगर एक फरिश्ते ने अल्लाह का हुक्म नहीं माना। उसने कहा—आप ऐसा हुक्म क्यों फरमाते हैं ? कहाँ हम फरिश्ता और कहाँ इन्सान ! हम फरिश्ता होकर इन्सान की बंदगी क्यों करें ? हम पाक हैं, इन्सान नापाक है।

इस फरिश्ते की बात सुनकर अल्लाह मियाँ ने उसे खूब फटकारा। तब कहीं उसकी अक्ल ठिकाने आई !

देवगण, उसके पैरों में अपना मस्तक झुकाते हैं, जिसके हृदय में निरन्तर धर्म का वास होता है।

देवा वि तं नमंसंति,
जस्स धम्मे सया मणो।

दान की सफलता—मीठी बोली

पूज्य श्रीलालजी महाराज कहा करते थे,—'यदि दान देने वाला प्रियवादी न हो, प्रिय वचन बोल कर दान न दे किन्तु अप्रिय वचन बोल कर दान दे तो उसका दान देना मिथ्या हो जाता है।' इस सम्बन्ध मे व एक दृष्टान्त दिया करते थे। वह इस प्रकार है —

कृष्णजी ने एक बार व्यापक रूप से दान देने का विचार किया। जब विचार किया तो उसे अमल में लाने में क्या देर हो सकती थी? तुरत दानशाला खुलवाई और दान देना प्रारम्भ कर दिया। दान देने का कार्य उन्होंने अर्जुन को सौंपा। अर्जुन की देखरेख में दान का काय चलने लगा। जो भी ऋषि ब्राह्मण और भिक्षुक आदि आते, सभी को दान दिया जाता। महाराज श्रीकृष्ण की दानशाला की प्रशसा दूर-दूर तक फैल गई और बहुत से ऋषि, ब्राह्मण तथा भिक्षुक आ आकर दान

लेने लगे। धीरे धीरे दान लेने वालों की संख्या इतनी बढ़ गई कि अर्जुन देते-देते थक जाता और परेशान हो जाता।

एक दिन अर्जुन ने विचार किया—इस देश मे कितने मँगते हो गये है! दिन भर तांता लगा रहता है और मुझे घड़ी भर भी चैन नहीं मिल पाता। और उसी दिन से अर्जुन की बोली बदल गई। अब तक वह बड़ी मिठास के साथ, आदर-भाव से दान दिया करता था, किन्तु अब वह दान लेने वालो से कटुक शब्द कहने लगा। अर्जुन का यह व्यवहार देख कर जो ऋषि या ब्राह्मण आदि आदर के साथ दान लेने वाले थे, उन्होने आना बन्द कर दिया। केवल वही लोग आते रहे जो आदर-अनादर का कुछ भी विचार न करके दान लेते थे।

कृष्णजी को इस बात का पता चला कि मेरी दानशाला में सम्माननीय ऋषि आदि नही आते हैं। पता लगाने पर उन्हे यह भी मालूम हुआ कि अर्जुन उन्हे कटु शब्द कहते थे, इस कारण उन्होंने आना छोड़ दिया है। श्रीकृष्ण ने विचार किया—अर्जुन मेरा सखा होकर भी नहीं समझा! उसे समझाना उचित है।

एक दिन कृष्णजी अर्जुन को साथ लेकर वन के दृश्य देखने के बहाने वन मे गए। चलते-चलते वे किसी पर्वत के पास जा पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने अपनी चाल इतनी तेज कर दी कि अर्जुन उनके बराबर न चल सका। अर्जुन ने बहुत चेष्टा की कि मैं कृष्णजी के साथ चलता रहूँ मगर वह योगेश्वर कृष्ण की बराबरी कब कर सकता था? अर्जुन हाँफने लगा। उसके देखते

ही देखते कृष्णजी इतनी दूर निकल गये कि नजर ही न आने लगे। कृष्णजी जाकर पर्वत की एक गुफा में बैठ गए।

पर्वत पर पहुँच कर अर्जुन कृष्णजी को खोजने लगा। उसे कृष्णजी तो मिले नहीं, एक गुफा में एक ऋषि विराजमान नजर आए। ऋषि की आकृति अद्भुत थी। उनका सारा शरीर तो सोने का था किन्तु मुख सुअर का था। अर्जुन को यह देख कर बड़ा आश्चर्य और कुतूहल हुआ। अर्जुन ने उनके पास जाकर प्रश्न किया—आप कौन हैं ? यहाँ क्यों तपस्या कर रहे हैं ? आपका सारा शरीर सोने का और मुख सुअर का क्यों है ? आपत्ति न हो तो कृपा करके मेरा कुतूहल दूर कीजिए।

अर्जुन के प्रश्न सुनकर ऋषि हँसे और कहने लगे—मेरा खयाल था कि मेरी आकृति ही तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दे देगी। वह उत्तर दे तो रही है, मगर तुम उसे समझे नहीं। इसलिए वचन कह कर समझाता हूँ। सुनो—

मैंने दान देने में कुछ भी कसर नहीं रक्खी थी। मैं याचकों को इच्छानुसार दान दिया करता था। उस दान के फल से मेरा शरीर कञ्चन का हुआ। किन्तु मैंने मधुर वचन नहीं दिये, बल्कि दान लेने वालों को कटुक और अप्रिय शब्द कहे। फल तो इसका भी होना चाहिए न ? इसके फलस्वरूप मेरा मुख सुअर का हो गया। मैं अपनी इस विषम स्थिति का निवारण करने के लिए तप कर रहा हूँ। आप समझ गये ?

ऋषि की बात सुनकर अर्जुन समझ गया—यह ऋषि और कोई नहीं, श्रीकृष्णजी ही हैं। यही ऋषि बन कर बैठे हैं।

अर्जुन ने पैरो में पड़ कर कहा—दयानिधान, अब प्रकट होओ। दान आपने दिया है, मैंने तो कुछ दिया नहीं; अलबत्ता कटुक वचन मैंने कहे हैं। ऐसी स्थिति मे क्या मेरा सारा ही शरीर सुअर का होगा?

अर्जुन की बात सुनकर कृष्णजी हँस पड़े। उन्होंने पूछा—अब समझ तो गये हो न?

अर्जुन ने कहा—आप जैसे समझाने वाले हों तो कौन नही समझेगा!

शास्त्रो मे दानधर्म का बड़ा वर्णन है। जहाँ दान देने का वर्णन आता है वहाँ 'सक्कारित्ता' 'सम्माणित्ता' पद भी आते हैं। अर्थात् सत्कार करके और सन्मान करके दान दिया जाना चाहिए। दान के पाँच भूषण हैं। पहला भूषण है हर्ष होना। दान का सुअवसर मिलने पर दाता को ऐसा हर्ष हो कि हर्षाश्रु निकल पड़ें। दूसरा भूषण रोमाञ्च होना है। दाता का आनन्द से रोम-रोम विकसित हो जाना चाहिए। तीसरा भूषण बहुमान है। पात्र को बहुमान के साथ दान देना चाहिए। चौथा भूषण नम्र और प्रिय वचन हैं। पाँचवाँ भूषण है—पात्र की प्रशंसा करना और अपने दान को तुच्छ दिखलाना।

जैसे आभूषणों से शरीर की शोभा अधिक बढ़ जाती है, उसी प्रकार इन पाँच भूषणो से दान की शोभा बढ़ जाती है।

नम्रता

महाभारत की कथा है। युधिष्ठिर ने भीष्म से कहा—अब आपका अन्तिम समय नजदीक आ पहुँचा है। इस समय में आपसे एक बात और पूछना चाहता हूँ। आपने धर्म और राजनीति की अनेक बातें मुझे सिखलाई हैं, पर एक बात पूछनी रह गई है। वह अब पूछना चाहता हूँ।

भीष्म ने उत्तर दिया—जो पूछना चाहो, खुशी से पूछो। तुम्हारी तिजोरी में शिक्षा की जितनी बातें भर जाऊँगा, उतनी ही सुरक्षित रहेंगी।

युधिष्ठिर—कोई बहुत प्रबल शत्रु आक्रमण कर दे तो राजनीति की दृष्टि से क्या करना चाहिए?

भीष्म—इसके लिए मैं एक प्राचीन संवाद सुनाता हूँ। उसे ध्यान पूर्वक सुनो—

सरित्पति समुद्र सब नदियों के व्यवहार से प्रसन्न थे, मगर वेत्रवती नदी के वर्त्ताव से असन्तुष्ट थे। एक दिन समुद्र ने उससे कहा—तू बहुत कपटी नदी है। तू निष्कपट होकर कभी मेरी सेवा नहीं करती।

वेत्रवती नदी ने कहा—मेरा अपराध क्या है?

समुद्र—तेरे किनारों पर बेंत के झाड़ बहुत हैं, मगर तू ने आज तक बेंत का एक टुकड़ा भी लाकर नहीं दिया। और-और नदियाँ तो अपने-अपने किनारों की सभी वस्तुएँ मुझे लाकर देती हैं, पर तू बड़ी कपटिन है! तू ने एक भी बेंत आज तक लाकर नहीं दिया।

समुद्र का कथन सुन कर वेत्रवती नदी ने कहा—इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है। जब मैं जोश के साथ दौड़ कर आती हूँ, तब सारे बेंत के झाड़ नीचे झुक कर पृथ्वी के साथ लग जाते हैं, और जब मेरा पूर उतर जाता है तो फिर ज्यों के त्यों सिर उठा कर खड़े हो जाते हैं। इस कारण मैं एक भी बेंत नहीं तोड़ पाती। अब आप ही बतलाइए कि इसमें मेरा क्या अपराध है?

समुद्र ने कहा—ठीक है, मैं यह बात जानता हूँ। मगर मेरे साथ तेरा जो संवाद हुआ है, वह दूसरे लोगो के लिए हितकारी सिद्ध होगा।

यह संवाद सुनाकर भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा—युधिष्ठिर, अपने से अधिक बलवान् शत्रु का सामना करना पड़े तो क्या करना चाहिए, इस विषय मे बेंत से शिक्षा लो। प्रबल

शत्रु के सामने झुक जाना ही उचित है। बेंत नदी के पूर के सामने झुक जाता है और अपनी जड नहीं उखड़ने देता। और जब पूर उतर जाता है तो फिर सीधा खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार अपनी जड मजबूत रख कर प्रबल शत्रु के सामने झुक जाना उचित है। जो बहुत सपाटे के साथ आता है वह बहुत देर तक नहीं ठहर सकता।

भीष्म ने फिर कहा—युधिष्ठिर, तुम अजातशत्रु हो। तुम्हें अपने जीवन में ऐसा अवसर देखना ही नहीं पड़ेगा, लेकिन यह शिक्षा भविष्य में दूसरों के काम आएगी।

एकावधान

द्रोणाचार्य ने कौरवों और पाण्डवो को धनुर्विद्या सिखाई थी। एक दिन वे अपनी शिष्यो की परीक्षा लेने लगे। उन्होंने एक कड़ाह मे तेल भरवाया और अपने सब शिष्यो को एकत्र किया। उस तेल के कड़ाह मे एक खम्भा खड़ा किया गया और खम्भे पर चन्दा वाला मोर का पंखा लगा दिया गया।

इतना सब कुछ करने के पश्चात् आचार्य ने घोषणा की—तेल भरे कड़ाह में प्रतिबिम्बित होने वाले मोर के पंख को देख कर जो शिष्य पंख के चन्दा को बाण से भेद देगा, उसी ने मेरी पूर्ण शिक्षा ग्रहण की है। वही परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ समझा जायगा।

दुर्योधन को अभिमान था। वह सब से पहले चन्दा भेदने के लिए आगे आया। उसने बाण चढ़ाया। इसी समय द्रोणाचार्य ने पूछा—तुम्हे कड़ाह के तेल मे क्या दिखाई देता है?

दुर्योधन ने कहा—मुझे सभी कुछ दिखाई दे रहा है। खम्भा, मोर पख, मैं, आप और मेरे आसपास खड़े हुए, मेरी हँसी करते हुए यह सब दिखाई दे रहे हैं। इसके अतिरिक्त मैं उस चन्दा को भी देख रहा हूँ, जो मेरे बाण का लक्ष्य है।

दुर्योधन का उत्तर सुन कर द्रोण ने कहा—चल, रहने दे। तू परीक्षा में सफल न होगा। पहले तू अपना विकार दूर कर।

मगर अभिमानी दुर्योधन नहीं माना। उसने हर्ष क साथ, मोर-पख के चन्दे को, तेल भरे कड़ाह में देखते हुए बाण मारा। किन्तु वह लक्ष्य को भेद न सका। इसी प्रकार एक एक करके सभी कौरव इस परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहे।

कौरवों के पश्चात् पाडवों की बारी आई। युधिष्ठिर आदि चारों पाडवों ने अर्जुन को कहा—हम सबकी तरफ से अकेले अर्जुन ही परीक्षा देंगे। अगर अर्जुन इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए तो हम सभी उत्तीर्ण हैं। अगर अर्जुन उत्तीर्ण न हो सके तो हम लोग भी अनुत्तीर्ण ही हैं।

आचार्य द्रोण पाडवों की बात सुन कर प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—परीक्षा म इन्हे उत्तीर्णता मिले या न मिले, मगर इन पाँचों का ऐक्य प्रशसनीय है।

आखिर अर्जुन कड़ाह के पास आया। द्रोणाचार्य ने स्नेह से गद्गद होकर कहा—'मेरी शिक्षा की इज्जत तेरे हाथ है।'

अर्जुन ने विनम्रता प्रकट करते हुए कहा—गुरुदेव, अगर मैंने सच्चे अन्तःकरण से आपकी सेवा की होगी, आपका स्नेह सम्पादन किया होगा, तो आपकी कृपा से मै उत्तीर्ण होऊँगा।

इस प्रकार अर्जुन ने तेल के कड़ाह मे मोरपंख देखते हुए बाण साधा। द्रोणाचार्य ने पूछा—तुम्हे कड़ाह मे क्या दीख पड़ता है ?

अर्जुन बोला—मुझे मोरपंख का चन्दा और अपने बाण की नोक ही दिखाई दे रही है। इसके सिवाय और कुछ भी नजर नही आता।

आचार्य ने कहा—तेरी तरफ से मुझे आशा बँधी है। बाण चला!

गुरु की आज्ञा पाकर अर्जुन ने बाण लगाया। बाण लक्ष्य पर लगा और मोरपंख का चन्द्रा भिद गया।

इसी विद्या के प्रताप से अर्जुन ने पांचाली के स्वयंवर में राधाबेध साधा था और पांचाली (द्रौपदी) प्राप्त की थी।

चन्दा बेध देने से पाडवो को तो प्रसन्नता हुई ही, साथ ही द्रोणाचार्य भी बहुत प्रसन्न हुए। अपने शिष्य की विशिष्ट सफलता से कौन गुरु प्रसन्न नहीं होता ?

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस एकाग्रता—एकनिष्ठा से या जिस ध्यान से अर्जुन ने मोरपंख का चन्दा वेधा था, उसी एकनिष्ठा के साथ ईश्वर का ध्यान करने से आत्मा को ईश्वरत्व की प्राप्ति हो सकती है। बल्कि

अर्जुन का लक्ष्य स्थूल था। परमात्मा मोरपख के चन्दा की अपेक्षा भी बहुत अधिक सूक्ष्म है। अतएव अर्जुन ने जिस एकाग्रता को प्राप्त किया था, उससे भी अधिक एकाग्रता परमात्मा का ध्यान करने के लिए अपेक्षित है। इतनी एकाग्रता प्राप्त करके जो ईश्वर का ध्यान करेगा उसे स्वयं ईश्वर बनने में देरी नहीं लगेगी। जब आत्मा और परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी नजर नहीं आता, बल्कि आत्मा और परमात्मा भी एकमेक मालूम होने लगते हैं, तब एकाग्रता की पूर्ण सिद्धि होती है। इस प्रकार की एकाग्रता साधने वाला, फिर चाहे वह कोई भी क्यों न हो, परमात्मपद का अधिकारी बन जाता है।

विराट शक्ति

संसार मे रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण की प्रकृति बनी रहती है। तमोगुण की वृद्धि होने पर रजोगुण और सतोगुण दब जाता है और आत्मा, महाशक्ति की उपेक्षा करके गड़बड़ मे पड़ जाता है। द्रौपदी के आख्यान से यह बात आपकी समझ में अच्छी तरह आ जायगी।

पाण्डवों के राजदूत बन कर जब श्रीकृष्ण कौरवो के पास सन्धि करने के लिए जाने लगे, तब द्रौपदी ने कृष्ण से कहा—'मै नहीं जानती थी कि पुरुष इतने मानहीन, बुद्धिहीन और सत्वहीन होते हैं। लोग स्त्रियो को कायर बतलाते है, मगर पुरुषो की कलई खुल रही है। ऐसे पुरुषो से तो स्त्रियाँ ही अधिक बहादुर है।

फिर दुष्ट दुश्शासन हुआ था मुदित जिनको खींचकर।
ले दाहिने कर में वही निज केश-लोचन सींचकर॥

रख कर हृदय पर वाम कर शर विद्ध हरिणी सी हुई ।
बोली विकलतर द्रौपदी वाणी महा करुणामई—
करुणासदन ! तुम कौरवों से सन्धि जब करने लगो ।
चिंता व्यथा सब पाण्डवों की शान्ति कर हरने लगो ॥
हे तात ! तब इन मलिन मेरे मुक्त केशों की कथा ।
है प्रार्थना मत भूल जाना, याद रखना सर्वथा ॥

द्रौपदी उग्र रूप धारण करके कृष्ण और पाण्डवों के सामने अपने हृदय के भाव प्रकट कर रही हैं। द्रौपदी का करुण कथन सुन कर कृष्ण के रथ के घोड़े और समस्त प्रकृति भी जैसे स्तब्ध रह गई। सब लोग चकित हो गये। सोचने लगे—आज द्रौपदी अपने हृदय की सारी कथा शब्दों के मार्ग से कृष्ण के आगे उड़ेल रही है।

दुश्शासन द्वारा खींचे हुए केशों को अपने दाहिने हाथ में कर और बायाँ हाथ अपनी छाती पर रख कर द्रौपदी ने कृष्ण से कहा—'प्रभो ! आप सन्धि करने जाते हैं ? और सिर्फ पाँच गाँव लेकर सन्धि करेंगे ? ठीक है कौन ऐसा मूर्ख होगा जो विशाल राज्य में से केवल पाँच गाँव देकर सधि न कर लेगा ? फिर आप सरीखे सधि कराने वाले दूत जहाँ हैं, वहाँ तो कहना ही क्या है ? वहाँ सधि होने में शंका ही क्या हो सकती है ? आप सधि करके पाण्डवों की चिंता और उनके कष्ट हरने चले हैं, लेकिन, प्रभो ! दुष्ट दुःशासन का हाथ लगने के कारण मेरे मलीन बने हुए और खुले हुए यह केश क्या यों ही रहेंगे ? क्या यह केश दुःशासन के खींचने के लिए ही थे ? क्या इन केशों की कोई प्रतिष्ठा शेष रह गई है ? जिस समय दुःशासन ने मेरे केश खींचे थे, उसी समय मैंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक केश

खींचने वाले के हाथ वही न उखाड़े जाएँगे तब तक मैं इन्हें न धोऊँगी, न बाँधूँगी। क्या मेरे यह केश जन्म भर खुले ही रहेंगे? क्या मेरी प्रतिज्ञा आजीवन पूर्ण न होगी। अगर आप सत्य के पक्षपाती हैं तो पाण्डवों को युद्ध मे प्रवृत्त कीजिए। अगर आप मुझे और पाण्डवों को प्रतिज्ञा-भ्रष्ट करना चाहते हैं तो भले ही संधि करने पधारिए।

दुःशासन का हाथ लगने के कारण द्रौपदी ने अपने केशों को भी मलीन माना, परन्तु आप क्या चर्बी लगे वस्त्र, हड्डी मिली शक्कर और माँस-मदिरा मिली औषध को भी मलीन मानते हैं? आप कॉडलीवर ऑइल—जो मछली के लीवर का तेल है, उसे भी मलीन नहीं मानते। अनेक आर्य और अहिंसा-धर्मी कहलाने वाले लोग उसे भी पी जाते है। द्रौपदी को राज्य जाने का इतना दुःख नहीं था, जितना वस्त्र खींचने के समय हुआ था। वस्त्र खींचने से उसकी लज्जा जाती थी। मतलब यह हुआ कि वस्त्र लज्जा की रक्षा करने के लिए हैं। लेकिन लाज मोटे कपड़ों से रहती है या बारीक वस्त्रों से? मोटे कपड़ों से!'

लेकिन आजकल तो बड़े घरानों की स्त्रियाँ कहती हैं—जाड़े (मोटे) कपड़े जाटनियें पहनती हैं। हम भी वैसे ही पहनने-ओढ़ने लगेंगी तो उनमें और हममें क्या अन्तर रह जायगा?

द्रौपदी बाण से बिंधी हुई हिरनी की तरह रोने लगी। कहा है—

> कह कर वचन यह दुःख से तब द्रौपदी रोने लगी।
> नेत्राम्बु धारा पात से कृश अंग को धोने लगी॥

हो द्रवण करके श्रवण उसकी प्रार्थना करुणाभरी।
देने लगे निज कर उठाकर सान्त्वना उसको हरी।

द्रौपदी अपनी आँखों के आँसुओं से अपने दुबले शरीर को जैसे स्नान कराने लगी। हृदय के घोर सताप सतप्त शरीर को मानो ठडा करने का निष्फल यत्न करने लगी। निष्फल यत्न इसलिए कि उसके आँसू भी गरम ही थे और उनसे सताप मिटने के बदले बढ ही सकता था।

द्रौपदी की प्रार्थना सुनकर कृष्ण का हृदय भी पिघल गया। फिर भी उन्होंने अपने को सँभाला और हाथ उठाकर वह द्रौपदी को सान्त्वना देने लगे।

द्रौपदी की बातों का उत्तर देना कृष्ण को भी कठिन जान पड़ा। कृष्णजी द्रौपदी की कही बातें सत्य मानते हैं, लेकिन क्या कृष्णजी को सधि चर्चा भग करके धर्मराज से कह देना चाहिए कि—बस, अब सधि की बात मत करो। एक बार दूत भेज ही दिया था, अब ज्यादा पचायत में पड़ने की जरूरत नहीं है। दुर्योधन दुर्जन है। वह या मानने का नहीं। उससे कोई भी न्याययुक्त बात कहना ऊसर में बीज बोना है। अतएव समय न खोकर लड़ाई की तैयारी करो। द्रौपदी की बातों की सचाई समझते हुए भी बुद्धिमान् कृष्ण ने ऐसा नहीं कहा। बल्कि वह द्रौपदी को सान्त्वना देने लगे। उन्होंने अपना ध्येय नहीं छोड़ा।

एक ओर सधि द्वारा शान्ति स्थापित करने की बात है और दूसरी ओर द्रौपदी का कहना मान कर युद्ध करने की। द्रौपदी की बात प्रबल दीखती है, लेकिन कृष्णजी महापुरुष थे।

द्रौपदी के भाषण मे रजोगुण छलक रहा है, लेकिन धर्मराज की बात सतोगुणी है और कृष्ण द्वारा समर्थित है।

सुन कर कथन यह द्रौपदी का कृष्णजी कहने लगे—
धीरज बंधा कर प्रेमयुक्त यों वचन अमृत से पगे।
है नीति-युक्ति सुयुक्त तेरा कथन पर जंचता नहीं,
कर्त्तव्यपथ पर यह सहायक हो कभी सकता नहीं।
संतप्त होकर संधि से ही यह वचन तुमने कहे,
पर सोचती हो तुम नहीं क्या भेद उसमें छिप रहे।
पट खींचने के समय में जो कुछ प्रमाण तुम्हे मिला,
कौरवगणों पर क्रुद्ध हो उसको दिया तुमने भुला।

पहले जो कुछ कहा है, वह एक कवि की कल्पना है। अब जो कहता हूँ वह मेरी कल्पना समझिए। कवि की कल्पना मे कमी यह है कि उसने रजोगुण मे ही बात समाप्त कर दी है। प्रत्येक बात और विशेषतः आदर्श आख्यान सतोगुण मे लाकर समाप्त करना और सतोगुण का आदर्श स्थापित करना उचित है।

द्रौपदी को सान्त्वना देकर कृष्णजी कहने लगे—भद्रे! रुदन मत करो। चित्त को शान्त और स्थिर करो। तुम्हे पहले की बातें स्मरण करके संताप होता है, और इसी से तुम पाण्डवो पर कुपित हो रही हो। शक्ति होने के समय ऐसा—स्वार्थ और माया द्वारा चित्त का चंचल हो जाना—स्वाभाविक है। साधारण मनुष्य को ऐसा ही होता है। लेकिन मेरा जन्म मनुष्य प्रकृति की हाँ मे हाँ मिलाने के लिए नहीं है। मैं अपने आचरण द्वारा मानव-प्रकृति को शुद्ध करके सत्पथ पर लाना चाहता हूँ।

यही मेरा जीवन उद्देश्य है। अगर तुम्हें मुझ पर विश्वास है तो ध्यानपूर्वक मेरी बात सुनो।

कृष्णजी की यह भूमिका सुनकर लोग उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगे कि देखें, द्रौपदी की बात का कृष्णजी क्या उत्तर देते हैं। इस समय धर्मराज को बहुत प्रसन्नता हुई। वह सोचने लगे—'संधि की बात मैंने ही चलाई थी, लेकिन द्रौपदी ने अपनी बातों से मेरी योजना निर्बल बना दी थी। द्रौपदी ने मुझ पर सारा उत्तरदायित्व डाल कर एक प्रकार से मुझे कायर सिद्ध किया है। भाइ भी द्रौपदी की बातों से सहमत हैं। अभी तक वह चुप रहे, मगर द्रौपदी ने अपना अधिकार नहीं छोडा। उसने सहन भी तो बहुत किया है! सबसे अधिक अपमान उसी का जो हुआ है?

द्रौपदी की बात का उत्तर देने में धर्मराज अपनी असमर्थता अनुभव करते थे। उसने धर्मराज पर भी अभियोग लगाया था। मगर कृष्ण का सहारा मिलने से उन्हें प्रसन्नता हुई।

कृष्णजी की बात सुनकर सब लोग आश्चर्य करने लगे कि द्रौपदी की यह प्रबल युक्तियों से परिपूर्ण बात भी कृष्णजी को नहीं जँची! सब विस्मय में डूब हैं और धर्मराज प्रसन्नता अनुभव कर रहे हैं।

इस अवस्था मे कृष्णजी कहने लगे—'द्रौपदी! तुम्हारी बातें नीति और युक्तियों से भरी हैं, फिर भी मुझे जँचती नहीं हैं। तुम्हारा कथन कर्त्तव्य मार्ग में सहायक नहीं हो सकता। मेरा कर्त्तव्य लडाना कराना नहीं शान्ति स्थापित करना है।'

लोग कुछ दिन पहले अहिंसा की शक्ति का उपहास करते थे। उनका कथन था कि अहिंसा का राजनीति से क्या सरोकार है? अहिंसा तो मन्दिरो मे या इतर धर्मस्थानको मे पालन करने की चीज़ है। राजनीति और अहिंसा तो परस्पर विरोधी बाते है। मगर अन्त मे सत्य छिपा नहीं रहा। आज सब ने अहिंसा की प्रचण्ड शक्ति का अनुभव कर लिया है। अहिंसा की यह शक्ति तो अपूर्ण है। उसकी परिपूर्ण शक्ति का पता कभी भविष्य में चलेगा।

कई लोग समझते हैं कि कृष्ण का उद्देश्य लड़ाई करना था। लेकिन उनके उपदेश से—गीता से—इस कथन का समर्थन नहीं होता। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' का उपदेश देने वाला हिंसा का उपदेशक कैसे माना जा सकता है? कृष्ण ने स्पष्ट शब्दो में कहा है—'सब प्राणियो को अपने समान समझो। मै सत्पुरुषो की रक्षा एवं दुष्कृतो का विनाश करने के लिए जन्मा हूँ। दुष्टों का नाश करने के लिए नहीं, किन्तु दुष्टों से प्रेम करने। उन पर दया करने और दुष्कृत्यो का नाश करने के लिए ही मेरा जन्म हुआ है।'

गीता मे इस आशय की अनेक युक्तियाँ विद्यमान होने पर भी लोग गीता को लड़ाई कराने वाली पुस्तक और कृष्ण को लड़ाई कराने वाला पुरुष समझते है। मर्मज्ञ ही इन बातो की गहराई समझ पाते है। ऊपरी दृष्टि से वास्तविकता नज़र नहीं आती।

तो कृष्णजी कहने लगे—'द्रौपदी! लड़ाई कराना मेरे लिए उचित नहीं है। तुम्हे मुझ पर पूर्ण विश्वास है, इसीलिए

तुमने मेरे सामने सब बातें कह दी हैं। लेकिन मुझे अपना कर्त्तव्य करने दो। तुमने जो कुछ कहा है सो आवेश के वश होकर ही। तुम संधि की वार्त्ता से दुखित हुई हो। तुम सोचती हो—पाँच गाँवों से हमारा काम कैसे चलेगा ? और इस प्रकार संधि कर लेने से उनकी जीत और हमारी हार समझी जायगी। द्रौपदी ! तुमने वन में रह कर भी अपना काम चलाया है, इसलिए शायद पाँच गाँव लेकर काम चलाने में तुम्हें कठिनाई नहीं भी मालूम होती हो, तो भी इस प्रकार की संधि में तुम्हें कौरवों की गुरुता और अपनी लघुता प्रतीत होती है। इन्हीं कारणों से तुम संधि का विरोध कर रही हो। लेकिन तुम्हें यह नहीं मालूम कि संधि करने में क्या रहस्य छिपा हुआ है। यह बात मैं जानता हूँ या धर्मराज जानते हैं। संधि में पाँच गाँव राज्य करने के लिए मैंने नहीं माँगे हैं और न कौरवों से भयभीत होकर ही ऐसा किया है। कौरवों की दुष्टता का नाश करने के लिए ही यह माँग उपस्थित की गई है। अगर कौरव पाँच गाँव दे देंगे तो वह दुष्ट कहलायेंगे। संसार उन्हें घृणा की दृष्टि से देखेगा। कोई आदमी किसी के पास एक करोड़ की धरोहर रख देता है और फिर केवल पाँच रुपया लेकर फैसला कर लेता है, तो पाँच रुपये में फैसला करने वाले का संसार में यश ही होगा। पाँच रुपया देने वाला सोचेगा कि एक करोड़ के बदले पाँच रुपया देने से मुझे संसार क्या कहेगा ? यही बात पाँच ग्राम लेकर संधि करने में है।

विशाल राज्य के बदले सिर्फ पाँच ग्रामों से संतुष्ट हो जाने में पाण्डवों का तो कल्याण ही है। हाँ, इसमें कौरवों की ही लघुता है। मैं लड़ाई कराने के बदले इस प्रकार का उत्तम आदर्श पेश करना अच्छा समझता हूँ। इस संधि से संसार पाण्डवों की

प्रशंसा करेगा। सभी लोग मुक्त कण्ठ से पांडवों की सराहना करते हुए कहेंगे—पाडव ने बारह वर्ष तक वन में और एक वर्ष अज्ञात रहकर भी अपने अधिकार का राज्य केवल शान्ति के लिए छोड़ दिया !

क्रोध से आवेश हो आता है। मगर क्रोध का त्याग करना साधारण बात नहीं है।

'पट खींचने के समय मे जो कुछ प्रमाण तुम्हे मिला।'

दुःशासन द्वारा पट खींचे जाने के समय सभा में खड़ी होकर तुमने भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र आदि सब से न्याय की भिक्षा माँगी थी। न्याय भी क्या ? केवल यही कि धर्मराज अगर जुए में पहले अपने आपको हार गये हो तो फिर उन्हे यह अधिकार कहाँ रहता है कि वे मुझे हारें ? हाँ, अगर पहले मुझे हारा हो और फिर अपने आपको, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। तुम्हारे बहुत कहने-सुनने पर भी किसी ने न्याय दिया था ? तुम उस समय की बात स्मरण करो।

'द्रौपदी ! तुम इन केशों को बतला रही हो लेकिन इनके साथ की उस समय की बात भूली जा रही हो जब तुम्हे किसी ने न्याय नहीं दिया और तुमने सब बल छोड़ दिया और जब मन ही मन कहा—'प्रभो ! शरीर, लाज, तन, मन, धन आदि तुझे सौंप चुकी हूँ। अब तू चिन्ता कर, मुझे चिन्ता नहीं है। इस प्रकार कह कर निर्बल बन गई थी, तब तुम्हारी रक्षा हुई थी या नहीं ? दुःशासन बड़ा बली था, लेकिन तुम्हारा चीर खींचते-खींचते तो वह भी थक गया। उस समय किसने तुम्हारी रक्षा की थी ?

श्रद्धा रखो उस सत्य पर जो अखिल जग का प्राण है।
सचा हितैषी पाण्डवों का और अटल महान् है॥

'द्रौपदी! तुम्हें उस अटल सत्य पर विश्वास रखना चाहिए।

सत्य तु भगव।'

'सत्य विश्वास ही ईश्वर है, यह समझ कर सत्य पर श्रद्धा रक्खो। सत्य पर विश्वास होगा तो ईश्वर पर भी विश्वास होगा।'

कृष्ण ने कहा—'द्रौपदी! जिसने तुम्हारे वस्त्र बचाए, वही सत्य तुम्हारी बात, रक्खेगा। तुम शान्त होओ! उत्तेजना के वशीभूत होकर तुम इस समय सत्य को भूल रही हो।'

तुम्हें भीम की प्रतिज्ञा पूर्ण न होने की चिन्ता है लेकिन इससे सत्य पर अविश्वास होता है, इसकी चिन्ता है या नहीं? चीर खींचन के समय भीम और अर्जुन काम आये थे? जिस सत्य का अपरिमित प्रभाव तुम जान चुकी हो, उसे क्यों भुलाये देती हो? तुम साधारण स्त्री नहीं हो, ससार को अनुपम शिक्षा देने वाली आदर्श देवी हो। तुम पाण्डवों के साथ वन वन भटकी हो, तुमने विराट के घर दासीत्व किया है, लेकिन यह सब किया है राज्य पाने की आशा से। मैं कहता हूँ—तुम ईश्वर बनने के लिए ईश्वर को भेजो। जरा से राज्य के टुकड़े पर ललचा कर सत्य पर अविश्वास मत करो।

भाइयो! और बहिनो! कृष्णजी का यह उपदेश केवल द्रौपदी के लिए नहीं है। यह वर्त्तमान और भावी प्रजा के लिए भी है। इतिहास और भूगोल समयानुसार पलटता रहता है,

लेकिन सत्य का यह उपदेश सत्य की भांति सदैव रहेगा। जैसे सत्य ध्रुव है उसी प्रकार यह उपदेश भी ध्रुव है।

कृष्ण कहते हैं—'संधि हो जाने पर तुम्हारा सिर न गूंथा जायगा तो क्या वह मुंडित न हो सकेगा ? सिर का मुंडन भी तो किया जा सकता है। लोकोत्तर धर्म की भावना से मुंडन कराया हुआ सिर अनन्त सौभाग्य का सूचक है। भीम की प्रतिज्ञा भी अगर नहीं रहती तो न रहे, लेकिन सत्य उससे भी बढ़कर है। उसे जाने देना, उस पर अविश्वास करना उचित नहीं है। जो मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य की रक्षा करता है, सारा संसार संगठित होकर भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।'

द्रौपदी ! तुम कहती हो, जिन कौरवों ने पाण्डवों को विष दिया उन पर दया कैसी ? लेकिन यह तो सोचो कि पाण्डवों को कैसा भयंकर विष दिया होगा ! उस उग्र विष से कोई बच सकता था ? फिर उस विष से उस समय उन्हे किसने बचाया ? जिस सत्य ने उस भयानक विष से रक्षा की थी वह सत्य क्या भुला देने योग्य है ? जिसने पाण्डवों की प्राणरक्षा की उसकी पाण्डवों द्वारा हत्या करना तुम पसन्द करोगी ?'

'द्रौपदी ! तुम लाक्षागृह का घोर संकट बतला कर कहती हो, उसकी याद आ जाती है। तुम उस विकराल आग की याद तो करती हो, लेकिन यह भी याद आता है कि लाक्षागृह मे से बच निकलने की आशा थी या नहीं ? जिस सत्य के प्रताप से वह संकट टल सका, उसी सत्य पर अब अविश्वास करने चली हो ?

कृष्ण फिर कहते हैं—'द्रौपदी ! आवेश में आने पर आज तुम्हें कौरवों की बुराई दिखाई देने लगी। पाण्डवों को भटकते देखा और सर्वस्व चला गया, इसलिए आज तुम्हें चिन्ता हो गई, लेकिन आवेश को त्याग कर सत्य का चिन्तन करो। सत्य से तब भी कल्याण हुआ था, अब भी कल्याण होगा। जैसे मलीन काँच म मुँह नहीं दीखता, उसी प्रकार लोभ और तृष्णा से भरे हुए हृदय को न्याय नहीं सूझता। तुम अपने कष्ट सहन की बात कहती हो, सहनशीलता का स्मरण करती हो, लेकिन सत्य ने भी तुम्हारे लिए कुछ उठा नहीं रक्खा। हृदय का मालिन्य दूर कर दो, सत्य उस पर प्रतिबिम्बित होने लगेगा।

'द्रौपदी ! ससार के समस्त आभूषणों म विद्या बड़ा आभूषण है। मनुष्य शरीर का शृङ्गार हार नहीं है, विद्या है। बिना हार शृङ्गार क विद्वान् शोभा दे सकता है, लेकिन बिना विद्या के हार शृङ्गार शोभा नहीं देता। मैंने शृङ्गार नहीं कर रक्खा है, तो क्या मैं बुरा लगता हूँ ? द्रौपदी ! विद्या बड़ी चीज है, मगर क्रोध को मार डालना उसस भी बड़ी बात है। इसलिए गहने और राज्य आदि जाने की चिन्ता मत करो।

'द्रौपदी ! सत्य पर अटल विश्वास रक्खो। सत्य की ही अन्तिम विजय होगी। सत्य स खिसकना पराजय के समीप पहुँचना है।'

इस आख्यान पर बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर इसे विस्तार पूर्वक कहने का समय नहीं है। मनुष्य रजोगुण और तमोगुण के वशीभूत होकर किस प्रकार विराट शक्ति को भूल जाता है, यह बतलाने के लिए ही यह कहा गया है।

गुरु-शिष्य

श्रीकृष्ण इतिहास मे प्रसिद्ध महापुरुषो मे से एक हैं। वे बहुत बड़े राजा के पुत्र थे। महापुरुष होने के कारण उनमे बहुत अधिक समझ थी। फिर भी माता-पिता का आग्रह मानकर वह सान्दीपिनि ऋषि के पास पढ़ने गये। इन्ही ऋषि के पास सुदामा नामक एक गरीब ब्राह्मण विद्यार्थी भी पढ़ता था। कृष्णजी का उससे प्रेम हो गया। दोनो गाढ़े मित्र बन कर रहने लगे।

संयोगवश एक दिन गुरु कहीं चले गये और घर मे जलाने की लकड़ी नहीं थी। लकड़ी के अभाव में गुरुपत्नी भोजन नहीं बना सकती थी। यह देखकर कृष्णजी अपने मित्र सुदामा को साथ लेकर लकड़ी लाने के उद्देश्य से जंगल की ओर चल दिये। दोनो जंगल मे पहुँचे। वहाँ लकड़ियाँ तोड़ कर या काट कर जब दोनो ने भारे बाँधे तो बड़े जोर से वर्षा होने लगी। रात भर

कृष्ण फिर कहते हैं—'द्रौपदी ! आवेश में आने पर आज तुम्हें कौरवों की बुराई दिखाई देने लगी। पाण्डवों को भटकते देखा और सर्वस्व चला गया, इसलिए आज तुम्हें चिन्ता हो गई, लेकिन आवेश को त्याग कर सत्य का चिन्तन करो। सत्य से तब भी कल्याण हुआ था, अब भी कल्याण होगा। जैसे मलीन काँच में मुँह नहीं दीखता, उसी प्रकार लोभ और तृष्णा से भरे हुए हृदय को न्याय नहीं सूझता। तुम अपने कष्ट सहने की बात कहती हो, सहनशीलता का स्मरण करती हो, लेकिन सत्य ने भी तुम्हारे लिए कुछ उठा नहीं रक्खा। हृदय का मालिन्य दूर कर दो, सत्य उस पर प्रतिबिम्बित होने लगेगा।

'द्रौपदी ! संसार के समस्त आभूषणों में विद्या बड़ा आभूषण है। मनुष्य शरीर का शृङ्गार हार नहीं है, विद्या है। बिना हार शृङ्गार के विद्वान् शोभा दे सकता है, लेकिन बिना विद्या के हार शृङ्गार शोभा नहीं देता। मैंने शृङ्गार नहीं कर रक्खा है, तो क्या मैं बुरा लगता हूँ ? द्रौपदी ! विद्या बड़ी चीज है, मगर क्रोध को मार डालना उससे भी बड़ी बात है। इसलिए गहने और राज्य आदि जाने की चिंता मत करो।

'द्रौपदी ! सत्य पर अटल विश्वास रक्खो। सत्य की ही अन्तिम विजय होगी। सत्य से खिसकना पराजय के समीप पहुँचना है।'

इस आख्यान पर बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर इसे विस्तार पूर्वक कहने का समय नहीं है। मनुष्य रजोगुण और तमोगुण के वशीभूत होकर किस प्रकार विराट शक्ति को भूल जाता है, यह बतलाने के लिए ही यह कहा गया है।

रहे हैं। उन्हे देख कर आचार्य ने कहा—'वत्स ! मैं तुम लोगों को क्या पढ़ाऊँ ? विद्या के अध्ययन से जो गुण उत्पन्न होने चाहिए, वह तो तुम लोगो मे मौजूद ही हैं। देखो न, बेचारा सुदामा इस विपत्ति से कितना घबरा गया है ? तुम (कृष्ण) महापुरुष हो, इस कारण घबराये नहीं और सदा की भाँति प्रसन्न दीख पड़ते हो।' इतना कह कर आचार्य उन्हें घर ले गये।

विद्यार्थी की अपने गुरु के प्रति कैसी श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिए, उसका आदर्श इस कथा मे बतलाया गया है। साथ ही यह भी प्रकट किया गया है कि अध्यापको मे और विद्यार्थियो में यह बात कहाँ !

वर्षा होती रही। वर्षा के कारण कृष्ण और सुदामा लकडियाँ लिए वृक्ष के नीचे खड़े रहे।

मुसलधार पानी बरस रहा था, तेज आँधी चैन नहीं लेती थी। मेघों की भयकर गर्जना कानों के पर्दे फाड़ने को तैयार थी। बिजली कडक रही थी। घोर अन्धकार चारों ओर फैला था। हाथ को हाथ नहीं दीखता था। ऐसे समय में दो बालक पेड़ के नीचे खड़े ठिठुर रहे थे। वर्षा और आँधी से यद्यपि उन्हें बड़ा कष्ट हो रहा था, तथापि उनके मन मैले नहीं थे। अपने कष्टों की उन्हें चिन्ता नहीं थी। उन्हें चिन्ता थी तो केवल यही कि हम लोगों के समय पर न पहुँच सकने के कारण आज आचार्य के घर रोटी न बन सकी होगी और उन्हें भूखा रहना पडा होगा! कृष्णजी रात भर अपने साथी सुदामा से इसी प्रकार की बातें करते रहे।

प्रात काल होने पर गुरु अपने घर आये। विद्यार्थियों को न देखकर अपनी पत्नी से पूछा। पत्नी ने उत्तर दिया—कृष्ण और सुदामा लकड़ी लेने के लिए कल से ही जगल में गये हैं और वर्षा तथा आँधी के कारण अब तक नहीं लौटे। यह सुनकर गुरु नाराज होने लगे। कहा—तुमने बच्चों को लकड़ी लाने के लिए भेजा ही क्यों ?

गुरुपत्नी ने कहा—मना करती रही, फिर भी वे लोग चले गये।

गुरु तत्क्षण जगल की ओर चल पड़े। जंगल में आकर उन्होंने देखा—कृष्ण और सुदामा दोनों पेड़ के नीचे खड़े ठिठुर

रहे हैं। उन्हे देख कर आचार्य ने कहा—'वत्स ! मैं तुम लोगों को क्या पढ़ाऊँ ? विद्या के अध्ययन से जो गुण उत्पन्न होने चाहिए, वह तो तुम लोगो मे मौजूद ही हैं। देखो न, बेचारा सुदामा इस विपत्ति से कितना घबरा गया है ? तुम (कृष्ण) महापुरुष हो, इस कारण घबराये नहीं और सदा की भाँति प्रसन्न दीख पड़ते हो।' इतना कह कर आचार्य उन्हे घर ले गये।

विद्यार्थी की अपने गुरु के प्रति कैसी श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिए, उसका आदर्श इस कथा मे बतलाया गया है। साथ ही यह भी प्रकट किया गया है कि अध्यापकों में और विद्यार्थियों में यह बात कहाँ !

वशीकरण

जो व्यक्ति अपना काम आप करके दूसरों का काम करने में समर्थ होता है, वही व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। और दूसरों पर अपना प्रभाव भी डाल सकता है। यह बात एक प्राचीन उदाहरण द्वारा समझो।

विराट नगरी में अज्ञातवास समाप्त करके पाण्डव अभी प्रकट हुए थे। वे अपनी प्रसिद्धि करने के लिए अभिमन्यु का विवाह उत्तरा के साथ कर रहे थे। इस विवाहोत्सव में भाग लेने के लिए श्रीकृष्ण की कई रानियाँ भी विराट नगरी में आइ हुई थीं। विवाहोत्सव सानन्द सम्पन्न हो जाने के बाद जब श्री कृष्ण की रानियाँ वापिस द्वारिका लौटने लगीं तो द्रौपदी उन्हें विदा करन गई। श्रीकृष्ण की पटरानी सत्यभामा बहुत भोली थी। इसलिए 'भोली भामा' की कहावत प्रसिद्ध हो गई है। भोली सत्यभामा ने रास्ते में द्रौपदी से कहा—मैं तुमसे एक बात पूछना

चाहती हूँ। द्रौपदी ने उत्तर में कहा—'तुम मुझसे बड़ी हो और तुम्हें मुझसे प्रत्येक बात पूछने का अधिकार है।' तब सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा—'मेरे एक ही पति है, फिर भी वह मेरे वश मे नहीं रहते। और तुम्हारे पाँच पति हैं फिर भी वे पाँचों तुम्हारे वश मे रहते हैं। अतएव मै पूछना चाहती हूँ कि क्या तुम्हारे पास कोई ऐसा वशीकरण मन्त्र है, जिसके प्रभाव से तुम पाँचों पतियों को अपने वश मे रख सकती हो? अगर ऐसा वशीकरण मन्त्र जानती होओ तो मुझे भी वह मन्त्र सिखा दो न?

द्रौपदी ने उत्तर दिया—मै ऐसा वशीकरण मन्त्र जानती हूँ, परन्तु जान पड़ता है, कोमलांगी होने के कारण तुम वह मन्त्र साध नही सकोगी।

सत्यभामा कहने लगी—मै उस मन्त्र को अवश्य साध सकूँगी। मुझे अवश्य वह मन्त्र बता दो। मुझे उसकी बड़ी आवश्यकता है।

ऐसे वशीकरण मन्त्र की आवश्यकता किसे नहीं होती? उसे तो सभी चाहते हैं। पिता पुत्र को, पुत्र पिता को, पति पत्नी को, पत्नी पति को और इस प्रकार सभी एक दूसरे को अपने वश में करना चाहते हैं। मगर यह मन्त्र जब साध लिया जाय तभी सब को वश में किया जा सकता है।

द्रौपदी ने सत्यभामा से कहा—मैं वशीकरण मन्त्र द्वारा सब को अपने वश में रखती हूँ। वह मन्त्र यह है कि 'स्वयं दूसरे के वश में रहना।' इस मन्त्र से जिसे चाहो उसे वश में कर सकती हो। इस मन्त्र को साधने का उपाय मेरी माता ने मुझे सिखाया

है। मन्त्र साधने की विधि बतलाते हुए मेरी माता ने कहा था— 'पति के उठने से पहले उठ जाना।' फिर पति की आवश्यकताएँ अपने हाथ से पूरी करना। दास दासियों के भरोसे न बैठी रह कर सब काम अपने हाथ से करना और दास दासी की अपेक्षा अपने आपको बड़ा दासी समझना। इस प्रकार अपने को नम्र बना कर सब काम करना। बड़ा-बूढ़ा की मर्यादा रखना। सब की सेवा शुश्रूषा करना और सब को भोजन कराने के बाद आप भोजन करना। इसी प्रकार सब के सो जाने पर सोना। काम करते करते फुर्सत मिल जाय तो सब को कर्त्तव्य और धर्म का भान कराना। इस प्रकार कर्त्तव्यपरायणता का परिचय देकर अपनी चारित्रशीलता का प्रभाव डालना। यही वशीकरण मन्त्र को साधने के उपाय हैं। इस उपाय से मन्त्र की अच्छी तरह साधना की जाय तो अपने पति को तथा अन्य कुटुम्बी जनों को अपने अधीन किया जा सकता है। अगर तुम इस विधि से मन्त्र की साधना करोगी तो श्री कृष्ण अवश्य तुम्हारे वश में हो जाएँगे।

तुम लोग भी इस वशीकरण मन्त्र को साधने का प्रयत्न करोगे तो अवश्य उसे साध सकोगे। अगर तुमने मन्त्र साधन का साहस ही न किया और दूसरे के भरोसे बैठे रहे तो यह तुम्हारी पराधीनता कहलाएगी। शास्त्र तुम्हें जो उपदेश देता है सो तुम्हारी परतन्त्रता दूर करने के लिए ही है। शास्त्र तो तुम्हें आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से स्वतन्त्र करना चाहता है। इसी कारण शास्त्र आध्यात्मिक उपदेश के साथ ७२ कलाओं का शिक्षण सम्पादन करने का भी उपदेश देता है। मगर तुम तो परतन्त्रता में और दूसरों के हाथों काम कराने में ही सुख मान बैठे हो। परतन्त्र रहने में और दूसरों के हाथों से काम कराने

में कम पाप होता है और सुख मिलता है, यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। अपने हाथ से काम करने में कम पाप लगता है या दूसरे से कराने मे, इस बात का अगर बुद्धिपूर्वक विचार करोगे तो तुम्हें विश्वास हो जायगा कि स्वतन्त्रता में सुख है और परतन्त्रता मे दुःख है। पाप परतन्त्र दशा मे अधिक होता है और स्वतन्त्र-दशा मे कम होता है।

द्रौपदी ने सत्यभामा को वशीकरण मन्त्र और उस मन्त्र को साधने के उपाय बतलाते हुए कहा—दूसरों के वश में रहना सच्चा वशीकरण है और पति-सेवा मे सुख मानना, पति की आज्ञा मानना तथा कर्त्तव्यशील और धर्मपरायण होकर रहना मन्त्र साधने के उपाय हैं। अगर तुम इस मन्त्र की साधना करोगे तो तुम भी सब को अपने वश में कर सकोगे। यह मन्त्र तो विश्व को वश मे करने वाला वशीकरण मन्त्र है।

कहने का आशय यह है कि जो पुरुष स्वावलम्बी बनता है और अपना काम आप करके दूसरो का भी काम कर लेता है, वही प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। दूसरो को गुलाम रखने वाला स्वयं गुलाम बनता है।

एक ही पत्नी

एक बार नारदजी ने श्रीकृष्ण से कहा—आप महान् पुरुष गिने जाते हैं, फिर इतनी पत्नियाँ रखना आपके लिए क्या उचित है ? श्रीकृष्णजी ने उत्तर दिया—मेरे सिर्फ एक ही पत्नी है, दूसरी नहीं है।

नारद—आपका यह कथन मेरी समझ में नहीं आता ! महल के महल रानियों से भरे पड़े हैं और आप कहते हैं—मेरे सिर्फ एक ही पत्नी है !

श्रीकृष्ण—अगर आपको विश्वास नहीं है तो अन्तःपुर में जाकर देख आइये कि एक रानी के साथ एक कृष्ण है या नहीं ? जिस रानी के साथ मैं न होऊँ, समझ लीजिए कि वह मेरी पत्नी नहीं है।

नारदजी ने सोचा—देखें, कृष्णजी कहाँ कहाँ दौड़ेंगे। मैं एक मुहूर्त में पैंतालीस लाख योजन चलने वाला हूँ।' ऐसा

सोच नारदजी दौड़ कर प्रत्येक महल मे गये। मगर उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि जिस महल में वह पहुँचे, कृष्णजी वहीं मौजूद है। कृष्ण की रानियो मे उन्हे एक भी ऐसी न मिली जो बिना कृष्ण की हो। इस प्रकार नारदजी सब महल देखकर जब सभा-भवन मे लौटे तो उन्होंने कृष्ण को सिंहासन पर बैठे देखा। नारदजी बोले—आप यहाँ भी मौजूद हैं ? कृष्णजी मुस्कराहट के साथ बोले—कहाँ जाऊँ, मेरे तो स्त्री ही नहीं है। 'आपकी लीला अपरम्पार है।' कह कर नारदजी चल दिये।

आज के लोग सहज ही यह कह सकते हैं कि ऐसी असंभव बातों को सुनना भी वृथा है, लेकिन जो लोग वैक्रियलब्धि नहीं मानते उन्हे बहुविवाह भी नही मानना चाहिए। जिस शास्त्र की एक बात को आप अस्वीकार करते हैं, उसी की दूसरी बात स्वीकार कैसे कर सकते है ?
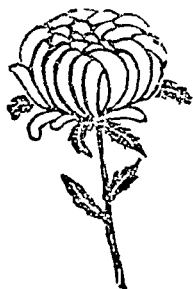
दुर्योधन-अर्जुन

महाभारत के अनुसार अर्जुन और दुर्योधन श्रीकृष्ण को अपनी अपनी ओर से युद्ध में सम्मिलित होने का निमन्त्रण देने गये थे। कृष्ण उस समय सो रहे थे। उन्हें जगाने का तो किसी में साहस नहीं था, अतएव दोनों उनके जागने की प्रतीक्षा करने लगे। अर्जुन में कृष्ण के प्रति सेवकभाव था, अतएव उसने उनके चरणों की ओर खड़ा रहना उचित समझा। वह चरणों की ओर ही खड़ा हो गया। दुर्योधन में अहकार था। वह सोचता था—मैं राजा होकर पैरों की ओर कैसे खड़ा रह सकता हूँ ? इस अभिमान के कारण वह कृष्ण के सिर की ओर खड़ा हुआ। कृष्ण जागे। कोई भी मनुष्य जब सोकर उठता है तो स्वाभाविक रूप से पैरों की ओर वाले मनुष्य के समीप और सिर की ओर वाले मनुष्य से दूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त पहले उसी पर दृष्टि पड़ती है जो पैरों की ओर खड़ा होता है। इस नियम के अनुसार अर्जुन, कृष्ण के नजदीक हो गये और अर्जुन पर ही उनकी दृष्टि पहले पड़ी।

दुर्योधन पश्चात्ताप करने लगा कि सिर की तरफ क्यों खड़ा हो गया ! हाय ! मै पैरो की तरफ क्यो नहीं खड़ा हुआ ! अर्जुन, कृष्ण से पहले मिल रहा है। कहीं ऐसा न हो कि वे उसका साथ देना स्वीकार कर ले। मैंने इतनी दौड़-धूप की। कहीं ऐसा न हो कि मेरा आना वृथा हो जाय !

इस प्रकार सोचकर दुर्योधन ने किसी संकेत द्वारा कृष्ण पर अपना आना प्रकट कर दिया।

अर्जुन के प्रणाम करने पर श्रीकृष्ण ने आने का कारण पूछा—अर्जुन ने कहा—कौरवो के साथ युद्ध होना निश्चित हो चुका है। अतएव मै आपको युद्ध का निमन्त्रण देने आया हूँ।

श्रीकृष्ण—मुझे जो आमंत्रित करे, मै उसी के यहाँ जाने को तैयार हूँ। लेकिन दुर्योधन भी आया है। उसे भी निराश करना उचित नहीं होगा। इसलिए एक ओर मैं हूँ और दूसरी ओर मेरी सेना है। दोनों मे से जिसे चाहो, पसन्द कर लो!

अर्जुन को श्रीकृष्ण पर विश्वास था। उसने कहा—मै आपको ही चाहता हूँ।

अर्जुन की माँग सुनकर दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ। वह मन मे सोचने लगा—मेरा भाग्य अच्छा है, इसी कारण तो अर्जुन ने सेना नहीं माँगी। युद्ध मे तो आखिर सेना ही काम आएगी। अकेले कृष्ण क्या करेंगे ?

अर्जुन के बाद दुर्योधन की बारी आई। उससे भी आने का प्रयोजन पूछा गया। दुर्योधन ने भी यही कहा कि मैं भी युद्ध

का निमन्त्रण देने आया हूँ। श्रीकृष्ण ने कहा—ठीक है। एक ओर मैं और दूसरी ओर मेरी सेना! अर्जुन ने मुझे माँग लिया है। तुम क्या चाहते हो?

दुर्योधन मन में सोच रहा था कि मैं अकेले कृष्ण को लेकर क्या करूँगा? मुझे तो सेना चाहिए जो काम आएगी। मगर प्रकट रूप में वह ऐसा नहीं कह सका। उसने कहा—जिसे अर्जुन ने माँग लिया है उसे माँगने से क्या लाभ? माँगी हुई चीज को फिर माँगना क्षत्रियों का काम नहीं है। अतएव आप अपनी सेना मुझे दे दीजिए।

कृष्ण बड़े चतुर थे। दुर्योधन की समझ पर मन ही मन हँसे और सोचने लगे—दुर्योधन को मुझ पर विश्वास नहीं है, मेरी सेना पर विश्वास है, आखिर उन्होंने कहा—'अर्जुन! मैं तुम्हारा हूँ और दुर्योधन! सेना तुम्हारी है।'

अर्जुन को कृष्ण पर और दुर्योधन को सेना पर विश्वास था। फल क्या हुआ? गीता के अन्त में कहा है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं—आप युद्ध के विषय में क्या पूछते हैं? यह निश्चित समझिए कि जिस ओर योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर अर्जुन हैं, विजय उसी पक्ष की होगी। विरोधी पक्ष को विजय मिलना असम्भव है।

सत्यवादी-युधिष्ठिर

जो मनुष्य सत्य-मार्ग का पथिक है, उस पर शत्रु भी विश्वास करते हैं। और यह बात ध्रुव सत्य है कि वह शत्रु से भी विश्वासघात नहीं करता। इसके लिए, महाभारत में वर्णित एक कथा का उदाहरण दिया जाता है।

जिस समय महाभारत-युद्ध में, दुर्योधन की प्रायः सब सेना और भाई निःशेष हो गये, सौ भाइयों में से एक दुर्योधन ही जीवित बचा, उस समय, दुर्योधन ने सोचा, कि मैं अकेला क्या कर सकता हूँ? पाण्डवों के पास, इस समय भी पर्याप्त शक्ति है और मैं अपने भाइयों में से, अकेला हूँ। यह सोचकर, प्राण बचाने के लिए, वह एक तालाब की जलराशि में जा छिपा। कई दिन तक इसी प्रकार छिपे रहने के पश्चात् उसने सोचा कि मैं क्षत्रिय हूँ, उद्योग करना मेरा कर्त्तव्य है. अतः कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए कि, जिससे मेरी मृत्यु भी न हो और मैं पूरी शक्ति के साथ अकेला ही पाण्डवों से युद्ध कर सकूं। सोचते-

सोचते, उसके विचार में यह बात आई, कि युधिष्ठिर सरल हृदय हैं और सदैव सत्य भाषण करते हैं, अत उन्हीं से कोई ऐसी युक्ति पूछनी चाहिए, जिससे मैं अजेय हो जाऊँ। यह सोच कर, दुर्योधन जल से बाहर निकला और युधिष्ठिर के पास जाकर पूछने लगा कि, महाराज ! मुझे कोई ऐसी युक्ति बताइये, जिससे मैं अजेय हो जाऊँ और भीम या अर्जुन, जिनका मुझे विशेष भय है—मेरा कुछ न बिगाड सकें। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—राजन् ! यह सिद्धि तो तुम्हारे घर में ही है, कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। माता गान्धारी बड़ी सती हैं। यदि वे, एक दृष्टि से तुम्हारे खुल शरीर की ओर देख ले तो, सारा शरीर वज्र के समान कठोर हो जाय। किन्तु एक बात और है, वह यह कि, शरीर के जिस भाग पर उनकी दृष्टि न पड़ेगी, वह कच्चा ही रह जायगा।

युधिष्ठिर की यह बात सुनकर, दुर्योधन अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सोचने लगा कि अब क्या है, अभी जाकर माता गान्धारी के सामने मैं नग्न होकर निकल जाऊँगा, बस फिर तो अर्जुन और भीम मेरा कुछ भी न बिगाड़ सकेंगे।

दुर्योधन, यह सोचता हुआ अपने घर की ओर जा रहा था कि मार्ग में उसे श्रीकृष्ण मिल। उन्होंने, दुर्योधन के हृदय की बात जानकर कहा कि, दुर्योधन ! यह युक्ति तो धर्मराज युधिष्ठिर ने अच्छी बतलाई है और इससे तुम्हारा सारा शरीर वज्र बन भी जायगा, किन्तु बिलकुल नग्न होकर, तुम्हें अपनी माता के पास जाना उचित नहीं है। लज्जा की रक्षा के लिए, कम से कम एक कमल कोपीन अवश्य लगा लेना।

पहले तो इसके लिये दुर्योधन कुछ आनाकानी करता रहा, किन्तु श्रीकृष्ण के नीति बतलाने पर, उसने यह बात स्वीकार कर ली। वह अपनी माता के पास गया और उससे यह सारी कथा कही। गान्धारी, यह सुन कर चौंकी, उसे यह नहीं मालूम था कि मेरे मे ऐसी शक्ति मौजूद है। किन्तु, युधिष्ठिर सदैव सत्य बोलते हैं, कभी असत्य भाषण नहीं करते, अतः अविश्वास करने का कोई कारण भी न था। गान्धारी ने, एक दृढ़-दृष्टि से दुर्योधन को देख लेना स्वीकार किया, तब दुर्योधन एक कमल-कोपीन लगाकर उसके सामने आ खड़ा हुआ। गान्धारी ने, एक दृढ़-दृष्टि से दुर्योधन के शरीर की ओर देख लिया, इससे उसका सारा शरीर तो वज्र के समान कठोर होगया, किन्तु जो स्थान ढका हुआ था, वह कच्चा रह गया। दुर्योधन ने सोचा कि, इस स्थान के कच्चे रह जाने से मेरी क्या क्षति हो सकती है? यह स्थान तो धोती के भीतर रहता है, इस पर चोट करने कौन जाता है? यह विचारकर, वह बाहर निकल आया और पाण्डवो के पास जाकर, दूसरे दिन भीम से गदा-युद्ध करने की बात तय की।

गान्धारी के नेत्रो मे, ऐसी शक्ति होने का कारण, उसका पतिव्रत-धर्म था। उसने अपने नेत्रो से, कभी भी किसी पर-पुरुष को बुरी दृष्टि से नहीं देखा था। पतिव्रता स्त्री के नेत्रों मे यह शक्ति होती है कि, यदि वह किसी को पुत्र की तरह प्रेम की दृढ़-दृष्टि से देख ले, तो उसका शरीर वज्र-मय हो जाय और यदि क्रोध की दृष्टि से देख ले, तो भस्म हो जाय।

मनुष्य यदि चाहे, तो अपने नेत्रो और वाणी मे, सत्य से ऐसी ही शक्ति पैदा-कर सकता है। असत्य-स्थान पर दृष्टि न

डालने और असत्य भाषण न करने से, वाणी और नेत्रों में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो सकती है कि, नेत्र से जिसे देख ले, उसका शरीर वज्रसा दृढ़ हो जाय, या भस्म ही जाय, और वाणी से जो कुछ कह दें वह पूरा ही हो।

प्राय पहले के लोगों की वाणी में यह शक्ति होती थी कि, जिसके लिए जो कुछ कह देते थे, वही हो जाता था। उनका आशीर्वाद या श्राप, मिथ्या नहीं होता था। लेकिन लोग सत्य का पालन करते थे और बात बात से न तो किसी को आशीर्वाद ही देते थे, न श्राप ही। आज के लोग, दिन रात दूसरे का बुरा भला चाहा करते हैं, अर्थात् आशीर्वाद या श्राप दिया करते हैं, फिर भी कुछ नहीं होता। इसका कारण यही है कि, सत्य को न पहिचानने से उनकी वाणी निस्तेज है। यदि सत्य को पहिचान लें तो, न तो वे इस प्रकार किसी का भला बुरा ही चाहे और न चाहा हुआ भला बुरा निष्फल ही हो।

दूसरे दिन, दुर्योधन और भीम का गदा-युद्ध हुआ। भीम ने अपनी पूरी शक्ति से दुर्योधन के सिर, पीठ, छाती, भुजा आदि स्थानों पर गदा प्रहार किये, किन्तु सब निष्फल। गदा लगती और टकरा कर लौट आती, दुर्योधन का बाल भी बाँका न होता। इसी समय भीम को, अपनी प्रतिज्ञा याद आई, कि मैंने द्रौपदी चीरहरण के समय, दुर्योधन की जंघा चूर्ण करने की प्रतिज्ञा की थी। बस, तत्क्षण उसने अपनी गदा का प्रहार दुर्योधन की जंघा पर किया। जंघा कच्ची तो रह ही गई थी, गदा लगते ही चूर्ण हो गई और दुर्योधन गिर पड़ा।

जो मनुष्य सत्य-व्रत के पालने वाले हैं, वे अपनी शरण में आये हुए शत्रु के साथ भी, दुष्टता का व्यवहार नहीं करते। शरण मे आया व्यक्ति, जो सलाह पूछता है, वह बिना किसी प्रकार का भेद-भाव रखे और बिना किसी प्रकार की ईर्ष्या-द्वेष के, ठीक ठीक बतला देते है, यह नहीं देखते, कि शरणागत शत्रु है या मित्र।

युधिष्ठिर यह जानते हैं कि, दुर्योधन से मेरा युद्ध चल रहा है, मेरे भाई भीम और अर्जुन को हराने के लिये ही, यह मुझ से सलाह पूछने आया है। इस समय यदि वे चाहते तो, कोई ऐसी राय बतला सकते थे, जिससे स्वयं दुर्योधन अपना नाश अपने हाथ से कर लेता। किन्तु युधिष्ठिर ने ऐसा न करके, स्वच्छ-हृदय से, सच्ची और लाभदायक सम्मति दी। ऐसा करने वाले, सत्यमूर्ति–युधिष्ठिर के सत्य-व्रत की, जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि, जो मनुष्य सत्य मार्ग का पथिक है, वह कभी अपने शत्रु की क्षति के लिये भी झूठ का आश्रय नहीं लेता। बल्कि आवश्यकता पड़ने पर, शत्रु यदि राय पूछे तो शत्रुता को दूर रखकर, एक मित्र की तरह राय देता है।

युधिष्ठिर को, दुर्योधन ने कितने कष्ट दिये थे, वह युधिष्ठिर को अपना कैसा भयंकर शत्रु समझता था; फिर भी युधिष्ठिर ने, दुर्योधन से असत्य भाषण नहीं किया। दुर्योधन के अजेय होने पर, युधिष्ठिर की ही हानि थी, क्योंकि उसे पराजित करने के लिये ही यह युद्ध हुआ था। लेकिन युधिष्ठिर ने ऐसे समय मे भी, सत्य को ही प्रधानता दी और अपनी हानि की कुछ चिन्ता नहीं

की। आज के लोगों पर, युधिष्ठिर का सा कोई असमय न होते हुए भी, वे असत्य को प्रधानता देते हैं और शत्रु से झूठ न बोलना तो दूर रहा, मित्र से भी झूठ बोलने में संकोच नहीं करते। ऐसे लोग, इस बात को बिलकुल भूल जाते हैं कि, असत्य की विजय नहीं होती, विजय सत्य की ही होती है। यद्यपि युधिष्ठिर ने स्वयं दुर्योधन को अजेय होने की युक्ति बता दी थी और वह युक्ति असत्य नहीं थी, फिर भी सत्य की विजय होने के लिये, दुर्योधन को मार्ग में कृष्ण मिल गये और उसे पराजित होना पड़ा। इसी प्रकार, सत्य की विजय और असत्य की पराजय होने के लिये कुछ न कुछ कारण हो ही जाया करता है।
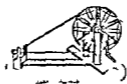
पाप का लेश

एक बार द्रौपदी नदी मे स्नान करने गई थी। द्रौपदी की गणना पतिव्रता स्त्रियों में है। जैन साहित्य और महाभारत- दोनों मे ही उसे पतिव्रता माना है। दुर्योधन उसे नग्न करना चाहता था, लेकिन द्रौपदी के सत्य के प्रभाव से वस्त्र का ढेर लग गया था। वह नग्न नहीं हुई। उसका पतिव्रत संसार में प्रसिद्ध था।

द्रौपदी स्नान करने गई थी कि इतने में ही कर्ण उस ओर से निकले। कर्ण भी तेजस्वी और वीर थे। वह छठे पाण्डव के समान था और दूसरा अर्जुन ही जान पड़ता था। कर्ण वीर का बाना धारण किये, कुलीन और शीलवान पुरुष की तरह उधर निकले। उन्होंने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि कौन यहाँ स्नान कर रहा है? वह यों सहज ही उस ओर से निकल रहे थे। कुलीन पुरुष के सामने अगर कोई स्त्री आ जाती है, चाहे वह किसी भी अवस्था में हो, तो वह अपनी दृष्टि नीची कर लेते हैं।

द्रौपदी की दृष्टि कर्ण पर पड़ी। कर्ण को देखकर उसकी भावना बदल गई। वह सोचने लगी—यह कैसे धीर वीर पुरुष हैं! केवल अर्जुन ही इनके समान हैं। यदि यह भी कुन्ती क पेट से जन्मे होते तो छठा पति करने में भी मैं सकोच न करती। द्रौपदी के मन में ऐसा विचार आया।

द्रौपदी का यह विचार योगविद्या द्वारा कृष्ण ने जान लिया। कृष्ण ने सोचा—द्रौपदी सती कहलाती है। उसके मन में यह पाप आया, यह तो गजब हुआ! उसका यह पाप दूर करना चाहिए। ऐसा न किया तो ससार डूब जायगा। इस प्रकार विचार करके कृष्ण बिना बुलाये ही पाण्डवों के यहाँ पहुँचे। कृष्ण को देखकर पाण्डवों की प्रसन्नता का पार न रहा। कृष्ण का खूब स्वागत किया—सत्कार किया गया। पाण्डव उन्हें महल में ले जाने लगे। कृष्ण ने कहा—आज मैं महल में जाने के लिए नहीं आया हूँ। मेरी इच्छा यह है कि तुम पाँचों पाण्डवों और द्रौपदी के साथ वन क्रीड़ा के लिए चला जाय। वहीं भोजन आदि करें। भला कृष्ण की बात कौन टालता! पाण्डव और द्रौपदी, कृष्ण के साथ वन को रवाना हुए।

कृष्ण सब को साथ लिए किसी ऋषि के आश्रम के वन में गये। वह वन खूब फला फूला था। जब सब लोग वन में घूमने लगे तो कृष्ण ने कहा—देखो, यह तपोवन है। इस में से कोई फल मत तोड़ना। सब ने कृष्ण की बात स्वीकार की।

सब लोग वन क भीतर चले। भीम शरीर में कुछ भारी थे। सब लोग आगे चले गये और वह कुछ पीछे रह गये। जाते जाते जामुन का एक पेड़ आया। उसमें पूरे पक हुए बड़े बड़े

जामुन लगे थे। वह फल देख कर भीम अपनी लालसा न रोक सके। भीम ने सोचा—'हम राजा हैं। पृथ्वी पर हमारा अधिकार है। एक फल तोड़ कर खा लें तो क्या हर्ज है? अभी कोई देखता भी नहीं है।' इस प्रकार विचार करके भीम ने एक जामुन तोड़ लिया। भीम ने फल तोड़ा ही था, अभी मुँह मे रख भी नहीं पाये थे कि कृष्ण भीम की ओर लौट कर इस तरह देखने लगे, मानो साक्षात् ही खड़े हैं। कृष्ण ने तब भीम से कहा—'भीम, तुमने यह क्या किया!'

भीम बहुत लज्जित हुए। लज्जा के मारे वह काँपने लगे। कृष्ण ने कहा—माना कि तुम राजा हो, तब भी तुम्हें मेरी आज्ञा का ध्यान रखना चाहिए था।

भीम बड़े शर्मिन्दा हुए। अन्त मे उनसे यही कहते बना—मुझ से अपराध बन गया। क्षमा कीजिए।

कृष्ण बोले—क्षमा करने से काम नहीं चलेगा। तप की शक्ति लगा कर इस फल को जहाँ का तहाँ लगाओ।

कृष्ण की यह अद्भुत आज्ञा सुनकर भीम संकट में पड़ गये। तब कृष्ण ने कहा—क्या धर्म मे यह शक्ति नहीं है? या धर्म की शक्ति पर तुम्हे विश्वास नहीं है?

भीम से यह कह कर कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा—धर्मराज, तुम भीम द्वारा उपार्जित द्रव्य का उपभोग करते हो, तो इनके पाप मे भी भाग लो और प्रायश्चित्त करो।

युधिष्ठिर अजात शत्रु थे। उन्होने कहा—वास्तव में भीम ने जो गलती की है, उसे मैं भी गलती मानता हूँ। इसे मिटाने

के लिए आप जो कहें, वही करने के लिए मैं तैयार हूँ। बस आज्ञा दीजिए।

कृष्ण ने कहा—तुम यह कहो कि—'अगर मैं कभी झूठ न बोला होऊँ तो, हे फल, तू जहाँ का तहाँ जाकर लग जा।'

कृष्ण की बात मान कर युधिष्ठिर ने कहा—'हे फल, अगर मैं कभी झूठ न बोला होऊँ तो जहाँ का तहाँ लग जा।'

युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर फल वृक्ष की ओर चढ़ने लगा। उसे बीच में ही रोक कर कृष्ण ने कहा—बस, धर्मराज! तुम्हारी परीक्षा हो गई। अब भीम आओ, परीक्षा दो।

भीम रोने जैसे होकर कहने लगे—मैंने तो इसे तोड़ा ही है। मैं क्या परीक्षा दूँ! मेरे कहने पर कब चढ़ने लगा! तब कृष्ण ने कहा—यह पाप तो प्रत्यक्ष ही है। इस पाप के सिवाय और कोई पाप न किया हो तो फल को आज्ञा दो। तब भीम ने कहा—'हे फल, इस पाप के सिवाय मैंने अन्य पाप न किया हो तो तू ऊपर चढ़!' फल ऊपर चढ़ने लगा। तब कृष्ण ने उसे रोक दिया।

कृष्ण ने इसी प्रकार अर्जुन, नकुल और सहदेव की भी परीक्षा ली। जब पाँचों भाइयों की परीक्षा हो चुकी, तब कृष्ण ने द्रौपदी से कहा—'भाभी, अब तुम आओ।'

द्रौपदी सिटपिटाई। उसने सोचा—मुझ में कर्ण को पति रूप में चाहने का पाप है, न जाने इस परीक्षा का परिणाम क्या होगा? फिर उसने विचार किया—उस पाप को कौन जानता है?

उसने भी सब के समान उस फल से कहा—अगर मैंने पाण्डवों के अतिरिक्त, मन से भी किसी को पति रूप में न चाहा हो तो तू गति करके डाली में लग जा।

द्रौपदी के इतना कहते ही फल पृथ्वी पर आ गिरा ! कृष्ण, भाभी से कहने लगे—वाह ! भाभी, वाह ! तुमने यह क्या किया ? तुम्हारी जैसी पतिव्रता में यह पाप कैसे ? तुमने तो और पति की कमाई भी खो दी।

द्रौपदी लज्जा के मारे काँप उठी। वह सोचने लगी—पृथ्वी फट जा और मैं तुझ में समा जाऊँ! वह रोने लगी। कृष्ण ने कहा—रोने से कुछ न होगा। जो पाप हो, उसे प्रकट करो। द्रौपदी रोती हुई कहने लगी—मैंने और कभी कोई पाप नहीं किया। लेकिन एक दिन मैं नहाने गई थी। संयोगवश कर्ण उधर आ गये। उन्हें देख कर मुझे विचार आया—अगर यह छठे पाण्डव होते तो इन्हें भी मैं अपना पति बना लेती।

इस प्रकार द्रौपदी ने बालक के समान सरल भाव से अपना पाप प्रकट कर दिया। तब कृष्ण ने कहा—अब घबराने की आवश्यकता नहीं है। सच्चे हृदय से आलोचना कर लेने पर फिर पाप नहीं रह जाता। जिस मन से पाप होता है, उस मन से वह पाप कट भी जाता है। इसलिए अब चिन्ता न करके फल को आज्ञा दो।

द्रौपदी ने अप्रतिम स्वर में कहा—अब क्या आज्ञा दूँ ? मेरा धर्म तो चला गया। कृष्ण बोले—धर्म सदा के लिए रूठ नहीं जाता है, वरन् गया धर्म वापस भी आ जाता है। इसलिए

तुम फल को आज्ञा दो। द्रौपदी ने फल को आज्ञा देते हुए कहा- इस पाप के सिवा मैंने अन्य कोई पाप न किया हो तो, हे फल! तू चढ और डाल में लग जा। द्रौपदी के यह कहने पर फल डाली में लग गया।

कृष्ण ने कहा—बस, मेरा प्रयोजन पूरा हुआ। मैं इसी पाप को निकालने आया था। अगर यह पाप रहता तो गजब हो जाता। द्रौपदी पतिव्रता कहलाती है। पतिव्रता म इतना भी पाप रहना ठीक नहीं है।

अभिमानी योद्धा

भली-भाँति विचार-विमर्श करने के पश्चात् श्रीकृष्ण, पाण्डवों की ओर से संधि कराने के लिए दुर्योधन के पास गये थे। मगर संधि नहीं हुई। दुर्योधन दुराग्रही था। उसने साफ-साफ कह दिया कि युद्ध के बिना मैं सुई की नोक बराबर भूमि भी नहीं दूँगा।

यह सुनकर कृष्ण सोचने लगे—अब युद्ध अनिवार्य हो गया है। यद्यपि इस युद्ध से अनेक हानियाँ होंगी और युद्ध न होने देने के लिए ही मैंने प्रयत्न भी किया, पर दुष्ट कौरव अन्याय करने पर तुले हुए हैं, अतएव युद्ध अब करना ही पड़ेगा।

जब पाण्डवों को यह बात मालूम हुई तो वे रण की तैयारी करने लगे। कृष्णावती नदी के किनारे पर पाण्डवों ने अपनी सेना एकत्र करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने सैनिक ढंग से अपना शिविर बनाया। बीचोबीच कृष्ण का तम्बू लगा हुआ था। उसके आस-पास पाँचों पाण्डवों के डेरे लगे थे और वहीं द्रौपदी का

भी डेरा लगा हुआ था। द्रोपदी कार्य करने में तो पुरुषों से आगे नहीं बढ़ती थी मगर अपने विचार प्रस्तुत करने में सब से आगे रहती थी। वह बहुत उग्र विचार की थी और उसकी वाणी में बहुत ओज भरा रहता था। इसी कारण उसका तम्बू वहाँ लगाया गया था। शिविर में सेनापति धृष्टद्युम्न, राजा द्रुपद, विराट आदि के डेरे भी ढंग से लगे हुए थे। पाण्डव सबकी यथोचित व्यवस्था करते थे। उन्होंने सब राजाओं के पास युद्ध का निमन्त्रण भेजा था और उसमें स्पष्ट लिख दिया था कि जिस की इच्छा हो—जो अन्याय के प्रतीकार में सहायक बनना चाहता हो, वह हमारी ओर से युद्ध में सम्मिलित हो जाय। कौरवों ने भी राजाओं को आमन्त्रण भेजा था। अतएव कई राजा पाण्डवों की ओर सम्मिलित हुए और कई कौरवों की ओर।

कुन्दनपुर के राजा भीम के पुत्र रुक्म ने आमन्त्रण पाकर सोचा—युद्ध का आमन्त्रण आया है, अतएव सम्मिलित होना तो आवश्यक ही है। इस अवसर पर घर में बैठा तो रह नहीं सकता। परन्तु प्रश्न यह है कि किस ओर जाना चाहिये?

रुक्म ने सोचा—युधिष्ठिर का पक्ष बलवान है और न्याय भी उसी ओर है। अतः युधिष्ठिर के पक्ष में ही युद्ध करना चाहिए। लेकिन बहिन के विवाह के समय कृष्ण ने मेरा जो अपमान किया था, वह अब तक मेरे हृदय में काँटे की तरह चुभ रहा है। इस युद्ध में उस अपमान का बदला लेना चाहिये। कठिनाई यह है कि कृष्ण स्वयं युद्ध नहीं करेंगे। ऐसी स्थिति में उन से बदला कैसे ले सकता हूँ? मगर उनके मित्र का अपमान करके मैं अपने अपमान की भरपाई कर लूँगा। इस प्रकार विचार

कर और अपनी विशाल सेना को साथ लेकर रुक्म रवाना हुआ। वह पाण्डवों के शिविर में आया। युधिष्ठिर ने उसका स्वागत किया।

रुक्म ने पूछा—आप सब आनन्द मे है न?

युधिष्ठिर—वैसे तो आनन्द ही आनन्द है परन्तु आपके आगमन से विशेष आनन्द हुआ।

रुक्म—अगर ऐसे समय पर भी मै न आता तो मेरी वीरता को कलंक लगता। दुर्योधन का अत्याचार और आपका सौजन्य जगत मे प्रसिद्ध हो चुका है। ऐसा होते हुए भी अगर मैं अपने घर मे बैठा रहता और आपका आमन्त्रण पाकर भी न आता तो मेरा क्षत्रियत्व कलंकित हो जाता।

युधिष्ठिर—आपके विचार उच्च हैं और आपका हमारे प्रति प्रेम है। इसी कारण आप आए हैं।

रुक्म—मै क्षात्र-धर्म का पालन करने आया हूँ। न्याय की रक्षा करना ही क्षत्रियो का धर्म है। 'क्षतात्-नाशात् त्रायते-इति क्षत्रियः।' जो धर्म की रक्षा करता है वही वास्तव मे क्षत्रिय है। ऐसे प्रसंग पर मै न आता तो मेरी माता को भी कलंक लगता।

युधिष्ठिर—आपका कहना यथार्थ है। आपको ऐसा ही विचार रखना चाहिए।

युधिष्ठिर ने सहदेव को बुलाकर कहा—देखो, यह रुक्म आये हैं। तुम इनका सत्कार करो और इनके साथ जो सेना है उसका भी उचित सत्कार करो।

यह सुनकर रुक्म ने कहा—मैं आया तो हूँ पर स्वागत सत्कार करने से पहले एक बात का स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए।

युधिष्ठिर—अगर कोई बात स्पष्टीकरण करने योग्य हो तो अवश्य ही उसका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए।

रुक्म—मेरे हाथ मे यह जो धनुष है, इसका नाम विजय है। ससार मे तीन ही धनुष प्रसिद्ध हैं—सारग, गाडीव और विजय। सारग कृष्ण के पास है, गाडीव अर्जुन के पास है और यह विजय मेरे पास है। इन तीन में से सारग तो आपके काम नहीं आ सकता, क्योंकि कृष्ण ने निरस्त्र रहने का निर्णय किया है। इस प्रकार अकेला गाडीव आपके पक्ष में रह गया है। मगर गाडीव, इस विजय की समानता नहीं कर सकता। यह विजय धनुष अकेला ही सम्पूर्ण कौरव सेना पर विजय प्राप्त कर सकता है। कौरवो पर विजय पाने के लिए आपमें से किसी को भी कष्ट नहीं उठाना पडेगा। इस विजय की सहायता से मैं अकेला ही आपको विजयी बना सकता हूँ। परन्तु एक बात का खुलासा हो जाना चाहिए। इसके लिए आप अर्जुन को बुलवाइये।

रुक्म के कहने से युधिष्ठिर ने अर्जुन को बुलवाया। रुक्म ने अर्जुन से कहा—यदि आप मेरे कथनानुसार एक कार्य करें तो मैं अपना समस्त बल आपको दे सकता हूँ।

अर्जुन—पहिले कार्य बतलाइए तो समझ कर उत्तर दूँगा। बिना कार्य को समझे, करने की हाँ नहीं भर सकता। कार्य सुनने के बाद ही किसी प्रकार की प्रतिज्ञा की जा सकती है।

रुक्म—कार्य यही है कि तुम मेरे पैर पर हाथ रखकर यह कह दो कि—"मैं भयभीत हूँ और तुम्हारी शरण मे आया हूँ। मेरी रक्षा करो।" बस, इतना करने से मेरा समस्त बल तुम्हारे पक्ष में हो जायगा।

भीम उस समय वहाँ मौजूद थे। रुक्म की बात सुनकर भीम के नेत्र लाल हो गये। मगर युधिष्ठिर ने उसे रोककर रुक्म से कहा—आप अभी आये है थोड़ी देर विश्राम कीजिये। इस सम्बन्ध में फिर विचार करेंगे।

रुक्म—ऐसा नहीं होगा। इसका निर्णय तो अभी हो जाना चाहिए। बोलो अर्जुन, तुम क्या कहते हो ?

अर्जुन—मुझे आश्चर्य है कि इस प्रकार का विचार आपके हृदय मे कैसे उत्पन्न हुआ ! मैंने कृष्ण के चरणों को हाथ लगाया है और मेरी यह प्रतिज्ञा है कि कृष्ण के सिवाय किसी दूसरे के चरण को हाथ नही लगाऊँगा। इसके अतिरिक्त आप मुझसे कहलाना चाहते हैं कि मै भयभीत हूँ। मगर मैं भयभीत कब हुआ हूँ ? जिस अर्जुन ने समस्त कौरव-सेना को परास्त करके भी विजय का श्रेय उत्तर को दिया, वह अर्जुन भयभीत होकर आपकी शरण मे आवे, यह संभव नही है। इसके अतिरिक्त आपके लिए भी यह शोभनीय नही है कि आप स्वयं किसी को शरण मे बुलावें। मैंने सिर्फ कृष्ण की शरण ली है। दूसरे किसी की शरण न ली है और न ले ही सकता हूँ। आप आये हैं तो मित्र की भाँति आनन्दपूर्वक रहिये, किन्तु यह आशा न रखिये कि अर्जुन आपकी शरण मे आएगा। फिर भी अगर

आप यह आशा नहीं त्याग सकते तो जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा कीजिये।

अर्जुन का स्पष्ट उत्तर सुनकर रुक्म क्रुद्ध हो गया। वह कहने लगा—मैं इतनी विशाल सेना लेकर तुम्हारी सहायता के लिए आया हूँ तुम इतने से शब्द भी नहीं कह सकते ! अगर तुम इतना कह दो तो एक घड़ी के छठवें भाग में ही मैं तुम्हें विजयी बना सकता हूँ और युधिष्ठिर के मस्तक पर राज मुकुट रखवा सकता हूँ।

ऐसे प्रसग पर आप से सलाह ली जाती तो आप अर्जुन को क्या सलाह देते ? शायद आप यही सलाह देते कि ऐसे नाजुक मौके पर रुक्म के आगे नम्र हो जाना और रुक्म के अभीष्ट शब्द कह देना ही उचित है। रुक्म को किसी भी प्रकार से अपने पक्ष में रखना चाहिए। मगर अर्जुन वीर था। रुक्म ने उससे यह भी कह दिया था कि मेरा कहना न मानोगे तो अपनी मृत्यु समीप ही समझ लेना। मैं अभी तुम्हारे शत्रु के पक्ष में मिल जाऊँगा। रुक्म की इस प्रकार की धमकी सुनकर भी अर्जुन ने परवाह नहीं की। अर्जुन ने यही कहा—अगर आपकी इच्छा विरुद्ध पक्ष म जाने की है तो प्रसन्नता के साथ जा सकते हैं। मैं आपकी इच्छा के विरुद्ध आपको रोकना नहीं चाहता। लेकिन आपके सामने इस प्रकार की दीनता नहीं दिखला सकता। आप कौरव पक्ष में सम्मिलित होने की सोचते हैं मगर दुर्योधन आपसे अधिक बुद्धिमान् है। वह आपके चाहे हुए शब्द कदापि नहीं कह सकता।

रुक्म—दुर्योधन को भी मेरे कहे हुए शब्द कहने पड़ेंगे। यह नहीं कहेगा तो मैं उसके पक्ष में भी सम्मिलित नहीं होऊँगा।

अर्जुन—यह तो आपकी इच्छा पर निर्भर है। मगर इस प्रकार के शब्द कहने वाला कोई नहीं है।

रुक्म पाण्डवों की छावनी से अपनी विशाल सेना के साथ चला गया और देखते-देखते कौरवों के शिविर में जा पहुँचा। अर्जुन सोच रहा था—ऐसा अभिमानी व्यक्ति कदापि विजय नहीं दिला सकता। विजय धनुष ने उसे जीत लिया है। फिर भी उसका अहंकार संसार मे ही नही समाता! हमारे पक्ष मे भले ही थोड़े योद्धा हो, अगर वे उच्च श्रेणी के होंगे तो हमारी ही विजय होगी। इस प्रकार के लोगो की भर्ती करना वृथा है। धर्म के साथ व्यवहार करने वाले थोड़े व्यक्ति भी पर्याप्त हैं। धर्म को हार जाने वाले बहुत व्यक्ति भी व्यर्थ हैं, यही नहीं बल्कि हानिकारक भी है।

प्रायश्चित्त

महाभारत युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् महाराजा युधिष्ठिर भीष्म के पास गये। भीष्म ने उनसे कहा—'महाराज युधिष्ठिर! आइए।'

युधिष्ठिर शर्मिन्दा होकर बोले—आप मुझे महाराज न कहिए, पौत्र ही कहिए।

भीष्म—जिस पद को प्राप्त करने के लिए अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हुआ है, जिस पद के लिए अनगिनती स्त्रियाँ विधवा हुई हैं और अनेक बालक अनाथ हो गये हैं तथा जिस पद के लिए कुल का संहार हुआ है, वह पद प्राप्त करने के पश्चात् आपको 'महाराज' क्या न कहा जाय?

युधिष्ठिर—पितामह, मैं इस पाप के दबाव से ही आपके पास आया हूँ। मुझे जो राजमुकुट प्राप्त हुआ है, उसमें शूल ही शूल जान पड़ते हैं। वह मुझे ऐसा चुभता है जैसे शूलों का बना

हुआ हो। मैंने महल की अटारी पर चढ़कर देखा तो राजमुकुट और भी अधिक सुइयों से भरा हुआ जान पड़ा। जो मेदिनी वीरों से भरी थी, आज वह सुनसान दीख पड़ती है। यह देखकर सिर का मुकुट हृदय में शूल-सा चुभने लगा। मैं यही सोच रहा हूँ कि इस मुकुट के पाने के लिए कितना पाप हुआ है और कितना पाप करना पड़ा है ?

युधिष्ठिर के कथन पर से आप अपने सम्बन्ध में विचार कीजिए। आपके सिर पर जो पगड़ी है, उसके लिए किस-किस तरह के पाप होते हैं ? अपने शरीर का रक्त-मांस बढ़ाने के लिए दूसरों को किस प्रकार के दुःख दिये जाते हैं ?

युधिष्ठिर का कथन सुनकर भीष्म पितामह ने सोचा—युधिष्ठिर घबरा गया है। इस समय इसे धैर्य देने की आवश्यकता है। इसका चित्त इतना कोमल और धर्मभावना का विचार होने पर यह राजमहल त्याग देगा। इस प्रकार विचार कर पितामह ने कहा—अगर तुम महाराज युधिष्ठिर कहे जाने में संकोच करते हो तो अब से मैं बेटा युधिष्ठिर कहूँगा।

भीष्म पितामह के मुँह से अपने लिए बेटा शब्द सुनकर युधिष्ठिर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वह बालक की तरह नम्र होकर पितामह के समीप जा बैठे। इसके अनन्तर उनका हाथ अपने सिर पर रखकर कहने लगे—पितामह, राजमुकुट मुझे तो शूल की तरह चुभ रहा है, कृपा कर मुझे ऐसा उपदेश दीजिए, जिससे मैं शान्तिलाभ कर सकूँ।

भीष्म धर्मशास्त्र के ज्ञाता थे। जैनशास्त्र भी यही कहते हैं। और महाभार[illegible]। वे पूर्ण ब्रह्मचारी के रूप में प्रसिद्ध हैं।

जैनशास्त्र के अनुसार भी उन्होंने अविवाहित जीवन ही बिताया था। अतएव वे सारे जगत् के पितामह बनने के योग्य ही थे।

भीष्म कहने लगे—बेटा युधिष्ठिर ! तुम किसी प्रकार का खेद मत करो। अलबत्ता यह सोचो कि विजय के लिए तुम्हें जो सहायता मिली, वह किस प्रकार मिली है ? दुर्योधन के पाप से ही तुम्हें वह सहायता मिली थी। दुर्योधन का पाप फूट निकला था और इस कारण लोग समझने लगे थे कि दुर्योधन बड़ा पापी है जो धर्मनिष्ठ पाण्डवों को इस प्रकार कष्ट दे रहा है। यह सोच कर लोग स्वयं ही अपना सिर कटाने के लिए तैयार होकर तुम्हारी सहायता के लिए आये थे। इस प्रकार दुर्योधन के पाप से ही तुम्हें सहायता मिली थी। इसी से तुम विजयी हुए हो। दुर्योधन का पाप तुम्हारी विजय और उसके विनाश का कारण बना है। ऐसी दशा में तुम्हें किसी प्रकार का खेद नहीं करना चाहिए।

युधिष्ठिर ने कहा—पितामह, यह तो ठीक है। लेकिन युद्ध के कारण जो वैर बँध गया है वह तो मेरे सिर पर ही रहा न।

भीष्म पितामह—ठीक है, पर इस वैर को तुम अपनी विशिष्ट वृत्ति के द्वारा शान्त कर डालो। ऐसा करोगे तभी तो तुम राजा हो।

युधिष्ठिर—पितामह, इसीलिए मैं आपके पास आया हूँ। इस सम्बन्ध में आप मुझे उचित उपदेश दीजिए।

भीष्म—संसार में ऐसी कोई आग नहीं है जो सुलगे और बुझे नहीं। इसी प्रकार जब वैर बंधता है तो मिट भी

सकता है। लेकिन दूसरे के वैर को शान्त करने के लिए पहले अपने हृदय को शान्त करना चाहिए। उदाहरणार्थ— किसी राजा ने तुम्हारी सेना को या तुम्हारे किसी सम्बन्धी को मारा होगा परन्तु उसकी स्त्री या उसके बालकों ने तो तुम्हारा कुछ नही बिगाड़ा है! अतएव जहाँ तक संभव हो, उनकी ऐसी सहायता करना जिससे वे समझने लगे कि युधिष्ठिर हमे सुखी बनाने के लिए ही युद्ध मे प्रवृत्त हुआ था। जब तुम उनके हृदय मे ऐसी भावना उत्पन्न कर दोगे तो वैर का शमन आप ही हो जायगा। बँधा हुआ वैर रोने से नही मिट सकता। अगर रोना था तो युद्ध करने से पहले ही रोना था। जब युद्ध आरम्भ होकर समाप्त भी हो गया और अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हो चुका तब रोने से क्या लाभ है? अब रोना त्यागो और सब को शान्ति पहुँचाओ।

तुम कहते हो, जिस भूमि पर वीर ही वीर दिखाई देते थे, आज वह सुनसान दिखाई देती है। लेकिन इस विचार से दुःखी होने की क्या आवश्यकता है? बीज शून्य भूमि मे ही बोया जाता है, उस भूमि मे नही बोया जाता जहाँ कॉटे और झाड़-झंखाड़ खड़े हों। जब कॉटे साफ हो गये और बीज बोने का समय आया है तब तुम रोने बैठे हो? रोना छोड़ कर इस शून्य भूमि मे ऐसा बीज बोओ कि लोग दुर्योधन को भूल जाएँ। विचार करो, लोग दुर्योधन को बुरा क्यो कहते थे? इसी कारण कि वह स्वार्थी था और उसको सज्जनता एवं नम्रता को सत्ता खा गई थी। अगर तुमने भी अपनी सज्जनता को सत्ता का ग्रास बन जाने दिया तो तुम मे और दुर्योधन मे क्या अन्तर रहा? बल्कि तुम जिस धर्म का प्रदर्शन करते हो वह ढोंग मात्र

धीरज

महाभारत के अनुसार जब पाण्डवों को वनवास दिया गया था और द्रौपदी को नग्न करने का प्रयास किया गया था, उस समय कृष्ण द्वारिका मे नहीं थे। वे कहीं बाहर गये हुए थे। कृष्ण जब लौटकर द्वारिका पहुँचे तो वहाँ के वृद्धजन रोकर कहने लगे—पाण्डवों पर बड़ी कड़ी मुसीबत आ पड़ी है और वे वनवास भोग रहे हैं। सरल-हृदय पाण्डव ऐसी विपदा में हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता। वे वीर हैं और सज्जन है। लेकिन दुष्ट कौरवो ने उन पर भीषण अत्याचार किया है। यहाँ तक कि द्रौपदी को भरी सभा मे नग्न करने का भी उन्होने प्रयत्न किया! भले ही उनका प्रयत्न सफल नही हुआ फिर भी इससे उनकी दुर्भावना कम नही हो सकती। पाण्डवों को वनवास स्वीकार करना पड़ा है।

कृष्ण ने पाण्डवो के वन जाने का समाचार सुनकर पूछा—पाण्डवों का ऐसा क्या अपराध था, जिसके कारण उन्हे वन

जाना पड़ा और द्रौपदी की दुर्गति हुई ? वृद्ध जनों ने उत्तर दिया—अन्याय के सामने अपराध होने या न होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? जिसे अन्याय करना है, अपना स्वार्थ साधना है, वह यह कब देखता है कि हमने अन्याय किया है या नहीं किया है ?

कृष्ण ने पूछा—इस समय वे कहाँ हैं ?

वृद्धजन—वन मे वनवासी लोगों की तरह भटकते फिरते हैं।

यह कथन सुनकर कृष्णजी कुछ मुसकराये। वृद्धजनों की समझ में नहीं आया कि कृष्णजी दुखी होने के बदले मुसकराते क्यों हैं ? उन्होने कहा—क्या कारण है कि आप पाण्डवों की दुर्दशा की कथा सुनकर मुसकरा रहे हैं ?

कृष्ण—मेरी मुस्कराहट का कारण आप लोग नहीं जानते। मगर समय आने पर आप जान जाएँगे। इस समय मैं पाण्डवों से मिलना चाहता हूँ। सुख के समय चाहे न भी मिलता लेकिन दुख के समय मिलना ही चाहिए।

कृष्ण रथ पर सवार होकर पाडव वन गये। वहाँ द्रौपदी सहित पाण्डव पर्णकुटी बनाकर रहते थे। कृष्ण पहुँचे। पाण्डवों के पास उस समय स्वागत के योग्य कोई विशिष्ट सामग्री नहीं थी, तथापि स्नेह और श्रद्धा से परिपूर्ण हृदय उनके पास था और उदार आशय वाले पुरुषों के लिए यही पर्याप्त होता है। विवेकशील पुरुष द्रव्य की अपेक्षा भाव को ही प्रधानता देते हैं। कृष्णजी प्रेम के साथ बिछाई गई चटाई पर आसीन हुए।

कृष्णजी के बैठ जाने पर आसपास पाण्डव भी बैठ गये और तनिक दूर द्रौपदी भी बैठी।

कृष्णजी बड़े कुशल थे। उन्होने पाण्डवो और द्रौपदी के चेहरो पर एक उड़ती निगाह डाली और समझ गये कि द्रौपदी की दृष्टि मे उग्रता है। यह देख कर उन्होने सर्व प्रथम द्रौपदी से ही प्रश्न किया—'कृष्णा ! आनन्द मे तो हो ?'

द्रौपदी राजकुमारी थी। बाल्यकाल से ही वह सुखो मे रही और उसने कभी नही जाना था कि दुःख किस चिड़िया का नाम है ! वह राजसी भोग भोगती थी और राजसी भोजन मे भी रुचि नही रखती थी। मगर दुर्योधन के प्रपंच मे पड़कर इन दिनो वह बहुत परेशान हो उठी थी। आज वह नगर छोड़कर जगल मे और महल छोडकर झोपड़ी मे रहती है। षट्रस व्यञ्जन के बदले उसे जंगल के फल-फूलो पर निर्वाह करना पड़ता है। आज उसे किसी भी प्रकार की सुख-सुविधा नही है। उसे लगता है, मानो उसके जीते जी ही जीवन बदल गया है ! यह सब जानते हुए भी कृष्णजी उससे पूछ रहे हैं—'कृष्णा ! आनन्द मे तो हो ?' आखिर इस प्रश्न का रहस्य क्या है ? इस रहस्य का पता उन्हीं से लग सकता है।

प्रश्न के उत्तर मे द्रौपदी कहने लगी—कृष्णजी ! आपने मुझे अपनी बहिन बनाया है। लेकिन आपकी इस बहिन को आज कल क्या दशा हो रही है, यह तो आप प्रत्यक्ष देख रहे है। आपकी बहिन की जैसी दुर्दशा हुई है वैसी शायद किसी की न हुई होगी। दुष्ट कौरवो ने मेरी ऐसी दशा की है कि कहा नही जा सकता। भरी सभा मे उन्होंने मेरी लाज छीन लेनी

चाही। वे मुझे नग्न करना चाहते थे, मगर न जाने किस अदृश्य शक्ति ने मेरी रक्षा की। मैं सर्वथा निर्दोष थी और हूँ। फिर भी पापी दुश्शासन मुझे महल में से सभा में खींच लाया। उसने मेरे सिर के केश पकड़ कर खींचे हैं और इस प्रकार मेरे केशों को मलीन कर दिया है। राजसभा में साधारण कुल की स्त्री भी नहीं बुलाई जाती और केश तो किसी के खींचे ही नहीं जाते। मगर आपकी बहिन के साथ यह सब दुर्व्यवहार किया गया। मैंने सभा में प्रश्न किया था—आप सभा में उपस्थित गुरुजन मेरे लिए पूज्य हैं। इसलिए मैं आपसे पूछती हूँ कि धर्मराज पहले अपने आपको हारे हैं या पहले मुझे हारे हैं? अगर वे पहले मुझे हार गये हों तब तो कुछ कहने की गुञ्जाइश ही नहीं रहती। अगर ऐसा नहीं है तो मेरे साथ यह अन्याय क्यों किया जाता है? सभा में उपस्थित लोगों को भली भाँति मालूम था कि धर्मराज पहले अपने को हार चुके थे, फिर भी किसी ने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। सब के सब मौन होकर बैठे रहे, मानों सब की जीभ पर ताला लगा हो। किसी ने मुँह खोलने का साहस नहीं किया। अलबत्ता एक वीर युवक उस समय अवश्य बोला था, मगर उसे कौरवों ने सभा से बाहर निकाल दिया।

मेरे प्रश्न को सुन कर दुर्योधन कुछ देर के लिए हतप्रभ हो गया था। वह न्याययुक्त तरीके से उसका प्रतीकार करने में असमर्थ था। अतएव वह और क्रुद्ध होगया और दुश्शासन से कहने लगा—'इस कानून बघारने वाली का मुख बन्द कर दे।' अब आप बतलाइए, किसी का इस प्रकार बलात् मुख बन्द कर देना क्या उचित कहा जा सकता है? दुश्शासन मेरा वस्त्र

खींचने लगा। मैने वहाँ उपस्थित सब लोगो से उस भयंकर अन्याय को रोकने की प्रार्थना की। मगर किसी के कान पर जूं न रेंगी। सभी कानों मे तेल डाले, प्रतिमा की तरह चुपचाप बैठे रहे।

अन्याय, अत्याचार और उपेक्षा का यह दृश्य देखकर मुझे बडी निराशा हुई। तब मैंने विचार किया—दूसरे लोग चुप है तो रहे, यह पाँचो भाई क्या कम है? अगर इन्हे तो आवेश आवेगा ही। यह सोचकर मैने अत्यन्त करुण शब्दो मे इन सब से कहा—यह मेरी नही, तुम्हारी लाज जा रही है। इस कारण मेरी रक्षा करो। मेरी करुण पुकार सुनकर भीम और अर्जुन उठे भी, मगर धर्मराज ने बांह पकड़ कर दोनो को फिर बैठा दिया। तब मैंने सोचा—'वास्तव मे कोई किसी का नही है।'

हे कृष्ण! मै सोचती हूँ, आप वहाँ होते तो मेरी रक्षा अवश्य करते। परन्तु दुर्दैव से आप वहाँ मौजूद नही थे। अतएव मैने परमात्मा का स्मरण करके कहा—'प्रभो! मैं तेरी शरण हूँ।' इस प्रकार मन ही मन प्रार्थना करके मैने अपना मन परमात्मा मे लगा दिया। उस समय शरीर पर से भी मैने ममता हटा ली। मै अपनी शक्ति भर प्रयत्न कर चुकी थी। पितामह जैसे आदर्श पुरुष भी वहाँ मौजूद थे और पतिदेव भी चुपचाप वैठे थे। तब अकेली मै क्या कर सकती थी? इस प्रकार सोचकर मैने शरीर का ममत्व त्याग दिया। शरीर पर से ममत्व त्याग देने के पश्चात् क्या हुआ, यह मुझे मालूम नही लेकिन मैने सुना है कि उस समय मेरे शरीर के वस्त्र इतने बढ़ गये थे कि दुश्शासन खींचते-खीचते थक गया था, वह मुझे नग्न नही कर

सका। साथ ही सभा में बहुत क्रान्ति हुई। उस समय मैंने अन्धराज को यह कहते सुना—'हे कुलवधू! क्षमा करो।' यह आवाज सुनकर मैं अपने आपे में आई। उस समय मैंने देखा कि सभा मे केवल धृतराष्ट्र ही हैं, और कोई नहीं है। वे कह रहे हैं—हे कुलवधू! मेरे पापी पुत्रों को क्षमा करो। मै तुमसे क्षमा माँगता हूँ। मैंने उनसे कहा—आप मेरे पूज्य हैं। मैं ही आपसे क्षमा माँगती हूँ।

इतना कहकर द्रौपदी ने एक लम्बी साँस ली। फिर उसने कहा—हे भाई! मेरे लिए वह समय कितने कष्ट का था! मुझे कितना कष्ट सहन करना पड़ा है, किस प्रकार घोर अपमान सहना पड़ा है! क्या यह आपके लिए भी लज्जा की बात नहीं है?

द्रौपदी की यह बात सुनकर कृष्ण हँस पड़े। द्रौपदी के विषाद का पार न रहा। वह समझती थी कि मेरी कष्ट कथा सुनकर कृष्णजी सहानुभूति प्रकट करेंगे और दुःख के आँसू बहाएँगे। मगर कृष्णजी की हँसी ने उसकी धारणा को नष्ट कर दिया। वह तिलमिला उठी। बोली—मेरे दारुण दुःख की कहानी क्या अपने मनोरंजन के लिए ही सुनी है?

कृष्ण ने कहा—बहिन! तुझे नहीं मालूम कि मैं क्यों हँसा हूँ। तुझे यह भी पता नहीं कि इतने कष्ट आने का कारण क्या है!

द्रौपदी—क्या इसमें भी कोई रहस्य है?

कृष्ण—हाँ।

इसके बाद कृष्ण बोले—किसी साधारण स्त्री को कष्ट हो और वह रोवे तो उसका रोना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

मगर तुम्हारा रोना उचित नहीं है। तुम्हे विचार करना चाहिए कि तुम्हारे कष्टों का कारण क्या है? तुम जैसी महिला को भी कष्ट न हो और तुम्हारी सरीखी महिला अगर उन कष्टो को सहन न कर ले तो जगत् का उद्धार कैसे हो सकता है? लोग अकसर दुःख आ पड़ने पर घबड़ा जाते हैं मगर यह नहीं सोचते कि इनके पीछे क्या रहस्य छिपा हुआ है! दुःखो के पीछे रहे हुए रहस्य का विचार करके मनुष्य को धैर्य रखना चाहिए। तुम दुःखो से घबरा रही हो, मगर दुःख ही तो सुख का बीज है। तुम्हारे इन दुःखो मे ही जगत का कल्याण छिपा है। तुम अपना दुःख देखती हो किन्तु उसके भीतर छिपा कल्याण नहीं देखती। दुर्योधन पर मुझे किसी प्रकार कोप नहीं है। मै सिर्फ यह कहता हूँ कि वह मदोन्मत्त है। उसके पापो का घड़ा तुम्हारे साथ घोर अन्याय करने से भर गया है। वह तलवार के बल पर सबके ऊपर शासन करना चाहता है। अगर दुर्योधन सब के हृदय मे बैठना चाहता तो कोई झंझट न होता। इस स्थिति में उसका व्यवहार इससे उलटा ही होता। मगर वह हृदय मे नही बैठना चाहता—सिर पर सवार होना चाहता है। उसके द्वारा तुम्हे कष्ट क्यो सहन करने पड़े और धर्मराज ने तुम्हे इन कष्टो से क्यो नहीं बचाया, यह तुम नहीं जानती। इसी कारण तुम दुःख मना रही हो। उस समय मै वहाँ नही था। कदाचित् होता भी तो चुपचाप धर्मराज के पास बैठा रहता और तुम्हे कष्ट से बचाने का प्रयत्न न करता।

द्रौपदी—आह! क्या आप भी मेरा घोर अपमान बैठे-बैठे देखते रहते?

कृष्ण—बहिन ! जिसे तुम अपमान कहती हो, उसे अगर मैं भी अपमान समझता तो हर्गिज चुपचाप सहन न करता। तुम जानती नहीं हो, इसी कारण उन घटनाओं को अपना अपमान समझती हो और दु ख मानती हो। जब रहस्य को जान जाओगी तो वे घटनाएँ न अपमान जान पड़ेगी और न उनके कारण दु ख ही मनाओगी।

जब श्रीकृष्ण, द्रौपदी से इस प्रकार कह रहे थे, तब भीम ने बीच में टोक कर उनसे कहा—आपका कथन यथार्थ है पर उन अन्धे के कपूतों को उस समय जरा भी औचित्य का ध्यान नहीं रहा ! क्या यह विचारणीय बात नहीं है ? उस घटना के लिए हम लोगों को लज्जित नहीं होना चाहिए ?

भीम की क्रोध से भरी बात सुनकर श्रीकृष्ण उनकी ओर मुड़े और कहने लगे—भीम, द्रौपदी की अपेक्षा तुम्हें समझाना कठिन है। तुम्हें अपने बल का अभिमान है और जिसे अभिमान होता है उसे समझाना कठिन होता है। तुम जो कह रहे हो सो अपने स्वभाव के अनुसार कह रहे हो। पर यह तो सोचो कि दुर्योधन ने सब के सामने द्रौपदी को क्यों नग्न करना चाहा था ! इसका कारण यही था कि उसके पापों का घड़ा भर चुका था और अब उसका भंडाफोड़ होना लाजिमी था। उसका पाप इतना बढ़ गया था कि वह प्रकट हुए बिना रह ही नहीं सकता था। उसने पहले जो कुछ किया था वह छिपकर और प्रकट में हितैषी बनकर किया था। लेकिन इस कृत्य ने उसके पापों को प्रकट कर दिया है। अब सभी जान गये हैं कि दुर्योधन कितना अन्यायी और पापी है। द्रौपदी को नग्न करने की घटना को सुन

कर कौरवो के शत्रुओ को तो घृणा हुई है, साथ में उनके मित्रो को भी कम घृणा नहीं हुई है। दुर्योधन के हितैषी भी उसके इस अपराध के कारण उस पर रुष्ट हो गये हैं। इस प्रकार उसका पाप चरम सीमा पर पहुँच गया है और उसकी स्थिति बहुत कमजोर हो गई है। इस घटना ने तुम्हारा महत्त्व बढ़ाया है और कौरवो का पाप बढ़ाया है। लाखो उपाय करने पर भी जगत् से जो सत्कार तुम्हे नहीं मिल सकता था, वह सत्कार इस घटना से मिल गया है। भले दुर्योधन तुम लोगों की निन्दा और अपनी प्रशंसा करता फिरे, मगर अब उसका प्रयत्न निष्फल ही होगा। इस घटना के कारण वह तुम्हारी निन्दा फैलाने मे असमर्थ हो गया है। इस प्रकार जो कुछ हुआ है उसके लिए शोक और परिताप मत करो। तुम्हारे हक में अच्छा ही हुआ है। तुम्हे प्रसन्न रहना चाहिए।

तुम यह सोचकर लज्जित होते हो कि हम लोग द्रौपदी का अपमान चुपचाप देखते रहे और कुछ बोले नहीं। पर तुम्हारा यह सोचना उचित नहीं है। तुम्हारी क्षमा ने ही इस घटना का मूल्य बढाया है। मै मानता हूँ कि तुम वीर हो और तुम्हारी भुजाओं मे असीम बल है, फिर भी उस समय होने वाले अपमान को तुम रोक नहीं सकते थे। कदाचित् रोक देते तो भी आज तुम्हारी स्थिति जितनी मजबूत है उतनी न होती। द्रौपदी की लाज तो रह ही गई, मगर तुम्हारी शान्ति ने घटना के स्वरूप को एक दम बदल दिया है। जिन घटनाओ के कारण तुम दुख मना रहे हो, उनके पीछे क्या रहस्य है, यह तुम्हे नहीं मालूम। अदृष्ट पर्दे की ओट मे क्या खेल खेल रहा है, दैव का क्या विधान है और किस योजना से उसकी पूर्ति होती

है, यह समझना सर्वसाधारण के लिए सरल नहीं है। इस घटना के रहस्य को मैं जानता हूँ या युधिष्ठिर जानते हैं।'

अन्त में द्रौपदी ने कहा—कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है कि दुर्योधन महल में मौज करता है और हम लोग यहाँ वन में कष्ट भोग रहे हैं।

तब श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—तुम फिर भूल कर रही हो। दुर्योधन राजमहल की रगड़ से क्षीण हो रहा है और पाण्डव वन में विकसित हो रहे हैं और बलवान् बन रहे हैं। इस बात को तुम क्यों भूल रही हो? यों मैं तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ। तुम सब को वन में से द्वारिका ले जा सकता हूँ। द्वारिका के राजमहलों में तुम्हारे योग्य पर्याप्त स्थान है। लेकिन ऐसा करना मैं उचित नहीं समझता। पाण्डवों के इस वनवास को मैं कष्ट नहीं समझता वरन् तप समझता हूँ। अतएव उचित यही है कि तुम सब वन में रह कर धैर्य पूर्वक तप करो। इसका परिणाम निश्चित रूप से अच्छा ही होगा।